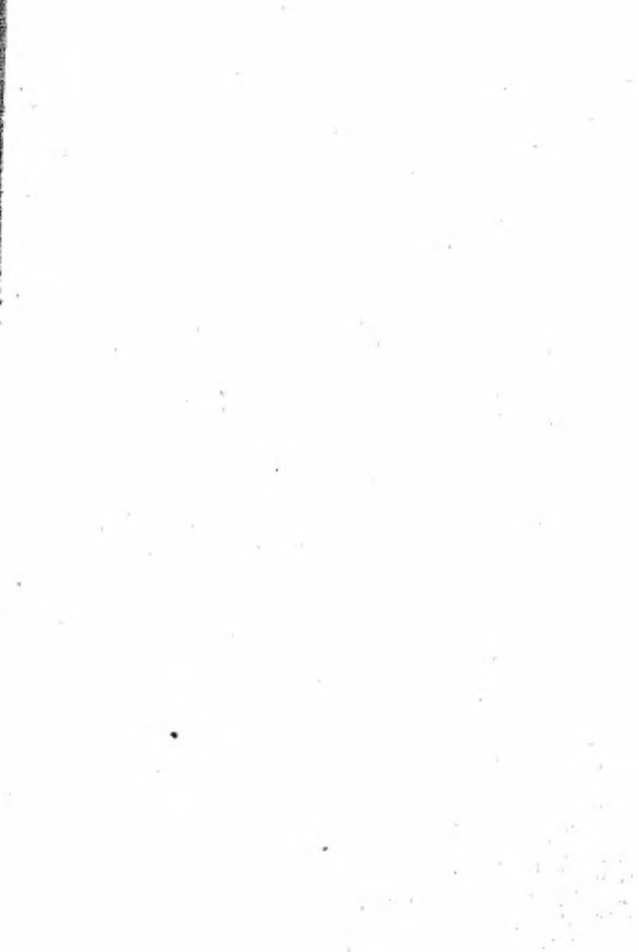


GOVERNMENT OF INDIA
DEPARTMENT OF ARCHAEOLOGY
CENTRAL ARCHAEOLOGICAL
LIBRARY

Access. 9941

CALL No. 915.4 Upa

D.G.A 79.



Maine det 15

Upadhyaya

Bhagwat Chandra

मैंने देखा

भगवत शरण उपाध्याय

9941

~~15533~~



915.4
.upa

किताब महल
इलाहाबाद बम्बई

प्रथम संस्करण, १९५१

CENTRAL LIBRARY NEW DELHI
Acc. No. 9941
Date 29.10.1958
Call No. 915.4/44a

समर्पण

रक्त और धातुओं को जो इन नगरों
ने बहाये—

CENTRAL LIBRARY
Acc. No. 565
Date 18-12-1951
Call No. 934/44a

प्रकाशक—किताब महल, इलाहाबाद ।

मुद्रक—ए० डबल्यू० आर० प्रेस, इलाहाबाद ।

भूमिका

‘मैंने देखा—’ भारत के १४ नगरों की आप बीती है। देश प्राचीन है, इसके नगर प्राचीन हैं, उनकी सभ्यता प्राचीन है। सदियों की दीर्घ में इन नगरी पर क्या बीती है, इन्होंने क्या भेला और देखा है वह सब ये स्वयं इमानदारी के साथ कहते हैं। इतिहास, जैसा का तैसा, ये सदियों-सहस्राब्दियों के पार हमारे सामने खोल कर रख देते हैं।

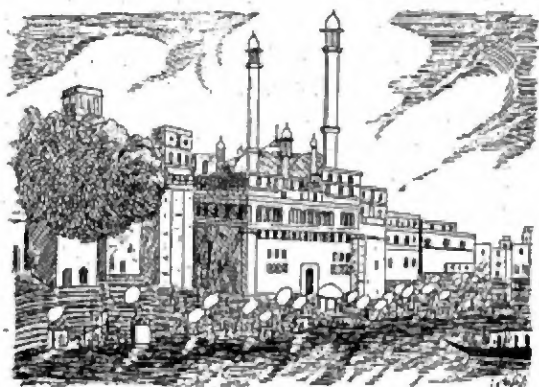
पुस्तक की पाण्डुलिपि लेखक के मित्र श्री जयदत्त पन्त ने प्रस्तुत की इससे वह उनका ऋणी है। ग्रन्थ का रचना-काल ७-१-५० से २७-१-५० तक।

६, हेस्टिंग्स रोड, }
इलाहाबाद }

लेखक

सूची

विषय	पृष्ठ
१. काशी	१
२. अयोध्या	४२
३. प्रयाग	५७
४. तदशिला	८०
५. मथुरा	१११
६. राजगृह	१२६
७. उज्जयिनी	१४३
८. कौशाम्बी	१६२
९. वैशाली	१८६
१०. पाटलिपुत्र	२०५
११. कन्नौज	२४६
१२. कांची	२६७
१३. आगरा	२८३
१४. दिल्ली	३०१



काशी

मैं काशी हूँ। आर्यों की सात प्राचीन नगरियों में मैं गिनी जाती हूँ। पर त्रिशूली के शूल पर मेरे जो बसने की बात कही जाती है, वह मुझे अधिक मान्य है। इसका कारण यह है कि उन सात नगरियों के साथ मेरी गणना, उनकी और मेरी प्राचीनता प्रायः समकालीन बना देती है। पर यह केवल अर्थसत्य है। वास्तविक बात तो यह है कि मैं अत्यन्त प्राचीना हूँ। आर्यों की कोई नगरी मेरी इतनी प्राचीन नहीं। अगर प्राचीनता में मेरी समता कोई कर सकता है तो महोनजोदेड़ो, बाबुल, ऊर।

मैं मैदान में बसी हूँ, पापनाशिनी गंगा के तट पर। आज से नहीं अति प्राचीन काल से मेरी महिमा गंगा के साथ ही अति पवित्र और स्तुत्य मानी गई है। गंगा निलम्बेह मुझसे अत्यन्त प्राचीना है। परन्तु पतितपावनी जितनी वह है, उतनी ही मैं भी हूँ। और इस मैदान में बसकर जो मैंने अपने केश पकाए हैं, तो वह कुछ हिम के सम्पर्क से नहीं बर और अनुभूति से।

मैं इस देश की धरा पर आयों के आने से बहुत पहले से खड़ी हूँ। धर्म पुस्तकों में जितनी ही मेरी महिमा गाई गई है, उतनी ही मेरी नाकदरी भी हुई है। इतिहास की बीती सदियों में मैंने जो सुख-दुःख भोगे हैं उनका वर्णन करना मेरे लिए कुछ आसान नहीं। परन्तु मुझे सब कहना ही है तब मैं कहूँगी—अपने पुरुष प्रताप भी, पाप-अपमान भी। सदियों सहस्राब्दियों से मेरे तन से भावुक अद्भुत लिपटे रहे हैं। कहीं तक मैं उनके क्रोध को दूर या पाप का शमन करती हूँ, यह मेरे कहने की बात नहीं, उनके विश्वास की बात है, मेरी खुद की कहानी ताप और शीत सहनेवाले और उनके स्पर्श से दुःख-सुख का अनुभव करनेवाले प्राणी की है।

मेरी महिमा सर्वत्र गाई गई है, परन्तु मेरा जीवन ज्यादातर तकलीफ का जीवन रहा है, लड़ों से भी मुझे तकलीफ पहुँची है। मुझे उसी चनेलेपन से आयों ने भी लूटा है, जिससे इस्लाम के गाज़ियों ने लूटा, या हेस्टिंग्स के फ़िरंगियों ने। परन्तु उस लूट से मैं इतनी न कुदी, जितनी अपने अन्तर की व्यथा से। उस व्यथा की कहानी भी उस इतिहास का अंग है जिसका मैंने अपने उन हजारों साल के जीवन में निर्माण किया है और जिसे मैं अब सुनाने जा रही हूँ।

दूर का जमाना हुआ, इतने दूर का कि साँस साफ़ बाद नहीं आता। नाटे कद के घने घुँघराले बाल वाले श्याम रंग के कुछ मनुष्य मेरे तट

पर एक बार आए। मेरे आसपास की जमीन बनों से ढकी थी और गंगा का उनके बीच से होकर बहना कठिन हो रहा था। उन्हीं बनों की आड़ में गंगा के इस तट पर जो थोड़ी सी खुली जमीन थी वहाँ, उन्होंने अपने शत्रुओं से रक्षा का समुचित स्थान समझ, अपने गाँव के बल्ले गाढ़े। वही मैं हूँ जो आज शहर हूँ, सात नगरियों में से एक विशिष्ट नगरी।

तब निरन्तर चारों ओर मार-काट हुआ करती थी। एक जन दूसरे जन को मार डालता। उसकी दोरें छीन लेता, उसके गाँव और खेत ले लेता, उसकी नारियाँ ले लेता और नरों को अग्नि की लपटों के हवाले कर देता। वह जीवन भी अपनी जगह पर कुछ कम भयावह न था और खुरेजी प्रायः रोज की बात थी, और इसलिए वन में विशेष कर नदी के तट पर यदि कोई स्थान मिल जाता तो वह सुरक्षित माना जाता और जनों के बसने के लिए समुचित स्थान। मैं इसी प्रकार की बचाव की जगह थी, जहाँ जंगल पार कर शत्रु का आना कठिन था और जहाँ कम से कम एक ओर गंगा स्वयं गहरी और चौड़ी खाई की भाँति मेरा पानी का परकोटा बनाती थी।

मैं बढ़ चली, फैल चली गंगा के तट पर, इस वन के पीछे जो दूर तक फैला हुआ था, जिसमें शेर और चीते दहाड़ते थे। भूखे भेड़िये फिरते थे, हिरन चौकड़ी भरते थे। स्वयं गंगा में जल-जन्तुओं की कमी न थी। बड़ियाल बराबर मुँह बाये घाट की ओर घूटते रहते थे और समय असमय मेरे नागरिकों को वैसे ही उदरस्थ कर लेते थे वैसे स्थल का शेर। फिर भी मेरे नागरिक वीर और साहसी थे, जीवन की रक्षा के लिए लड़ कर भी उन्होंने कभी उसे सारभूत न माना और जल-मल के शत्रुओं से बचते थे अपने जीवन का नित्य नैमित्तिक रूप से निर्बाह करने लगे।

मेरे नागरिकों की उन्नति मेरी उन्नति थी। पास के खेत में अन्न

उत्पन्न होता, वन में फल और मद, नदी अपने अनन्त अनन्त जीवों की भेंट लिए सदा तत्पर रहती और मेरे वन के जन्तु भी मेरे नागरिकों की उदरपूर्ति में कुछ कम काम न आते। मिट्टी के मेरे घरों में चूल्हे और कर्षे निरन्तर चलते रहते, मोटा खुरदुरा वस्त्र मेरे बसने वालों के तन टकता और मैं उनकी सफाई और सुगंध देल फूली न समाती।

धीरे धीरे मेरे मिट्टी के घर भी कम हो चले और उनके स्थान पर कालान्तर में धूप में सुलाई ईंटों के मकान बन चले। कुछ ही काल बाद जाहिर हो गया कि आग में तपाई ईंटें अधिक टिकाऊ होती हैं, अधिक लाल तब आग में पकाई ईंटों का इस्तमाल होने लगा। मेरी नगरी अब गाँव न थी। खासा शहर था। तब दूर पात के शयुओं ने मुझे लूटने और कभी कभी मुझमें बसने की भी कामना बलवती हो चली। अक्सर मैं लुटी, अक्सर मुझे लूटने वाले ही मेरे परकोटों के पीछे आ बसे।

और मेरे एक देवता भी थे, वही देवता विश्वनाथ। तब वे पशुपति थे; सारे चराचर के स्वामी, निराली, लिंगराज, जिनकी शक्ती की नोक पर भक्तों ने मुझे बसी कह और जिसके सम्पर्क से निश्चय मैंने अपने को धन्य माना। उसी देवता का तब देश में बोलबाला था। उसी के मेरे नगर में मन्दिर बनते थे, उसी की पूजा होती थी, क्रोध और भक्ति में उसी को साक्षी कर प्रतिष्ठा और प्रणाम किया जाता था।

मेरे वसे प्रायः दो हजार वर्ष बीत चुके थे कि दूर के नगरों के बसने वाले भागे हुए मेरी नगरी में पनाह लेने आए। उसका और यहाँ आकर जो उन्होंने विष्वस और अमिदाह की कहानी कही तो, मेरे रींगटे खड़े हो गए। सिन्धु नद की घाटी में मेरी ही सी एक समृद्ध सभ्यता फैली थी। वहाँ के नगर शान-विज्ञान में, कला-कौशल में, कृषि-वाणिज्य में संसार में प्रसिद्ध हो चुके थे और विरोधकर सिन्धु देश का आज के परकाने

का वह प्राचीन नगर तो तबके संसार के कय-विकय का केन्द्र था। ऊर और बाबुल, मिथ और चीन सर्वत्र से व्यापारी अपने काम की चीजें वहाँ के बाजार में खरीदते। मेरे नगर के नी अनेक प्रकार के कला-कौशल कय के जग चले थे। मेरे नागरिक भी सौदागरी को कितनी चीजें तैयार करते थे, विशेषकर भाँड और रेशमी वस्त्र तो मेरे दूर-दूर तक जाने लगे थे। चाँदी की धनी मेरे नगर की चीजें विशेष तरह से दूर की दुनिया वाले पसन्द करते और इन मेरी चीजों की बिक्री का बाजार भी सिन्ध के उसी नगर में था।

सो वहाँ के जां भगेड़े आए उन्होंने बताया कि किस प्रकार ऊँचे, तगड़े, गोरे सुन्दर, तुंगनास, विंगलकेश आक्रमकों की अनेक बानों ने आकर सारे सतसिन्धु को आक्रावित कर दिया है। आक्रमक अपने को आर्य कहते हैं, नाचते हैं, गाते हैं, सूरज और चाँद को देख विह्वल हो मन्त्र पढ़ने लगते हैं, मन्त्र पढ़ कर ही वे शत्रुओं पर चोट करते हैं, उनके पास तोर है, कमान हैं, भाले हैं, बछें हैं, कर्से और टाल हैं, शिस्त्राण और कवच हैं, उनके पास कोई धन नहीं, कोई घर नहीं, हथियार उनके धन हैं, घोड़ों की पीठ उनके घर, विफराल सिंह सटश कुत्ते उनके साथ ही बाधुवेग से, वे शत्रु पर दूट पड़ते हैं, उनका संहार कर उनकी स्त्रियाँ छीन लेते हैं। वृद्धों को मार देते हैं, तरुणों को दास बना लेते हैं। उनकी विजय के स्मारक जले हुए गाँवों की राख हैं, मरे हुए लोगों की रक्त की धाराएँ। उन्होंने ही सिन्धु तट के नगरों को उजाड़ दिया है। वहाँ वे स्वयं बस गए हैं, परन्तु उन्हें नगर बनाने नहीं आते, नगरों में बसना वे नहीं जानते, वे गाँवों में रहते हैं, वृष के भण्डारों में। आखिर उनको एक जगह रुकना भी तो विशेष नहीं, आज यहाँ, कल वहाँ। इसी से तो हमारे नगरों को जो ईंट-पत्थर के बने हैं, वे लोहे के दुर्ग कहते हैं। इसी

से तो उनका सम्पर्क, उनका आगमन अशुभ और मृत्यु का सूचक है। शिव हमारा कल्याण करे।

और एक दिन ऐसा हुआ कि मुझे भी गोरे, ऊँचे-तगड़े उन धनुषधरों का सामना करना पड़ा। भुएड के भुएड घोड़ों पर चढ़े वे मेरी प्राचीनों को तोड़ते हुए, सड़कों और गलियों में पिल पड़े। उनकी संख्या तो बहुत न थी पर उनका कायिक बल अपूर्व था और जिन आदमियों पर वे चढ़े थे, उन्हें वे अश्व कहते थे। यह अश्व ही उनके राष्ट्र या धन के पर्याय थे, क्योंकि इन्हीं की पीठ पर उनका घर था, उनका धन था। उन घोड़ों को मैंने पहले पहल तभी देखा जब उन्होंने मेरे नगर में यम की सेना की भाँति प्रवेश किया और मैं डर गई। दोनों से, उन घोड़ों से भी, उनके सवारों से भी। और यह सवार! ये दुर्हन्त, भीमकाय, गौरवर्ण, जालिम लुटेरे उन्होंने एक घर न छोड़ा। सब में आग लगा दी। मेरे नागरिकों को कुचल डाला, मेरे देवता को भ्रष्ट कर दिया, उसका आयतन तोड़ कर हटें जमीन पर विसेर दी, देवता कुछ न बोला, अपने अपमान के प्रतिकार में वह कभी न बोला, न सब न पीछे।

मेरे नागरिक शान्तिप्रिय थे। युद्ध के कौशल कबके उनके पराए हो चुके थे। शान्ति का जीवन धिताने वाले उनके हाथ-पैर इन संहारकों के आते ही फूल गए। उनको उनके विजेताओं ने अनार्य कहा, कुण्डकाय, अनासा, भृशबाक, अयबधन, अदेवयु, शिष्णुदेवा। ये सारे शब्द उनके विचार में गाली थे, परन्तु मेरे नागरिकों के लिए ये गाली न थे और कुछ ही काल बाद फिर वे स्वयं इन शब्दों को गाली की तरह शत्रुओं के विरुद्ध प्रयुक्त भी न कर सके। शिष्णुदेवा, जितने मेरे प्राचीन नागरिक रह चुके थे उतने ही अब मेरे नए गौरव विजेता हुए। लिंगपूजन उनका भी सर्वस्व हुआ और मेरे विश्वजी को उन्होंने शिव, शंभू, शंकर आदि कल्याण-सूचक विरुद्धों से आमन्त्रित किया। मैं हँसी जब मैंने देखा

कि कभी की गाली अब का विरुद्ध बन गई। शत्रु विजेता होकर भी विजित की संस्कृति का किस प्रकार दास हो जाता है, यह मैंने तभी देखा। सुन्दर, समधु और केशवारी पुरोहित जिन्हें विजेता आर्य ऋषि कहते और गुरु मानते थे अब अपनी यशशालाओं से बाहर निकल मेरे पुराने नागरिक पुजारियों से मन्त्र सीखते, उनकी गति-विधि क्रियाएँ सीखने के लिए उनके चारों ओर मंडराते रहते। और मेरे वे पुराने पुजारी अपने चारों ओर रहस्य का आवरण पहने भेद की चेष्टाओं से निरन्तर अपने विजेताओं को स्तब्ध और मुग्ध रखने लगे।

नवागन्तुक विजेता कई जातियों में बँटे थे। उनमें 'ऋषि' और 'राजा' थे, 'ग्रामणी' और रत्नी थे। धीरे धीरे एक कुल ने मेरे नगर में अपनी शक्ति की स्थापना की। वह कुल मेरी नगरी में प्रायः तभी प्रतिष्ठित हुआ, जब अयोध्या में इक्ष्वाकु कुल प्रतिष्ठित हुआ, जब विदेह मायव सदानोरा (गंडक) को पार कर मिथिला की ओर चला गया, जिस काल भरतों के राजा प्रतर्दन का राजकुल भी अपना शासन मेरे नगर और उसके आसपास के इलाकों पर कुछ सदियों बनाए रहा। फिर जब विदेहों के सीरध्वज जनक ने सांकिश्य का राज जीत कर अपने अनुज कुशध्वज को दे दिया, तभी मैं भी कुशध्वज की ही एक शाखा के हाथ में आई।

फिर धीरे धीरे मेरे नगर में उन ब्रह्मदत्तों की प्रतिष्ठा हुई जो पूर्व के आर्यों में संस्कृति और ज्ञान के अप्रतिम अग्रणी माने गए। महाभारत युद्ध के बाद ही उनकी विशेष प्रतिष्ठा बढ़ी। महाभारत काल में मगध ने अपना साम्राज्य काफ़ी बढ़ा लिया था। उस काल से पहले जब आर्य पंचाल से पूरव बढ़े थे और उन्होंने काशी, कोशल और विदेह में जब अपना केशवानर प्रज्वलित किया और वहाँ अपने राजकुलों की नींव डाली तब अपनी दिशा में, मैं ही पूर्व की उनकी सीमा बनो।

अंगो-मगधों को आपों ने अवायव देश माना और अपने उबर आदि व्याधियों को उन्होंने मन्त्र द्वारा उन्हीं में निर्वासित करने के उपक्रम किए।

परन्तु महाभारत काल के कुछ पहले से ही जो वहाँ आर्य कुल प्रतिष्ठित हो चुके थे तो उन्होंने एक के बाद एक नए राज्य खड़े किए और बहिर्द्वारों ने तो अपना साम्राज्य इतना बढ़ाया कि जरासंध के शासन काल में मैं और कोशल दोनों मगध की बदली सीमा में समा गए। कुछ ही काल पहले मेरे नगर में भीष्म तक आए थे। काशीराज की कन्याएँ जिन्हें भीष्म ने स्वयंवर में जीता पर जीत कर भी जिन्हें न ब्याहने के कारण उन्हें परशुराम के कोपानल का सामना करना पड़ा, वे मेरी ही नगरी की थीं। उसी कुल की जिसे यहाँ प्रतिष्ठान से चन्द्रवंशी प्रतापी पुरुरवा के एक वंशधर ने प्रतिष्ठित किया था। महाभारत काल तक पहुँचते पहुँचते वह कुल मगध का अनुचर हो गया। परन्तु जरासन्ध के वध के बाद जब उसका पुत्र सहदेव भी महाभारत में जुक्त गया तब कनी न रह सकी। महाभारत के बाद शीघ्र ही जिस प्रकार निचक्षु ने वत्स में डेरा डाल कोशान्ती को सनाथ किया, जिस प्रकार गिरित्रज में एक नए राजकुल की प्रतिष्ठा हुई, जिस प्रकार विदेह में एक नए जनक कुल ने सीरध्वज के बाद स्थापित होने वाले गणतन्त्र को उलट कर अपना राजतन्त्र स्थापित किया, जिस प्रकार पंचाल में एक विचक्षण राजवंश जमा, उसी प्रकार मेरी नगरी में भी। उन ब्रह्मदत्तों का कुल अंकुरित हुआ, जिनके ज्ञान और प्रताप की बात मैं अभी कह चुकी हूँ।

ब्रह्मदत्त कुल के राजा चिन्तक थे, दार्शनिक और उन्होंने अपने विचारों के जो विज्ञान ताने, यद्यपि उनमें साक्षात् तत्व का लेश भी न था, वह फला खूब। वस्तुतः तब के आर्य जगत में जनपद राज्यों की प्रतिष्ठा के बाद चिन्तन की एक धुन सी खार हो गई थी। आर्य नगरों

के समीपस्थ कनों में ऋषियों के चरण प्रतिष्ठित थे, जहाँ ऋषि ब्राह्मण क्षत्रियों और कभी-कभी विशेष कृपा होने पर वैश्यों को वैशाध्ययन कराते। गौतम अपने प्राचीन नागरिकों में जिनको आर्य गाली देते थे, कभी जन-जन में भेद न देखा था परन्तु आर्यों की अनता में अनेकों स्तर थे, भुण्ड के भुण्ड पशु से भी गए चीते दास और असंख्यक सेवक जिन्हें पढ़ने लिखने का तो अधिकार नहीं ही था ग्रन्थगत बातें सुनने का भी अधिकार न था। अस्तु।

जनपद राज्यों की प्रसरलिप्सा अन्न की उपज ने कम कर दी थी। सहस्राब्दियों से लूट और आहार की लोभ में फिरते रहने वाले घुनकड़ों को आभार मिला था जहाँ वे अन्न बस गए थे और जिस समृद्धि को वे अन्न भोगने लगे थे, उसने उन्हें प्रमादी बना दिया था। तलवार उठाने की उनमें न तो अन्न विशेष क्षमता ही रह गई थी न इच्छा ही। अन्न वे दन्द्रात्मक चिन्तन मात्र करते थे, दार्शनिक वाद-प्रतिवाद मात्र और इस वाद-प्रतिवाद में, दन्द्रात्मक चिन्तन में अग्रणी वे राजकुलीय क्षत्रिय थे, ब्राह्मण ऋषि नहीं।

इस प्रकार का चिन्तक केकयों में अश्वपति था, पंचालों में प्रवादण जैबलि, विदेहों में जनक और मुक्त काशी में अजातशत्रु। चारों ब्राह्मण ऋषि कुमारों को निरन्तर अपने नए ज्ञान से विदग्ध करते उद्दालक आरुणि, गार्ग्यवल्क्य आदि सभी ऋषि कुमार अपने ज्ञान के लिए उन्ही राजपुरुषों की ओर टाकते थे।

अजातशत्रु छेरी नगरी का ही राजा था जिसने दृष्टिबालाकि को अपने प्रश्न से स्तब्ध और निरुत्तर कर दिया, निःसन्देह आत्मा अथवा शरीर में रहने वाले किसी ऐसे जीव की कल्पना जो बैधा भी है, स्वतंत्र भी है, खाता भी है, निराहार भी रहता है, मारता भी नहीं, मारा भी नहीं जाता, नित्य है, अमर है और शरीर के मरने पर फिर

भी जीवित रहता है, बार-बार दूसरे शरीरों में अनन्त काल तक जन्मता रहता है—निःसन्देह इस भूल-भुलैया को समझना कर्मकाण्डी ब्राह्मण के लिए टेढ़ी खीर था। चिन्तन पहेलियों में होने लगा था और मेरे क्षेत्र का अदम्य ब्राह्मण उस पहेली को न सुलझा सकने के कारण विजित हो गया। अजातशत्रु ने गङ्गा के तट पर अपने प्रासाद के विमल ऊँचे आसन से उपनिषद् तत्व का व्याख्यान किया। इस आर्य राजकुल ने मेरी महिमा ही बढ़ाई। यद्यपि मैं अब शूली के शूल की नोक पर विराजमान न थी आर्य चिन्तन के मैदान में उत्तर आई थी। परन्तु आर्यों ने भी मुझे कुछ कम गौरव न दिया। उनके ज्ञान का मैं कबसे केन्द्र हो चली थी और अजातशत्रु ने तो मुझे निश्चय अग्रणी बना दिया। ईस्वी पूर्व की यह नवी सदी चिन्तन में विशेष जागरूक थी और मैं जब विविध सिद्धान्तवादियों को अपने अपने सिद्धान्तों का निरूपण और व्याख्यान करते सुनती तो यद्यपि मुझे उनके रहस्य में कोई सार्थकता न जान पड़ती दूसरों पर उनके प्रभाव की मात्रा देख पुलकित अवश्य हो जाया करती।

जमाना बदला। कर्मकाण्डी विरुद्ध विद्रोह कम का हो चला था। सरस्वती के तट पर लड़े अनन्त युव अब बेकार हो गए थे। उनमें बँधने वाले बलिपशु अब उस यज्ञ स्थल से दूर जा पड़े थे। सरस्वती का तट धीरान हो गया था। मेरा तट अब अनाकुल था भरा-पूरा। मेरा तट भी जो कभी दूर से बँधे बलि के लिए कटने वाले पशुओं की चीत्कार से गूँजता रहता था, अब शान्त था। उसके स्थान पर अब जोष और अहिंसा की महिमा गाई जाने लगी थी। इस विद्रोह के इस नए आन्दोलन के अग्रणी क्षत्रिय में और अनेक बार इस काल के राजकुलों के उन कनिष्ठ वंशधरों ने चिन्तन के क्षेत्र में नेतृत्व किया जिनको गद्दी पाने का अवसर न मिला। मेरे राजा अश्वसेन का पुत्र पार्श्व इसी प्रकार का

चिन्तक सिद्ध हुआ। बाक्यों के प्रति उसका विद्रोह सबल हो उठा और उसने कर्मकाण्ड से विमुख हो अस्तेय अहिंसा सत्य और धनहीनता के सिद्धान्तों का प्रचार किया। ये चारों और विशेषकर अहिंसा तो कभी की आर्यों की सभ्यति न रही थी। मैं जानती थी कि यह मेरे प्राचीन नागरिकों के विचारतत्त्व हैं जो काल के जादू से अब उनके विजेताओं के सिर पर चढ़ कर बोल रहे हैं और मैं उस चमत्कार को चुपचाप, पर सन्तोषपूर्वक देखती रही।

ब्रह्मदत्तों के शासन काल में मैं विशेष फली-फूली। मेरा बाणिज्य अनियत मात्रा में बढ़ चला। युद्धों का डर कब का हो चला था। शान्ति के जीवन में नागरिकों का कलाकौशल में लग जाना स्वाभाविक ही है। बाणिज्य की अनन्त अनन्त वस्तुएँ तब मेरे विविध मुहल्लों में प्रस्तुत होने लगीं। मेरी नगरी कर की दूर-दूर के सीमाप्रान्तीय नगरों से बाणिज्य पथों द्वारा जोड़ दी गई थी। मेरे केन्द्र से वणिकपथ पाटलिपुत्र और गिरिव्रज, मिथिला और अयोध्या, कोशाम्बी और अहिच्छत्रा, मथुरा और वत्सशिला उज्जैनी और पश्चिमी समुद्र-तट को दौड़ने लगे थे। मेरे वणिक गादियों में भाँड़, वस्त्र और अन्य अनन्त सौदा की वस्तुएँ भर-भर कर दूर देश की यात्रा करते और उनके बाजारों में मेरी चीजें बेचकर समृद्ध हो जाते। उनकी यात्राओं की कहानियाँ जातकों और पंचतन्त्र में लिपिबद्ध हुईं। दूर के नगरों में मेरी नगरी की बनी चीजों के नाम पर उनके बाजारों में बोधियों और सड़कों के नाम पड़ गए। मेरे कारवाँ धायेरु (घाबुल) और मिथ तक स्थल मार्ग से जाने लगे। मेरे वणिक विशाल पोतों पर समुद्र लांघ दूर के द्वीपों में पहुँचने लगे।

कुछ ही दिनों बाद, प्रायः दो सदियों बीतने पर विद्रोह की धारा जो अब नितान्त प्रबल हो उठी थी वेशाली और कपिलवस्तु के क्षत्रिय गण-तन्त्रों में बह चली। गणतन्त्र अपेक्षाकृत अधिकाधिक जनसत्ताक होते थे

और वहीं विरोधी भावनाओं के पनपने के लिए भूमि प्रस्तुत थी। वहीं उसकी बेले लगों और फूली-फली। वर्तमान महावीर ने विजित होकर वैशाली की जनता में अहिंसा और यज्ञ विद्रोह का प्रचार किया और कपिलवस्तु के गौतम बुद्ध ने मगध, कोशल, वत्स और वैशाली में। यज्ञियों और शाक्यों में अग्रतिम नेता गाँव-गाँव नगर-नगर घूम कर मनुष्य मात्र की एकता और उसके कल्याण के साधनों का प्रचार करने लगे।

परन्तु तब तक मेरी राजनीतिक और सांस्कृतिक दोनों स्थितियों में पर्याप्त अन्तर पड़ गया था। मेरी राजनीतिक चेतना, राज्य के प्रति उदासीनता और वाणिज्य के बाहुल्य से कच की खो चुकी थी। मेरी समृद्धि और निष्क्रियता बाहरी साहसिकों की वृष्णा का कारण हुई। उनके भीतर उन्होंने लाभ की जो भावना जगाई उससे स्वयं में अपनी रक्षा न कर सकी। मगध के गिरिज में हर्षकों का राजकुल कायम था, वत्स की कौशाम्बी में भरतों का राजकुल, दूर की अवन्ती में प्रद्योतो का राजकुल शासन कर रहा था और पास के कोशल की भावस्ती में कोशलों का राजकुल और मैं मगध तथा कोशल को प्रसर-लिप्सा का निरन्तर उद्दीपन करने लगी थी। फिर तो एक दिन भावस्ती के कंस ने मुझ पर आक्रमण कर मुझे हृदय ही लिया। मैं कोशल के अधिकार में तब खली गई और कंस ने 'वाराणसी गहो' अपना नया विरुद्ध धारण किया। वह ईसा पूर्व सातवीं सदी का अन्त था जब एक नया युग धीरे-धीरे मध्य देश के इस पूर्वी भू-खण्ड पर अपना मस्तक उठा रहा था।

मैं राजनीति विहीन निरवयव हो गई परन्तु मेरी सांस्कृतिक और धार्मिक मर्यादा फिर भी बनी रही। ईसा पूर्व छठी सदी में अवन्ती का राजा चण्डप्रघोत महासेन हुआ, वत्स का उदयन, कोशल का

प्रसन्नजित, और मगध का विभित्तार । उदयन ने मेरे पड़ोसी भगों को जीत उनकी राजधानी शुभशुनारगिरि (बुनार) में अपने पुत्र बोधी को शासक बना कर भेजा और विभित्तार ने अंग को जीत मगध में मिला लिया । मेरी राजनीतिक सत्ता पहले ही नष्ट हो चुकी थी, सोलह जनपदों की गणना से मैं कच की अलग हो चुकी थी और अब मुझे मेरे नए प्रभुओं ने वाणिज्य की वस्तु की भाँति कभी लेना कभी देना शुरू कर दिया । महाकोशल ने अपनी पुत्री कोशलदेवी का विवाह मगध के विभित्तार से किया और उसके 'चूहास्तान' (पाकेट स्वर्ण) के लिए मेरी एक लाख की वार्षिक आय उसके यौतुक में दे दी । अब मैं मगध की नगरी हुई । जिस मगध को मैंने प्राचीन काल से ही अपावन माना था उसी की आश्रिता नगरी होते मेरी छाती फट गई । परन्तु जब मुझ में स्वर्ण सामर्थ्य न थी और मैं दूसरों के लेने-देने की नारी की ही भाँति वस्तु हो गई थी तब मुझे अपनी स्वतंत्र इच्छा-अनिच्छा का ही क्या अर्थ और प्रयोजन ? मैंने चुपचाप मगध को आत्मसमर्पण कर दिया यद्यपि मेरा बिसूरना नियति ने सर्वथा व्यर्थ न जाने दिया और शीघ्र मेरे ही लिए मगध और कोशल में भयानक द्वन्द्व छिड़ गया ।

विभित्तार का पुत्र अजातशत्रु सिंहासन का लोभ और अधिक संवरण न कर सका और उसने पिता को हटाकर उसे हस्तगत कर लिया । पता नहीं विभित्तार कैद में भूख से मरा या पुत्र के विष से पर इतना जरूर है कि वह राजगृह के प्रासाद से गायब हो गया और अजातशत्रु ने नए सिर से मगध की शक्ति बढ़ानी शुरू की । महाकोशल का पुत्र प्रसन्नजित, कोशलदेवी का भाई था । बहिन का वैधव्य उसे खल गया और उसने अब मेरी नगरी की एक लाख की वार्षिक आय मगध को देनी रुन्द कर दी । अजातशत्रु कोशल पर चोट करने का

मौका तो देल ही रहा था यद्यपि वज्रिया की तत्परता और अचान्तों के प्रद्योत के भय ने उसे कोशल पर चोट करने के संबंध में कुछ शंक्ति कर रखा था पर प्रसेनजित के इस आचरण ने उसे युद्ध के लिए प्रस्तुत कर दिया। युद्ध ठन गया। मैं लुगबाग देखती रही। अपने भाग्य से मैं उदासीन थी और युद्ध से मेरी वस्तुस्थिति में कोई अन्तर पड़ने वाला न था क्योंकि दोनों ने से किसी एक की जीत होनी आवश्यक थी और इस दशा में मुझे उसकी ही होकर रहना होता तब जब मुझे स्वतंत्र रहना ही न था तब मेरे लिए जैसा एक वैसा दूसरा। फिर भी युद्ध की भयंकरता कुछ असाधारण थी। उसका काल विस्तार भी कुछ कम न था और दोनों पक्षों की अतामान्य हृदता उस युद्ध को निश्चय औरों के लिए ही नहीं मेरे लिए भी आकर्षक बनाए रखी। पर अन्त में जीत मगध की हुई और न केवल मैं वरन् प्रसेनजित की पुत्री वज्रिया भी अज्ञातशत्रु की गाँठ बाँध दी गई। मैं फिर मगध की चेरी हो गई और अब की न केवल मेरी आय वरन् सारा शासन राजगृह के हाथ चला गया।

राजगृह फिर भी दूर पड़ता था और मुझ पर उसकी पकड़ कुछ ढीली ही थी पर दर्शक के पुत्र उदायीभद्र ने जब राजगृह छोड़ गंगा-शोण के कोण में नई राजधानी पाटलिपुत्र बसा ली तब तां नित्य ही उसके दूत मुझे नम करने लगे। जो स्थिति पिछले काल में अवध की बेगमों की हुई वही स्थिति तब मेरी थी। मेरा राजकुल अपना न था, मगध के शासन का मैं केन्द्र न थी, मैं केवल उनके लोभ और लुब्धा को बुझाने वाली यह उदासीन साधन थी जिसका अपनी कुछ प्रतिक्रिया नहीं होती अपनी कुछ ह्यूँदा नहीं होती। फिर भी मेरी सांस्कृतिक प्रतिष्ठा अभी बनी थी जो सदियों बनी रही और मगध बार बार मुझे अपनी विजय के प्रतीक के रू में दुनिया के सामने रखता रहा।

एक दिन मगध का वह राजकुल भी न रहा। मन्वी शिपुनाग ने हयंकी का वह राजकुल समाप्त कर उसकी गद्दी पर अधिकार कर लिया। वह फिर राजगृह के प्रासाद में प्रतिष्ठित हुआ और मैं उसके शासन की नगरी हुई। परन्तु उसने मुझ पर अपनी पकड़ मजबूत रखने के लिये मेरा एक शासक नियत किया जो मेरे ही प्रासादों में रहने लगा। इससे मेरी राजनीतिक स्थिति में कुछ अन्तर पड़ा और मुझे कुछ प्रतिष्ठा मिली। इस बीच मैं अपने पुरानी सांस्कृतिक मंजिलें सँभालती रही थी। अनेक शैव तन्त्रों का मैं कथ का प्रणयन कर चुकी थी, अनेक नये तन्त्रों का उद्घाटन मैंने अब किया।

मगध की राजनीति में सहसा एक क्रान्ति हुई और यह क्रान्ति साधारण न थी। शैपनागों के राजकुल का अन्त कर महानन्दी की रानी का नापिक पुत्र महापद्मनन्द राजा को मार मगध की गद्दी पर बैठ गया और उसने अपना सर्वज्ञान्तक शूद्र राज्य वहाँ प्रतिष्ठित किया। प्राचीन मगध की श्लेष्म परम्परा के अनुकूल ही यह क्रान्ति थी और मुझे स्वयं डर लगा कि इस नई वस्तु स्थिति ने मेरी क्या गति होगी क्योंकि मेरे विचार अब सर्वथा बदल चुके थे। अब मैं आर्य राजकुलों की संगिनी थी। मुझे निम्नवर्णियों का शासन प्रिय न था परन्तु ज्ञा होना था वह हो कर ही रहा और महापद्मनन्द और उसके शूद्र बेटों का अधिकार पाटलिपुत्र के साथ ही मेरे नगर पर भी हो गया, सौ वर्षों का यह नया जीवन मैंने फिर किसी प्रकार काटा। ब्राह्मण और क्षत्रियों ने मुझे आदर और सम्मान दिया था। ब्राह्मण पाटलिपुत्र के दरबार में अब भी प्रबल थे। पाण्डिनी और चातक्य दूर से वहाँ आ बसे थे और कात्यायन फिर भी वहाँ अपनी 'वृत्ति' का उद्योग करता था। परन्तु क्षत्रियों ने अपना कुश हस्त मेरे मस्तक से हटा लिया यद्यपि उनकी कुश में अब विशेष शक्ति न रह गई थी।

परन्तु यह क्रान्ति भी मगध में चिरस्पाई न हो सकी और शीघ्र चाणक्य साम्राज्य की सहायता से क्षत्रिय चन्द्रगुप्त मौर्य ने नन्दों का नाश कर मगध का सिंहासन छीन लिया और उसने अपने नये साम्राज्य का निर्माण शुरू कर दिया। साम्राज्य बढ़ चला। जब दूर की तक्षशिला और उज्जयिनी तक उसकी शासन केन्द्र हुईं तब मेरी क्या बात थी। मैं तो वैसे भी सांस्कृतिक दृष्टि से पर्याप्त पूर्य थी यद्यपि मेरे भी अनेक नागरिक दीर्घ काल से तक्षशिला के विद्यापीठ में अध्ययन करते रहे थे। चाणक्य के प्रभाव से मेरी शक्ति फिर भी बढ़ चली और मेरा गौरव भारत के नगरों में असाधारण हो गया। अनेक बार व्यस्त रह कर भी स्वयं चाणक्य ने मेरे तट पर डुबकी लगाई। दूर दूर के भक्त अब विरोधकर एक साम्राज्य के नागरिक हो जाने के कारण मेरी नगरी में आने लगे। सिकन्दर का सेनापति सेल्यूकस जब दूर की सीरिया से हिन्दुकुश की ओर बढ़ा तब एक बार मैं अवश्य डरी कि कहीं मेरा हाल भी वही न हो जो पंजाब का कभी हुआ था पर वह विपत्ति केवल टल ही नहीं गई पर मगध के साम्राज्य को हिन्दुकुश के प्रान्त और मिल गए। मेरे यज्ञ स्तूप पूर्ववत् गंदा तट पर खड़े रहे। मेरे विशाली के गण सर्वत्र मेरी नगरी में नाचते रहे। वीरभद्र और काल भैरव दोनों मेरी रक्षा में सज्जद थे।

परन्तु बहुत काल मेरे यूर खड़े न रह सके और यदि वे खड़े रहे भी तो नितान्त अकेले। उनकी अर्गला में बहुत दिनों तक फिर बलि पशु के बँधने का सौभाग्य न हुआ क्योंकि चन्द्रगुप्त के पोते अशोक ने जो बुद्ध, संघ और भग्म की शरण ली तो सारे साम्राज्य से उसने खीन-हत्या उठा दी। उसी के साथ मेरी पशु-बलि भी बन्द हो गई और मेरी यशकियाँ कुछ काल के लिए सर्वथा लुप्त हो गईं।

ईसा पूर्व दूसरी सदी के पुष्यमित्र शुंग नामक भारद्वाज गोत्रीय

ब्राह्मण ने उस ब्रह्मदेवी कुल का अन्त कर दिया। ब्राह्मण पुरोहित और राजन्य यजमान का संघर्ष पुराना था। जननेजय-नुरकावषेद से भी पुराना और वह अब नये रूप में जीवित हो उठा था। पुण्यमित्र शुंग अन्तिम मौर्य बृहद्रथ का केवल पुरोहित हो नहीं, उसका सेनापति भी था और उसने अपनी सेना के सामने ही उसको मार डाला। इस ब्राह्मण पड़्यन्न की मेधा महाभाष्यकार पतञ्जलि था जो पाणिनी चाणक्य को ही भाँति बाहर से पाटलिपुत्र में आ बसा था। पुण्यमित्र ने दो दो अश्वमेध कर बहुत काल से क्षुत अश्वमेधों की परम्परा लौटाई, ब्राह्मण धर्म को पुनः प्रतिष्ठित किया और मेरे गंगा तट पर फिर विधि क्रियाओं की परम्परा जगी। उस ब्राह्मण नृपति को बौद्धों और ग्रीकों दोनों से संघर्ष करना पड़ा परन्तु उसने दोनों को सर्वथा कुचल डाला। दिमिट्रियस ने कभी उसकी तरुणावस्था में पाटलिपुत्र को उजाड़ डाला था, ब्राह्मण राजा ने उसके दानाद मेनामदर का बध कर और ग्रीकों को सिन्धु नद पार भगा उसका बदला लिया। और जब जलन्धर तक उसने सारे बौद्ध-विहार जला डाले तब मैं प्रसन्नता से थिरक उठी। अशोक ने कभी मेरे यश बन्द कर दिये थे अब मुझे उसका डर न था।

मुझे ब्राह्मण की इस मूर्खता के विरुद्ध इतना कुछ नहीं कहना है जितना बौद्धों की उस देशद्रोहिता के विरुद्ध जो इन विहारों में पनपती थी और जहाँ ब्राह्मण राज्य और धर्म के विरुद्ध निरन्तर पड़्यन्न रचे जाते थे। मुझे शुद्ध बौद्ध धर्म अप्रिय नहीं बल्कि मैं तो बुद्ध विद्रोही आचरण से प्रसन्न भी हुई थी। इतना सत्यप्राप्ति, इतना पावन, इतना दयावान प्राणी मेरी पृथ्वी पर कभी न चला। मुझे इस बात का गर्व है कि उसकी पहली आवाज मैंने ही सुनी। मेरी नगरी के बाहर उत्तर-पूर्व की ओर जो हिरनों का पना जंगल था वहाँ प्राचीन काल से साधु

निवास करते आए थे ! उसे तब की भाषा में मृगदाव कहते थे—दिरनों का जंगल । उसी मृगदाव में तथागत बुद्ध की पहली आवाज गूँजी । उर्वेला में सम्यक सन्तोषि प्राप्त कर तथागत ने सोचा, भला कौन उचित व्यक्ति है जिसे मैं अपना वह पुनीत अक्षय ज्ञान पहले सुनाऊँ । गुरुओं की याद आई, आलारकालाम की, रुद्रक रामपुत्र की, पर दोनों मर चुके थे । फिर उन पंच भद्रीय ब्राह्मणों की याद आई जिन्होंने गौतम को पेटू कह कर तब छोड़ दिया था । जब तब को निरर्थक जान उन्होंने आहार लेना निश्चित कर लिया था । चूँकि उन्होंने गौतम को छोड़ दिया था बुद्ध ने निश्चित किया कि उनको ही वह अपने ज्ञान का पहला सन्देश सुनाऊँ ! और वे मेरे मृगदाव की ओर सहसा चल पड़े थे । भिक्षु को अपनी ओर आते देखा, पंच भद्रीय ने तब किया कि हम भिक्षु का कमण्डलु न लेमें, उसे आसन न देंगे, जल न देंगे, परन्तु जब भिक्षु पास पहुँचा और उसका तेजस्वी मुखमण्डल उन्होंने देखा तब वे विजित हो गए । उन्होंने उसका कमण्डलु लिया, उसे आसन दिया, जल दिया । और तभी शाक्य सिंह की बाणी दहाड़ उठी—“भिक्षुओं, मार्ग दो ये, एक अतिविलास का, दूसरा अति तप का । दोनों त्याज्य हैं । एक तीसरा तथागत का देखा है, मध्यम मार्ग—मज्झिम पटिपदा (मध्य प्रतिपदा) न अति विलास का न अति तप का—यही ग्रहण करने योग्य है ।” यही तथागत का पहला धर्मचक्र-प्रवर्तन था जो उन्होंने सारनाथ में किया । उसी मृगदाव की पर्णकुटी में उन्होंने डेग डाला । उसी का नाम कालान्तर में मूलगन्ध कुटी करके विख्यात हुआ । शौद्ध धर्म की गन्ध उसी कुटी के मूल से दिगन्त में फैली थी ।

उसी सारनाथ में, सदियों बाद शौद्ध धर्म में दीक्षित होकर अशोक ने धर्मचक्र-प्रवर्तन के स्मारक स्वरूप ‘धर्म राजिक’ नामक महा स्तूप बनवाया, जहाँ उसके पास ही गुप्त काल में ‘धर्माख्य’ (धमेख) स्तूप भी अपने

विशाल कलेवर के साथ खड़ा हुआ। अशोक ने उस अपनी धर्म यात्रा में मेरा और मृगदाव का गौरव जाना। उसने फिर अपने उपदेश भी वहाँ अपना स्तम्भ खड़ा कर, उस पर खुदयाए। संप्रभेदकों के विरुद्ध जो उसने प्रायश्चित्त अथवा दण्ड नियत किया, वह उस स्तम्भ पर खोदा गया। वह दर्पण सदृश चदिरंग वाला विशाल स्तम्भ सदियों खड़ा रहा। बौद्ध धर्म और अशोक की कीर्ति का स्मारक। उसी का सिंह मस्तक आज भारतीय राष्ट्र का मुद्राचिह्न है।

इस कारण मुझे कभी शुद्ध बौद्ध धर्म से घृणा नहीं हो सकती थी। परन्तु जब इसके अनुयायी अपने विहारों में पदबन्ध कर, राजनीति में भी दखल देने लगे और इस प्रकार जब उन्होंने शुद्ध विद्रोही धर्म तथ्य को बदनाम कर दिया तब निश्चय मैं इधर से विरक्त हो गई और इस आशा में चित्तिज की ओर देखती रही कि कोई समान धर्मा खड़ा होकर उनके इस अनाचार को वन्द कर दे। पूर्वी इतिहास पर पाठ ही तब समान धर्मा वह पुण्यमित्र उद्दिन हुआ जिसने मेरी यह कामना सिद्ध कर दी।

शुंगों के पिछले वंशधर कमजोर हुए और उन्होंने अपनी कृपा पाटलिपुत्र से हटा कर, अयोध्या और विशेष कर विदिशा पर बरसाई। मुझे उनसे कोई माह न था, सिवा इसके कि वे उस महान् पुण्यमित्र के वंशधर हैं, जिसने सेना के साथ निरन्तर सगर्भ के कारण अपने को सदा सेनापति कहा सम्राट कभी नहीं। शुंगों के बाद कल्व आए जो नितान्त दुर्बल थे और उनके साथ मेरा औदार्य इसीलिए कुछ काल कायम रह सका कि वे ब्राह्मण थे और मेरी विधि-क्रियाओं को अभिमान के साथ देखते थे। उनके दुर्बल हाथों से दक्षिण के आन्ध्र सातवाहनों ने कृष्णा के कट्टार से उठ कर गंगा के इस कांटे पर अधिकार कर राज-दण्ड छीन लिया। वे भी ब्राह्मण थे और उन्होंने भी मेरे यश कर्मको

सराहा और बढ़ाया। परन्तु आन्ध्र सिमुक का यह एक राजनीतिक भाषा मात्र था और यह न तो मुक्त पर दीर्घ कालिक अधिकार ही रख सका और न उस भयानक आक्रमण से नेरी रक्षा ही कर सका, जिसका नेता शक सेनापति अम्लात था। पुष्पनित्र शूंग के समय आचारपूत जिस मनुस्मृति की रचना हुई थी, उसके कुछ अध्याय मेरी नगरी में भी लिखे गए थे। उनको मैं संसार की अद्भुत विधान-पुस्तकों में मानती थी। सहसा शकों के आक्रमण ने उसे छिन्नभिन्न कर दिया। उसके सामाजिक स्तर बिखर गए, उनके आचार-शील की ग्रन्थियाँ टूट गईं, एक नई दुनिया अब मुझे टककर सझी हुई जितनी बराबर अग्नि और लोहा बरसता रहा। कुछ काल बाद जब उसके बादल छँटे, तब मैंने देखा कि मेरे सामाजिक आचार बन्धन सहसा टूट गए थे। राजाघरों और उनके प्रान्तों के साथ ही मेरे गुरु और पुजारी भी धूलि में पड़े थे और उनके सीने पर शूद्र सवार थे, शकों की ही भाँति उत्सवभय की उस धरा पर।

परन्तु शीघ्र स्थिति बदली। ब्राह्मण बराबर समाज के नेता रहते आए थे। चक्र और कुचक्र किस प्रकार समाज में चलाए जाते हैं इसका जितना ज्ञान उन्हें था, उतना किसी को न था। और फिर एक बार उन्होंने समाज के साथ ही धरा पर भी अधिकार किया। उसी विदिशा के आस-पास से बाकादक ब्राह्मण भी उठे जहाँ से कभी शुंगों का उदय हुआ था और उन्होंने मध्य देश पर भी अपनी शक्ति की छाया डाली यद्यपि वह चिरस्थायी न रही। भारशिव नागों और बाद में प्रबल गुप्तों तक ने उनसे विवाह संबंध किए। बाकादकों ने मेरी महिमा और बढ़ाई।

परन्तु मेरे गौरव का गगनचुम्बी उदय तो पद्मावती के भारशिव नागों के साथ हुआ। 'भारशिव' नाग इसलिए कहे जाते थे कि वे शिव का भार लिंग के रूप में अपनी पीठ पर बहन करते थे। उनके उदय

के कुछ काल पहले शक अमलात के अमिकाण्ड के कुछ ही बाद उत्तर भारत में पेशावर से पाटलिपुत्र तक कनिष्क कुशाण का साम्राज्य फैल गया था। मैं भी तब विदेशी कुशाणों के अधिकार में आ गई थी और यद्यपि धर्म के विचार से कनिष्क बौद्ध था, उसने मुझको भी अपना राजनीतिक केन्द्र बनाया। मेरे ही केन्द्र से उसका शासक बनस्कर उसके साम्राज्य के पूर्वी प्रान्तों पर शासन करता था। कुशाणों के पिछले शासन में तो उनके राजा प्रायः सर्वथा हिन्दू हो गए। मेरे त्रिशूली की उन्हांनि विशेष पूजा की बधधि उनके विविध धर्मों के अनुयायी होने के कारण त्रिशूली प्रायः असन्तुष्ट हो उठते थे। पिछले कुशाण राजा वासुदेव ने तो वैष्णव धर्म अंगीकार कर, मेरे त्रिशूली की कुछ कम अवमानना न की; परन्तु शीघ्र ही मुझे उनके अधिकार से मुक्त कर नागों ने त्रिशूली को देवताओं में फिर अग्रणी का स्थान दिया, महादेव कह कर उन्हें पुकारा। भारशिव नागों ने देश में राष्ट्रीयता की पहली आवाज उठाई। यह देश भारतीयों का है, विदेशियों को उस पर अधिकार करने का कोई हक नहीं और उनको वे भारत से बाहर कर ही दम लेंगे। यह उनकी प्रतिज्ञा मुझे बहुत भाई और बार-बार उसकी गूँज मेरे कानों में अमृत धरसाने लगी। गंगा की लहरें भी उत्सुक हो, उठ-उठ, तब उनके बढ़ते हुए उत्कर्ष को देख अभिवृत्त होतीं। नागों ने अपनी प्रतिज्ञा पूरी की और मुझे उन्होंने वह गौरव प्रदान किया, जो कभी किसी नगर का प्राप्त न था। सरस्वती के तट पर कभी आर्यों ने यह किए थे, परन्तु कब का वह तट वीरान हो चुका था। और उस काल के आर्यों की ही तब क्या हकीकत थी? एक एक गाँव का मुखिया राजा कहलाता था—राजा जिसकी नागों के माण्डलिक तक होने की हकीकत न थी। अब मेरे गंगा तट पर नागों ने अश्वमेधों की परम्परा बाँध दी। बार-बार वे अश्वमेध करते, बार-बार उनके अर्चित निरगल अश्व कुशाणों की अधिकृत भूमि पर दौड़ पड़ता।

बार-बार उसे लौटा कर उसके स्वामी मेरे तट पर भागीरथी में 'अश्वमेध' स्थान करते। इस प्रकार उन्होंने मेरे उस तट पर दस अश्वमेध किए जिसको संज्ञा परिणामस्वरूप 'दशश्वमेध' हुई और जहाँ मेरे घाटों में सब से पुनीत आज तक माना जाता है। नागों ने जिस शक्ति की प्रतिष्ठा की वह स्वयं तो अधिक दिनों न टिक सही, परन्तु उसने मध्यदेश में वह भूमि निश्चय प्रस्तुत कर दी, जिसमें शीघ्र बाद गुप्तों के साम्राज्य का पोशा लगा और देखते ही देखते विशाल बट की भाँति उसने देश पर अपनी छाया डाली।

गुप्तों का काल भारत का स्वर्णयुग कहा जाता है। निःसन्देह यह भारतीय इतिहास का स्वर्णयुग था, यदि हम सम्भ्रान्त वर्गों और अभिजात कुलों को ही तब का भारत मानें। मेरे इतिहासकारों ने इसी दृष्टिकोण से उसे स्वर्ण युग कहा है। जय साहित्य, संगीत, कला, राजनीति सभी का अपूर्व उत्कर्ष हुआ। परन्तु यदि कोई मुक्तसं पृष्ठ और मुक्तसंचाई का उद्घाटन करने का समुचित अवसर दे तो मैं अपने उन मलिन अन्धकार मुक्त गलियों की ओर चुपचाप संकेत कर दूँगी जिनमें मेरे गंधेले दरिद्र निम्नवर्णिय नागरिक निवास करते थे—वास्तव में मेरी गलियों में नहीं, मेरी नगरी से बाहर प्राचीनों के उस पार शमशान के निकट जिनके लिए इस काल में होने वाले मानव धर्मशास्त्र के नए संस्करण ने सबकों को छाया छूरी भी गर्हित समझी और जिस जघन्य पाप के लिए उसने प्रायश्चित्त के न्यारे शोधे। मनुष्य अपने से ही मनुष्य से जिस मात्रा के उस काल भव मानने लगा, घृणा करने लगा, उतना सम्भवतः न कभी पहले हुआ था न पीछे। और जिस मात्रा में गुप्तों की भागवत धर्म में प्रति भद्रा बढ़ती गई, जिस मात्रा में वे ब्राह्मण के संरक्षक बनते गए, इसी मात्रा में मानवता के प्रति यह घृणा बढ़ती गई, यह भय विकराल होता गया। उन दयनीय परिवारों के अन्त्यज जब कभी मेरी नगरी

में आना चाहते, पहले उन्हें सूर्योदय और सूर्यास्त का विचार कर लेना पड़ता क्योंकि ये दिन में ही, उसकी दोनों संध्याओं के बीच मेरे द्वार में प्रविष्ट हो सकते थे। रात में उनको मेरे नगर में ठहरने का अधिकार न था और दिन में भी जब ये कभी प्रवेश करते, काष्ठ-दण्ड बजाते हुए वे कई एक साथ मेरी सड़कों पर चलते, जिससे शुद्ध पुनीत मेरे स्वर्ण युगीय नागरिक उनके अपावन स्पर्श से दूषित न हो जायें। इतिहासकार मेरा यह उद्गार फासान के वृत्तान्त में पड़ता है और उसकी सच्चाई में सन्देह करता है, परन्तु कैसे वह मेरे वचन में सन्देह कर सकता है, जब मैंने स्वयं मान्यता के विरुद्ध उस उपचार को अपनी ही धरा पर घटते देखा।

उनकी भी इच्छा होती, मेरे उन अनाथ नागरिकों की भी, जिनके पूर्वजों ने पहले-पहल मेरी कस्ती ही नांव डाली थी, कि वे उस त्रिशूली के दर्शन कर पाते, जिनके आर्य और भोलेपन का देवत्व, स्वयं उन्होंने ही कभी सिरजा था। हाँ, शिव आर्यों के नहीं, उन्हीं मलिन-वसन, वृणित-अपावन कृष्णकाय मेरे प्राचीनतम नागरिकों के थे, जिन्हें आर्यों ने उनकी नगरी, उनकी समृद्धि, उनके सर्वस्व के साथ छोन लिया था और उस देवता को जिसको उन्होंने ही सिरजा था, अब देखने का उन्हीं का अधिकार न था। मैंने शक्ति से दूसरों की समृद्धि छोनते साहसिकों को देखा है, परन्तु अपने विजितों का देवता छोनने का यह पहला ही दृश्य था।

चन्द्रगुप्त प्रथम ने जिस गुप्त राज्य को खड़ा किया, जिस गुप्त-साम्राज्य का समुद्रगुप्त ने निर्माण किया, जिसको मालवा और पश्चिमी समुद्र तट की समृद्धि दे चन्द्रगुप्त विक्रमादित्य ने यशस्वी बनाया, वही साम्राज्य कुमारगुप्त के विलास से बिलर चला। उसकी दुर्बल काया पर जब धीर्यवान् हूयों की चोटें पड़ीं, तब यह लड़खड़ा कर गिर पड़ा।

कुमारगुप्त के तपशील पुत्र स्कन्दगुप्त ने उसे सहारा देने की बड़ी कोशिश की, अनेक प्रकार से तब, संयम और पराक्रम से, इस तरुण ने हूणों का प्रतिकार किया, परन्तु सामन्त संघ की नींव पर खड़ी वह विशाल अट्टालिका गिर ही पड़ी, रुक न सकी। कुछ काल नै, स्कन्दगुप्त का वह संघर्ष देखती रही। एक बार विजयी हो स्कन्दगुप्त ने जब मेरे पास ही सैदपुर भीतरी की प्राचीन भूमि पर जब अपनी विजय का स्मारक स्तम्भ खड़ा किया, तब मैंने गर्व के साथ उस तरुण की ओर निहारा था। स्तम्भ पर उसने खुदवाया—हूणेरयस्य समागतस्य समरे दाम्प्या धरा कम्पिता। भीमावर्त करस्य,.....हूणों के साथ समर में उसकी भुजाओं के टकरा जाने से भयानक आवर्त बन गया। कितनी सही थी यह प्रशस्ति परन्तु यदि कहीं इसका अर्थ तत्कालिक भारतीय राजनीति में टिकाऊ हो पाता। साम्राज्य का मूल सरीखा कुमारगुप्त अपने आसब सेवन से विक्षिप्त हो राजनीति से कब का निकुत हो चुका था और उसके अंगराग, इनक तथा प्रसाधन के अन्य द्रव्यों ने, उसे सर्वथा खैण कर दिया था और उसका साम्राज्य जब बर्बर विदेशियों की संशारक चोटों से गिर चला तब कोई शक्ति उसे न रोक सकती थी। वास्तव बात तो यह है कि उस पर विदेशी आक्रमण चाहें होते या न होते; उसका अपने आन्तरिक वैयम्य से ही टुक-टुक हो जाना स्वाभाविक था।

हूण आए और उत्तराखण्ड को उन्होंने वैसे ही आक्रान्त कर लिया वैसे कभी शकों ने कर लिया था। परन्तु उनको निकाल कर 'हूणाय' बनने का किसी शकारि को बनने की कामना न हुई और इस शकारिता का भी राज जो मुझे मालूम है और किसी को मालूम नहीं। शकारि का अर्थ लोगों ने शकों को भारतीय समाधि तथा भारत-भूमि से निकाल देने का अर्थ लगाया है जो सर्वथा गलत है। चन्द्रगुप्त विक्रमादित्य ने और उनसे पहले नागों ने ही शकों-कुषाणों की शक्ति तड़ दी थी, पर

वह शक्ति राजनैतिक ही थी, सामाजिक कतई नहीं। समाज में उनकी पैठ हो गई थी और खूब ही। समाज का रोम-रोम अब उनके स्पर्श से पुलकित हो रहा था परन्तु उनसे कहीं बढ़कर हूयों ने उसके भीतर प्रवेश पाया। उनकी शक्ति इतनी प्रबल थी, उनकी पकड़ इस जमीन पर इतनी गहरी हुई कि हमारे नेताओं को उन्हें अंगीकार करना ही पड़ा। उनके लिए धर्म गुरुओं ने एक सर्वथा नया विधान किया। ब्राह्म की चोटी पर अमिकुण्ड खुदा और उसमें से चार प्राकृत पुरुष निकलने की कल्पना हुई। ये चार पुरुष कुशीवशिष्ट ने हिन्दू समाज को अब दिए, जिनकी मन्त्रणा से यदुकुल ने कभी भ्रमी से अपने चार विधाता राम, भरत, लक्ष्मण और शत्रुघ्न पाए थे। ये चार पुरुष प्रतिहारों (परिहारों) परमारों, चालुक्यों और चाहमानों (चौहानों) के थे। परमार जिनके मुंज और भोज ने भारतीय साहित्य का मण्डन किया उतने ही हूण थे कन्नौज को समृद्धि और गौरव देने वाले प्रतिहार जितने गुजरा। कभी ईश्वरदत्त के उन आभीरों ने ब्राह्मण साथ बाहनों और विदेशी शकों के हाथ से शक्ति छीन ली थी, जिन्होंने अपने को पीछे धादब कहा और यदुकुल से अपना नाता जोड़ा, परन्तु उनके वंशधर अहीर, जाट और गूजर जिनमें दूसरे रक्त भी प्रवाहित हो रहे थे, अब नए सिरे से इस समाज में प्रविष्ट हुए और यद्यपि प्रविष्ट हुए फिर भी अपने अवयवों, तीर-तरीकों और व्यक्तित्व से साफ पहिचाने जा सकते हैं। इतना जरूर है कि वे ही पीछे अपने पराक्रम से राजपूती आन के लिए प्रसिद्ध हुए और हिन्दुत्व की उन्होंने ही नाक रखी।

गुप्तों के बाद मगध में जो एक कमजोर गुप्त राजकुल नए रूप से खड़ा हुआ उसकी ओर कन्नौज के मौखरियों की परस्पर चोटें चलती रहीं और मैं परिणामस्वरूप कभी एक की, कभी दूसरे की होती रही। मालव गुप्तों ने जब मौखरियों का अन्त कर दिया तब हर्ष ने यानेश्वर से

आकर कन्नौज की गद्दी सँभाली और उसी के नए साम्राज्य में अन्य नगरों की ही भाँति मुझे भी प्रवेश मिला। परन्तु मेरी कान्ति अब तक मलिन पड़ गई थी। मेरी महिमा सर्वथा नष्ट तो न हो गई थी, पर उस पर मोटा परदा निश्चय पड़ गया था। ऐसा भी नहीं कि बौद्ध होने के कारण हर्ष प्राचीन तीर्थों को भूल गया हो क्योंकि अपने पंच वर्षीय मोक्ष परिपद के छे: छे: अभिषेकन आखिर उसने प्रयाग में त्रिवेणी के संगम पर किए ही। जो भी हो, मेरा प्रताप कुछ काल के लिए ठन्डा पड़ गया था और अगर मैं फिर उठी तो हर्ष के बाद प्रतिष्ठित होने वाले उन गुर्जर प्रतिहारों के शासन में ही जो अन्तर्गत होकर भी निष्ठावान थे। प्रतिहारों और पालों में जो संघर्ष चला, उसमें मुझे भी अपना प्रभु बार-बार बदलना पड़ा। एक बार तो दक्षिण के राष्ट्रकूट नरेश ने भी धर्मपाल को परास्त कर, मेरे जनपद को लूटा। कालान्तर में मुझ पर त्रिपुरी का भी अधिकार हुआ और दूर की उस नवीना ने मुझ पर कुछ कम प्रहार न किए। माना कि उसके कलचुरियों ने मेरा गया हुआ गौरव कुछ अंश तक मुझे लौटाया परन्तु मुझ पर त्रिपुरी का भृकुटि भंग सदा अखरता रहा। उसके स्वामी गांगेयदेव और कर्ण दोनों ने, मुझ पर अपना स्वत्व रखा। उन्हीं दिनों जब गांगेयदेव का शासन मेरे जनपद पर चल रहा था, मुझे पहले पहल इस्लामों की चोट सहनी पड़ी। इब्न-तुग़लक़ नियतिगामीन मुयुक्तगामीन के बेटे अब महमूद गज़नवी का पंजाब का शासक था जिसने शायियों का नाश कर कन्नौज तक को जीत लिया था और जिसकी चोट से सोमनाथ, मथुरा और कन्नौज के देवता चूर-चूर हो गए थे। वह महमूद तो कन्नौज से ही लौट गया था पर उसका शासक यह नियतिगामीन सदा मंजिल पर मंजिल तय करता मेरे द्वार पर आ खड़ा हुआ। दूर का त्रिपुरी के राजा गांगेयदेव की सेनाएँ मेरी रक्षा न कर सकी। मैं नितान्त अरक्षित थी यद्यपि मेरे प्राचीरों

के भीतर नागरिकों के अतिरिक्त केवल पुजारी ही इतने थे कि यदि वे साधारणतः अग्रगण्यों की उस सेना पर गिर पड़ते तो वह कुचल जाती ; परन्तु उनकी ओर रुख करना तो दूर रहा लोग तितर-बितर हो जिधर ही सोंग समाई उधर ही भाग चले। सबकें वीरान हो गईं। जिन्होंने तेवर बदले, उनका तलवार के घाट उतार दिया गया और मेरी गलियों में रक्त उगल दिया। हाँ, यह लूट भूट समाप्त हो गई और जब तक मेरे जनपद के ग्रामीण स्वस्थ, सुखित प्रिशाली की रक्षा के लिए मेरे खुले द्वारों में तुम्हें तब तक निवासिनीय अपने सवारों के साथ अनन्त धन लिए, नौ दो ग्यारह हो गया। यह बहुत दिनों बाद मेरी पहली लूट थी और इस्लाम के भण्डे के नीचे चलने वाली सेनाओं की पहली चोट थी।

त्रिपुरी के तेजस्वी गणेशदेव और उज्जयिनी के यशस्वी भोजदेव दोनों जीवित थे। दोनों ने अपने पराक्रम से प्रशस्ति गँवाई थी, और भोज का सर्वनाश कर देने वाले लक्ष्मीकर्ण और चालुक्य भीम का भी दशदश कुछ कम न हुआ था, जब मैंने इस प्रकार अवमान रहा। भीम तो खैर मेरी रक्षा क्या कर सकता था, जो स्वयं महमूद के आने पर अपने सोमनाथ और अन्हिलवाड़ को अरविष्ठ छोड़ भाग गया था, फिर भी मुझे आशा थी कलचुरी नरेश से, परन्तु वह भी मुझे बचा न सका।

हाँ, कुछ ही काल बाद एक गाहड़वाल सरदार ने निश्चय मुझे क्षमाति दी और मेरी सर्वथा रक्षा की। वह चन्द्रदेव था, जिसने प्रतिहारों की गद्दी पर बैठ, कन्नौज में अपने नये राजकुल की प्रतिष्ठा की—गाहड़वाल राजकुल की। उसके बेटे गोविन्दचन्द्र ने तो पूर्व में इतने प्रान्त जीते कि उनके शासन के लिए मुझको ही उसे दूसरी राजधानी बनानी पड़ी। निवासिनीय के बाद कुछ और अग्रगण्य सरदारों ने

भी मुझे लूटने के मनसूबे बाँधे। वास्तव में महमूद गज़नी ने अपनी लूट से अपने देशवासियों में जो कानना बलवती कर दी थी, उसे चरितार्थ करने को अनेक साहसिक मेरी ओर चल पड़े थे यद्यपि उनमें से कोई इस काल मुझ तक पहुँच न सका। और उनसे जो मेरी रक्षा हुई, वह कन्नौज के मेरे गाहड़वाल वृत्तियों के पराक्रम के कारण ही। मसूद तुग़लक़ के भेजे हाजिब तुग़लगिन ने जब मेरी ओर रुख किया तब उसे परास्त कर सुबराज गोविन्दचन्द्र ने उसकी वही दशा की जो कभी महमूद के भांजे सय्यद सालार के भेजे फ़जल की हुई थी जो कुछ ही काल पहले अयोध्या की राह मेरी ओर बढ़ा था। गोविन्दचन्द्र बड़ा पराक्रमी राजा निकला और उसने दिल्ली से गया तक अपने अधिकार में कर लिया।

विजयचन्द्र ने भी साम्राज्य की सीमाएँ पूर्ववत् रखीं यद्यपि दिल्ली उसके हाथ से निकल गई। उसके शासन काल में भी इस्लाम ने मेरी ओर एक बार रुख किया और जब गज़नी से निकाले जाने पर, अमीर खुसरो पंजाब का लाँच कन्नौज की ओर बढ़ा, तब विजयचन्द्र ने उसके घोड़ों की बाग़ रोक दी। परन्तु गाहड़वालों में भी कमजोरी धुन करने लगी। पारस्परिक फूट और गृह-कलह, हिन्दू राज्यों में शीघ्र इतनी बढ़ी कि चन्देल, चौहान और गाहड़वाल एक साथ जूझ मरे और चारहवीं सदी के अन्त में, जब गोर का मुहम्मद शाहानुद्दीन हिन्दुस्तान पर दृढ़ा तब पानीपत की एक रुकावट के सिवा, फिर उसे कहीं और बाधा न पड़ी। यह निरन्तर बढ़ता चक्का आया। जयचन्द्र स्वयं यद्यपि बीर था और बुढ़ापे में उसने चन्दावर के मैदान में अपने बलिदान से नदी का जल लाल कर दिया फिर भी उसके वीरों का पराक्रम नैपथ्य चरित्र के महाकवि श्री हर्ष ने अपने रस से निरस्त कर दिया था। खण्डन खण्ड खण्ड का रचयिता यह तार्किक जब कभी तर्क की अपनी

हजिम दुनिया से हटता तो सदा भ्रंगार की काल्पनिक भूमि पर ही जा उतरता और गाहबवाल शक्ति का वही हाल हुआ जो कभी गुप्तों का हुआ था। मुहम्मद गोरी, कुतुबउद्दीन ऐबक की हरावल लिए मेरी और बदा और उसने मेरे द्वारों, प्राचीरों, शिखरों और कनक बंगूरों को तोड़ दिया। नगर और जनपद में कोहराम मच गया। काशी कण्ठ लेने वाले मेरे भक्तों में से एक सामने न आया और मोहम्मद ने मुझे भरपूर लूटा। अनन्त धन चिरकाल से मेरे मन्दिरों और ऋद्ध भवनों से संचित पड़ा था। असीम रत्नराशि बाणिज्य और भक्ति की राह मेरे नगर में धारा सार गिर कर बनी थी, अब वह सारी ऊँटों पर लद चली और वह मेरी विभूति लाद कर जाता हुआ, ऊँटों का कारवाँ आज भी मेरी स्मृति का आकाशचुम्बी आलोक स्तम्भ है।

मुहम्मद तो लौट गया, यद्यपि मेरा सारा जनपद अब उस दिल्ली की सल्तनत के आधीन हुआ जिसके तल्ल पर तुर्कों का गुलाम राजकुल बैठ चुका था; परन्तु उसके लिए मुझे कुछ ग्लानि नहीं। राजनीति में धरा का अप्रतिवाद यातायात स्वाभाविक है। मैं उस विनयन की पक्षपातिनी चाहें न होंऊँ, उसका परिणाम मुझे निरन्तर भोगना पड़ा है। परन्तु स्तब्ध जो मैं हूँ तो इस बात पर कि अपने अठारह सवारों के साथ इतने बड़े शत्रु राष्ट्र को रौंदता हुआ, बलितयार किस तरह मेरे पास से ही निकल गया। किस तरह उसने उस सेनपंशीय शहनशसेन को अपने प्रासाद के पिछले द्वार से भागने पर मजबूर किया, जिसने अपनी भुक्की प्रशस्ति में प्रयाग और काशी में विजय-स्तम्भ स्थापित करने की बात खुदथाई थी। उसकी विलासिता की हद्दें न स्वयं उसने बरन् उस जयदेव ने भी तोड़ दी थीं जो अपने उस गेय गीतगोविन्द के से संस्कृत साहित्य के अप्रतिम काव्य में, अपने देवता तक को नंगा करने से न चूका था।

मुसलमानी शासन के आरम्भ के दिन मेरे कठिन होते क्योंकि न तो शासकों को अपनी लूट से अभिवृत्ति थी, न मुझे ही निरन्तर लुटते रहने की आदत पड़ गई थी। दोनों में से कोई भी एक स्थित सिद्ध हो जाने तक मेरी आकुलता मिट जाती, परन्तु चाँकि स्थिति डाँवाडोल थी, मेरा चित्त भी व्याकुल ही रहने लगा। ऐबक के दिल्ली में प्रतिष्ठित हो जाने पर निश्चय हुकूमत में कुछ स्थिरता आई, परन्तु विजेता की जो समस्याएँ होती हैं, वही समस्याएँ ऐबक या उसके उत्तराधिकारियों की थीं। मंगोलों के निरन्तर धावे उत्तर-पश्चिम की ओर होते रहते थे। उनसे दिल्ली की रक्षा करना स्वयं एक बड़ी बात थी। पर उसी कारण इधर पूरब में चीना-भारती भी लूट होती रही। जो मुसलमान सरदार इधर शासक बनाकर भेजा जाता, वही मनमाने ढंग से मुझे चुसने की कोशिश करता।

बलबन के शासन काल में बंगाल ने स्वतंत्रता घोषित कर दी और वहाँ के प्रान्तीय शासक तुग़लक ने अपने को बादशाह एलान कर दिया, अपने नाम के तिकके दलवा लिए। बलबन जल-भुन गया, परन्तु उसने दो दो बार जो अपनी सेना भेजी तो दोनों बार उसे अपनी मुँह की खानो पड़ी, तब वह खुद सेना लिए बंगाल की ओर चला। अयोध्या की ओर से बढ़ता हुआ, मेरी राह ही, वह बंगाल गया और उसकी सख्ती तथा क्रूरता का जो बयान मैं सुन चुकी थी, उससे उसके आगमन से मैं नितान्त संकित हो उठी। पर भाग्य अशुभ था, बदायुनीजी ने उसके बदन में आग भड़का दी थी और उसे किसी और बात को सोचने का समय न था, मैं बाल-बाल बच गई। खिलजियों के पहलें और पीछे दिल्ली की स्थिति फिर डाँवाडोल हो गई और उन दिनों दिल्ली दूर के प्रान्तों पर अपनी हुकूमत न रख सकी। तभी मैं भी पूर्ण के नागी मुसलमान सरदारों के हाथ में आती-जाती रही और उनकी मेहमानदारी का जय

तब फल भोगती रही। मुहम्मद तुगलक के बाद उसी के नाम पर किरोज-शाह ने जौनपुर का नगर मेरे पड़ोस में ही बसाया जो पिछले दिनों में न केवल सूबे का प्रधान नगर बना बरन् शरकी बादशाहों की राजधानी भी। मालवा, गुजरात, बिहार, बंगाल, जिस तरह दिल्ली की पकड़ कमजोर पड़ते ही स्वतंत्र हो गए और उन्होंने अपनी अपनी आज़ाद बादशाहतें खड़ी कीं, उसी तरह जौनपुर का शरकी खान्दान भी आज़ाद हो गया और उसने भी अपनी बादशाहत की बुनियाद वहाँ डाली। तब से जौनपुर के भाग्य के साथ ही मेरी किस्मत भी बँधी और उसी के साथ कमजोर और मजबूत दिल्ली का बंधन मुझ पर पड़ता रहा। बाबर के आगमन तक बराबर मेरी यही स्थिति रही और मुगल सल्तनत के कायम रहने के बाद ही वह कुछ सँभली।

बाबर ने जिस समय दिल्ली पर अधिकार किया, उस समय बंगाल, बिहार और अबध तीनों अफ़ग़ानों के केन्द्र हो गए थे। बिहार के अफ़ग़ान दिल्ली की सल्तनत के होसले करते थे और जौनपुर की बादशाहत खुद कुछ कम दावेदार न थी, पर बाबर ने उनकी एक न चलने दी। इब्राहीम लांधी के भाई जब जौनपुर और बिहार के अफ़ग़ान सरदारों को लेकर दिल्ली की ओर बढ़ा, तब मुझे ऐसा लगा कि शायद अफ़ग़ानों का अधिकार फिर दिल्ली पर हो जाएगा, पर बाबर ने जिसने वचन से ही लड़ाइयों में साँस ली थी, उसे धरनाद कर दिया। जुनार पर अफ़ग़ानों का कब्ज़ा तो था ही, पर अबध उनके हाथ से निकल गया और शेरखाँ जो बाद में शेरशाह के नाम से बाबर के बेटे हुमाँयूँ से गद्दी छीन, उस पर बैठा मेरे नगर में ही बँटा डाले हुए था, पर बाबर के आते ही, उसके सरदार भी तितर-बितर हो गए और खुद शेरखाँ गंगा पार कर, रोहतास की ओर गायब हो गया। बाबर मेरी ही राह, जुनार लेता, बक्सर जा पहुँचा और पूर्वी अफ़ग़ानों

को कुचल कर आगरे लौटा। अब मैं फिर दिल्ली की सल्तनत में दाखिल हुई।

शेरशाह ने बाबर के मरने के बाद ही अपनी महत्वाकांक्षा को चरितार्थ करने के इरादे, पक्के कर लिए और यह नगर पर नगर जीतने लगा। जौनपुर की बादशाहत भी उसने खत्म कर दी। मुक्त पर भी उसका अधिकार हुआ, बिहार तो वह कब का ले चुका था। हुमायूँ उन दिनों मालवा और गुजरात सर कर रहा था और उधर से जब वह लौटा तो आगरे में ऐश करने लगा। इधर शेरशाह चुनार को अपना केन्द्र बनाने में व्यस्त था। पूर्वी इलाकों को इस तरह शत्रु के हाथ में जाते देख, हुमायूँ जब सँभजा तब पूरव की ओर चला। मेरे नगर में ही उसने पड़ाव डाला। चुनार लेकर वह बिहार पहुँचा और वहाँ से बंगाल। पर बंगाल ने फिर वह भोग विलास में डूब गया। इधर कलौज तक के सारे इलाकों में कब्जा कर शेरशाह ने उसके लौटने का नाका-नाका बन्द कर दिया। चौसे में जो दोनों सेनाओं में भिड़न्त हुई तो हुमायूँ को भागने का ठौर न मिला और किसी तरह झूँटा-उतराता एक भिड़ती की मदद से गंगा पार कर, उजियार बाट की ओर से फिर मेरी ओर अकेला भागा। मेरे पास ही सारनाथ में उसने पनाह ली। उसी सारनाथ में जहाँ पहले बुद्ध ने धर्म-चक्र-प्रवर्तन किया था, अशोक ने अपने स्तूप और स्तम्भ खड़े किए थे और गहड़वालियों ने अपने अभिलेख खुदवाए थे। उसी पनाह के स्मारक स्वरूप बाद में उसके बेटे अकबर ने एक प्राचीन खोतले स्तूप के ऊपर एक छोटी सी इमारत बनवा दी।

मैं अब शेरशाह की हिफाजत में थी। मैं यह प्रसन्नता के साथ कह सकती हूँ कि यद्यपि शेरशाह स्वयं सख्ती में किसी से कम न था, अपने मजहब के उसूलों का भी वह गजब का पान्द्र था, पर उसने हिन्दू-

मुसलमान अपनी दोनों प्रजाओं के साथ न्याय किया और कभी किसी को मेरे मन्दिरों पर हाथ न लगाने दिया। मैं अपने पिछले अनुभव के कारण शक्ति जकड़ थी, पर फिर भी सहमी-सहमी रहती हुई भी मैं साधारणतः सन्तुष्ट थी। हिन्दी का पहला महाकाव्य 'पद्मावत' अवध के जायस में, मालिक मुहम्मद जायसी ने शेरशाह के ही जमाने में लिखा। शेरशाह दिल्ली का सुल्तान हुआ। बिहार, बंगाल, मालवा, गुजरात, पंजाब और राजपूताना अपनी जिस सेना के साथ उसने सर किया उसकी हराबल से, मेरे जनपद की कितनी ही प्रजा और मेरे नगर के कितने ही नागरिकों ने कठिन लड़ाई लड़ी थी। शेरशाह के पिछले उत्तराधिकारियों के हाथ से जब हुमायूँ ने ईरान से लौट कर फिर दिल्ली ले ली, तब ऐसा लगा कि मैं सम्भवतः दिल्ली में ही फिर मिला ली जाऊँगी मगर कम से कम कुछ काल तक ऐसा हो न पाया। अक्षर, हुमायूँ का तेरह साल का बेटा, अभी बालक था और दिल्ली के पूरब-दक्खिन का सारा हिन्दुस्तान फिर आभाद हुसूमतों में बँट गया था। बिहार-बंगाल के अफगानों ने फिर एक बार दिल्ली की सल्तनत के लिए मुगलों से कशमकश शुरू की, यद्यपि उसका कुछ परियाम उनके पक्ष में न हुआ। अफगानों का सरदार जब रेवाड़ी का हिन्दू भागव बना, हेमचन्द विक्रमादित्य, तब मुझे बड़ी आशा बँधी।

भारतीय इतिहास में विक्रमादित्यों ने अपना यह भिरुद, विदेशियों को देश से निकाल कर अपना मुल्क आजाद कर ही धारण किया था और मुझे ऐसा लगा कि हेनू भी कुछ कर गुजरेगा और वह कुछ कर गुजरता भी, मगर भाग्य उसके बुरे थे। पाँसा पलट गया। जिन खूँखार पठानों को हाथ में रखना पठान सरदारों के लिए भी कठिन हो गया था, उनको तो उसने आसानी से अपने अँगूठे के नीचे कर लिखा और उन्हीं की हराबल बना आगरे और दिल्ली को भी उसने बात की

बात में ले लिया पर धोसे से तोपखाना छिन जाने के कारण पानीपत के मैदान में न केवल मैदान ही बल्कि उते अपनी जान तक खोनी पड़ी। और अकबर का दिल्ली-आगरे पर कब्जा हो गया। मैं भी फिर दिल्ली की मातहत हुई।

पूर्वी इलाके बार-बार सिर उठाते रहे, बार-बार उन पर तलवार बरसती रही, पर मैं जमाने की रक्तार देख चुनचाप सिर झुकाए पड़ी रही। अकबर पठने, सुनार और इलाहाबाद आया। मैं राह में पड़ी, पर मैंने कभी उसकी मुखालफत करने की कोशिश न की। वास्तव में जीवन में मैंने कभी लड़ाई न लड़ी थी। लड़ाई, मेरे बूते के बाहर की बात थी। मैं बराबर अपने आक्रमणों के सामने सिर झुकाती रही। बाबर आया—तब मैंने सिर झुका दिया; शेरशाह आया तब और अब जब अकबर आया तब भी मैंने अपना रुत न बदला। अकबर के विचार उदार थे। हिन्दू प्रजा उसके आचरण से आरबस्त हुई और यद्यपि हिन्दुओं की नाक मेवाड़ दिल्ली से लड़ता रहा, अकबर का अभय हस्त मेरी चांटी पर बना रहा।

अकबर की बात यही छोड़, मैं फिर एक बार तिहावलोकन करूँगी। मैं पहले कह आई हूँ कि यद्यपि राजनीतिक दृष्टि से मेरा पलड़ा कभी विशेष भारी न हुआ, सांस्कृतिक दृष्टि से मैं बराबर महान् बनी रही। भारतीय संस्कृति, ज्ञान और विज्ञान के कितने ही पंडित मेरी नगरी में समय-समय पर आए और उन्होंने अपनी मेधा से मेरा भण्डार भरा। चिरकाल से जो मैं पुण्यतीर्थ का गौरव प्राप्त कर चुकी थी, परावर दक्षिण-उत्तर से, पूर्व-पश्चिम से यशस्वी दार्शनिक आते और अपनी एक से, अपने तर्क और ज्ञान से मुझे प्रकाशित करते रहे, पर स्वयं मैंने भी कुछ कम मेधावी उत्पन्न न किए। सरस्वती का असाधारण लाड़ला; दर्शन का अप्रतिम आचार्य, दक्षिण का अप्रतिम वक्ता, शंकर

जब सुदूर केरल से चलकर, अपनी शानमय दिग्विजय से भारत को मुग्ध करता, मेरे नगर में पहुँचा और उसने मेरे दार्शनिकों को शास्त्रार्थ की चुनौती दी, तब मण्डन ने उसकी बागधारा रोक दी, यद्यपि वह उसे हरा न सका। परन्तु मण्डन मिश्र की पत्नी ने उस अद्वितीय मेधावी आचार्य शंकर को परास्त कर दिया। शंकर चकित हो विजित हो गया। चकित तो वह मण्डन के भवन में प्रवेश करते ही हो गया था। जब उससे उस भवन के शुक्र शारिकाओं ने अपने निरन्तर के ब्रज घोष को रोक उससे उसके कल्याण की बात पूछी।

कुमारिल भट्ट भी जैनों का परान्वय करता, उसी काल प्रायः नवीं सदी में यहाँ आया और अपने रसार्थ से उसने भी मुझे महिमा दी। अप्यय, दीक्षित आदि बैयाकरणों ने सुदूर दक्षिण से आकर मेरे चरणों में निवास किया। रामानन्द मेरी ही सीढ़ियों पर ब्राह्म मुहूर्त में कबीर से टकरा गए थे और मेरे ही तट पर, उन्होंने उस सत्य के दर्शन किए थे कि स्पर्शमात्र से किसी का धर्म परिवर्तन नहीं हो जाता। इसी धारणा के बशीभूत हो उन्होंने अयोध्या में जा, उन हजारों हिन्दुओं को सरयू में मन्त्र दे शुद्ध किया जो इस्लाम की अनीति से मुसलमान हो गए।

और उन्हीं रामानन्द का चेला वह कबीर या जो न केवल हिन्दू-मुसलमानों की एकता का स्तम्भ था बल्कि दो महान् संस्कृतियों का सन्धि स्थल भी। उस कबीर ने भी अपने 'सबद', 'साखी' और 'उलट-बाँतो' यही मेरी ही जमीन पर कहे। मैं मानती हूँ, हिन्दी में अनेक कवि हो गए हैं जो कबीर से मधुर शब्द योजना में कहीं ऊँचे थे, परन्तु मुझे जो इस पर गर्व है तो उसके बागाडम्बर पर नहीं, बल्कि उसकी उस महानता पर जो सामाजिक दृष्टि से अपना सानी नहीं रखती। इस्लाम के भारत में आने के बाद, उसकी और इस देश की संस्कृतियों में संघर्ष छिड़ गया। संघर्ष के बाद बराबर-समन्वय होता है। उस

सर्पार और विशेषतः उसके समन्वय का एक मात्र प्रमाण वह कबीर था, जिसने सत्य की निरन्तर खोज की और हिन्दू-मुसलमान दोनों की कमजोरियों को बिखारने से वह न चूका। राम और रहीम, मन्दिर और मस्जिद, सबको उसने मानवता की कोर पर कस कर, नगण्य सिद्ध कर दिया। उस कबीर का जीवन इतना पवित्र, इतना न्यायसम्मत और स्वार्थहीन था कि उसके मरने पर यह निश्चित करना कठिन हो गया कि वह हिन्दू था या मुसलमान। आज के प्रगतिशील समाज शास्त्रियों का उस सुदूर अतीत में ही वह अप्रमणी इना, निर्भोक पथ-प्रदर्शक।

अकबर के समय फिर मेरी नगरी में उस महामति का प्रादुर्भाव हुआ जो तुलसी के नाम में इतिहास में प्रसिद्ध हो गया। तुलसी का एक नाम है जो जन-जन की जयान पर है, जैसे उसके रामचरित मानस का नाम जन-जन की जिह्वा पर। अकबर का साम्राज्य था, वह हिन्दूकुश से अहमदनगर और उड़ोसा से गुजरात-काठियावाड़ तक फैला, परन्तु इतने विस्तृत साम्राज्य में कोई इतना महान् न था जितना अस्सी घाट का वह बैरागी तुलसीदास। मेरे ही उस अस्सी घाट पर उसने अपना प्रातः पठनीय वह अपूर्व रामचरितमानस रचा और उसी से थोड़ी दूर पर संकटमोचन हनुमान की मूर्ति की उसने प्रतिष्ठा की। यद्यपि हिन्दी की बोल-चाल की भाषा में पहला महाकाव्य लिखने का श्रेय अवध के एक मुसलमान महाकवि को है, परन्तु तुलसीदास का महाकाव्य काव्य-क्षेत्र में अपना खानो नहीं रखता। रामचरितमानस द्वारा राम को कथा तुलसी ने जन-जन तक पहुँचाई। बुद्ध के बाद कम विचारकों ने देश की बोली में अपना सन्देश अपने देशवासियों तक पहुँचाने का संकल्प और प्रयत्न किया। तुलसीदास उन्हीं विरले जन-हित साधकों में से थे। हाँ, उसका दुष्परिणाम भी कुछ कम न हुआ। तुलसीदास के पास अनुवृत्त, मेधा, शब्द, जन-कल्याण की कामना,

गरज की वे सभी साधन थे, जिनसे लोक-कल्याण गहरी मात्रा में सम्पन्न हो सकता था, परन्तु उन्होंने पुरानी बोटल में नई शराब भर दी। जनता ने उन्हें पढ़ा बहुत, लेकिन पढ़ कर पाया क्या? काल्पनिक रामकथा, अव्यवस्थित रामराज्य। उन्होंने दिनों मालवा और मेवाड़ दिल्ली से लोहा ले रहे थे, राजबहादुर और राणाप्रताप अपने देश की स्वतंत्रता की रक्षा के लिए दर दर ठोकरें खाते फिर रहे थे, पर मेरे उस असामान्य विरागी ने एक शब्द भी उस कठिन पार्थिव बलिदान की बात न कही। उसकी भद्रा बंजर भालुओं के काल्पनिक कर्तव्यों में ही खो गई। काश, अपनी शक्ति का उपयोग उसने अपने समकालीन कर्मठों के प्रयत्नों के अनुकूल किया होता!

जहाँगीर और शाहजहाँ हिन्दू रानियों के बेटे होकर भी मुक्त पर तेवर बदले रहे। जब वे बादशाह हुए तब मैंने सोचा था कि अकबर की लगाई हिन्दू-मुस्लिम एकता की बेल फूटने-खलने लगे, परन्तु उनके तेवरों ने उसे मुलसा दिया। शाहजहाँ के रूप ने तो मुझे मजबूर कर दिया। मेरे नए मन्दिर जहाँ तक बन पाए थे, वहीं तक बने खड़े रहे। उनका काम उसने रोक दिया, यद्यपि उसकी बेगम के मकदरे के लिए मैंने थोड़ा धन न दिया। ऊँटों पर लदकर बेहिताब धन मेरे नगर से आगरे को गया, जहाँ ताजमहल का रौजा खड़ा हो रहा था और जिसके निर्माण में न केवल इस देश की प्रतिभा लगी थी, वरन् इसके तत्त्व नित्य सैकड़ों की तादाद में उस पर बलि हो रहे थे।

परन्तु शाहजहाँ के ही शासन के उत्तरकाल में मुझे कुछ राहत मिली, वह दो जनों की कृपा से। वे दो जन थे—पंडितराज जगन्नाथ और शाहजहाँ का अवेष्ट पुत्र दाराशिकोह। पंडित जगन्नाथ विछले काल के संस्कृत साहित्य का बिलक्षण पंडित था। शाहजहाँ ने उसे संरक्षा दी थी और उसने अपनी मेधा साहित्य सर्जन में लगाई।

पंडितराज कितना सौख्य, कितना विलासी था यह शाहजहाँ के सम्बन्ध से ही लिख है और उसकी बात मैं न कहूँगी। उसका रहस्य मेरे पाठ की सीढ़ियों से कोई पूछे, जहाँ उसने ब्राह्मण होकर भी उस पाप का आचरण किया, जिसके प्रायश्चित्त में उसे उन्हीं सीढ़ियों पर गंगा की प्रशस्ति गानी पड़ी। पर हाँ, मैं यह अंगीकार करती हूँ कि कालिदास की परम्परा में बढ़ने वाली काव्य की मेधावी शृंगारता की वह आखिरी कड़ी था।

दाराशिकोह मुतलमान हो कर भी मेरी संस्कृति का उपासक था, विशेषकर मेरे उपनिषदों का। त्रिवेणी के संगम पर, गंगा के तट पर उसने कुछ उपनिषदों के फारसी अनुवाद कराए उनमें मेरा हाथ भी था। मेरे पंडितों ने भी उसमें योग दिया था। शाहजहाँ का उसके व्येष्ट पुत्र होने के कारण मेरे भीतर कुछ आशा का संचार हो आया था। अकबर ने जो कुछ किया वह अपने औदार्य के बशीभूत होकर पर यह तरुण संस्कृति के ज्ञान से प्रभावित था और यह मैं आशा कर चली थी कि मेरे पुनरुद्धार में अकबर से वह एक कदम आगे बढ़ जाएगा, परन्तु खेद कि उसकी संदारता और रंगजेष की कट्टर पैशाचिकता में डूब गई!

बड़े बाप के रहते ही बेटों ने बंगाल, गुजरात और दक्कन में अगाधत की। मुरादचकश ने गुजरात में ही अपने को बादशाह एलान कर दिया, शाहशुजा ने बंगाल में दिल्ली की बादशाहत का अपने को एकमात्र अधिकारी घोषित कर, आगरे की ओर कदम बढ़ाया; परन्तु मेरी नगरी से आगे पश्चिम की ओर वह न बढ़ सका। दाराशिकोह ने राजा जय सिंह को शीघ्र पूरब भेजा और मेरे नगर के बाहर ही शाहशुजा का कैदना हो गया। शाहशुजा बहादुर था, समझदार भी कुछ कम न था मगर उसके शारीरिक निर्माण में हुमायूँ और जहाँगौर का खून अधिक था,

चाकर का कम। बंगाल में सिपाय विलास के, नारी और शराब के उसने कुछ न जाना था और मेरे नगर के बाहर भी जब उसने अपने स्क्वायर लड़े किए तब उसके आपान से आसपास की भूम गौली हो गई। शराब के दौर और घुंघरू की आवाज ने उसके सिपाही के कर्तव्य भुला दिए। अभी पी तक न पटी थी। सुबह का अंधेरा सर्वत्र फैला हुआ था कि जयसिंह ने यकायक शुजा पर हमला किया। शाहशुजा की शराब की खुमारी अभी चेहरे पर छाई हुई थी कि दुश्मन ने उसकी कौज को खितर-खितर कर दिया। उसको जिधर राह मिली, उधर ही वह भागा। खुद शाहशुजा ने घोड़े पर बैठ दूरव की राह ली और मैने खुद उसे सरपट भागते बंगाल की ओर देखा। यद्यपि वह बच न सका और उसे सपरिवार अपने प्राण आसाम के बर्बरों के हाथ लोने पड़े। हिन्दुस्तान की मुगलों की लड़ाई में यह मेरा आखिरी दिस्सा था।

मुगल साम्राज्य की एक याद कुछ मामूली तकलीफ की नहीं। मुझे इस बात की खुशी थी कि मुगलों ने इस देश को अपनाकर इसमें सही हुकूमत की पीध लगाई और उन्होंने मजहबी कट्टरता काभी मात्रा में दबा दी, पर औरंगजेब ने मेरी आशाओं पर पानी फेर दिया। उसकी कट्टरता का मुलागाते रहने वालों की, उसके दरबार में कमी न थी, उन्होंने उसे समझाया कि मेरी नगरी हिन्दुओं की नाक है और हिन्दू कट्टरता बराबर यहाँ मौज भारती और सल्तनत तथा इस्लाम के विरुद्ध पड़्यन्त्र रचती रहती है। फिर क्या था औरंगजेब बड़ा। उसकी क्रोधामि में पहली आहुति मथुरा की पड़ी, फिर दिन-रात की मंजिलें एक कर वह मेरे नगर में आ धमका। मेरी बरबादी जितनी अब हुई उतनी कभी न हुई थी। मेरे सारे मन्दिरों के मस्तक उसने चूर-चूर कर डाले। विश्वनाथ का मन्दिर तोड़ उसने मस्जिद बना दी। माधोदास का धरहरा मीनार बन गया और सारे नगर में उसकी लूट

से कोहराम मच गया। एक से एक ब्राह्मण कुलावतंत मेरे नगर में थे, एक से एक आन-निवाहने वाले क्षत्रिय थे, एक से एक भाभासाही वैश्य, पर कोई न टिका। मेरे शिराली कुएँ में बूढ़ पड़े और मेरे रक्षक नंगा की भाँखों पर। भैरव के उपासक लंगोठ बन्द भेंगेड़ी जो निरन्तर अपनी कादिली से सौँदों का जीवन पिताते थे, अनेक मौत के घाट उतर गए। एक ने लौट कर अपने भैरव को न देखा। सैकड़ों ऊँटों पर लद कर लूट का धन मेरे नगर से दिल्ली की ओर चला। मैं आह ! करके रह गई। मैंने देवता मनाए, अपने रक्षक कोतवाल भैरव को बार बार पुकारा, पर किसी ने मेरी आवाज न सुनी और मैं लहलुहान हो, एक बार फिर फिर पटक-पटक रोई और फिर पर्याप्त बेकार समझ चुप हो रही।

इसके बाद का मेरा इतिहास न तो कुछ विशेष विस्तार का है न अलाभारण्य चमत्कार का। मराठों ने औरंगजेब को लोहे के चने चढ़ा दिए थे और शिवाजी जब आगरे की कैद से भाग कर दक्खिन चले तो मधुरा और प्रवाग होते दो दिन के लिए मेरे नगर में भी विभ्राम किया। फिर मराठों ने जो उत्तर भारत पर छापे मारने शुरू किए तो मैं भी अनेक बार उनके अधिकार में आई। मेरे नगर में उन्होंने भी कुछ मन्दिर खड़े किए पर बंगाल में जो विदेशी तूफान उठ रहा था उससे वे भी अपनी रक्षा न कर सके। फिर्ंगी राज कम्पनी की सौदागरी सीमा से उठ कर सस्तनत के रुम में बढ़ चला था। पहले अंग्रेजों ने फ्रान्सीसियों से लोहा लिया, सफल लोहा लिया फिर भारत के रजवाड़ों से और अब बंगाल के शाही खानदान को ज़ासी में मडियामेट कर वे दिल्ली के बादशाह और अवध के नवाब की सम्मिलित सेनाओं को भी वे वक्तर की लड़ाई में हरा चुके थे। इस जीत से उन्हें बंगाल,

बिहार की दीवानी मिल गई और मैं दिल्ली और अवध के हाथ से निकल कर अंग्रेजों के हाथ में चली गई।

फिर जब अष्टारहवें सदी के चौथे चरण में इस्टिम्स ने अवध की बेगमों के साथ बेजा बर्ताव किया तो मुझे भी नंगी करने में उसने कोई कोर-कसर न रखी। मेरे राजा चेतसिंह ने, जो उसे ननमाना कर देने से इन्कार कर दिया तो वह मेरे नगर में आया और मेरे नागरिकों ने उसे मार भगाया और उसे चुनार में पनाह लेनी पड़ी। यद्यपि वह फिर लौटा और उसने बदला भी भरपूर लिया, पर मैं मन से उसकी न हो सकी और १८५७ के ग़दर में मैंने भी कुछ कन हाथ न दिखाए। मेरी छावनी के सिपाही भी जागी हो गए, और उन्होंने भी आजादी की उस पहली लड़ाई में कन हाथ न बटाया; पर उसका जो हथ हुआ वह बताने की बात नहीं। हिन्दुस्तान की हुकूमत कम्पनी के हाथ से निकल कर पार्ल-मेन्ट के हाथ में चली गई और साथ ही मैं भी।

उसके बाद का मेरा इतिहास देश का इतिहास है, आजादी की लड़ाई, काँग्रेस के अधिवेशनों का, हिन्दुस्तान की जीत का, मेरी स्वतंत्रता का। मैंने बहुत कुछ देखा है, बहुत कुछ सहा है; अब भी देख रही हूँ, अब भी सह रही हूँ। मेरी गलियों में एक से एक कारुड हुए, धर्म और अपचार के। मैंने एक से एक नागरिक उत्पन्न किए, धीरे और कायर, सच्चे और पाखण्डी, जिनकी कमी आज भी मेरे नगर में नहीं। परन्तु मेरी वास्तविक स्थिति यह कहावत सच करती है जो मेरे हर जानने वाले की जवान पर है—

राँड़, साँड़, सीढ़ी, सन्यासी
इनसे बचे तो सेवै काशी



अयोध्या

भारत की सात प्राचीन नगरियों में मेरी गणना पहले होती है। यद्यपि मैं आर्यों के आदिम भारतीय आवास से दूर हूँ तथा मेरी नगरी में पुनीततम आर्य राजकुल की प्रतिष्ठा हुई—सूर्यराजकुल की। सम्भवतः संधर्ष स्थल से दूर होने के कारण मेरी अजेयता मानी गई और इसी कारण, मेरी संज्ञा भी शायद 'अयोध्या' हुई। मेरे सूर्यवंशी राजाओं में से कई के वंश का गान ऋग्वेद तक में हुआ है। हरिश्चन्द्र, माण्डात्री आदि मेरे ही राजकुल के नायक थे।

मेरा इतिहास अधिकतर आधुनिक ऐतिहासिक प्रामाणिकता का सम्बोधक नहीं और मुझे डर है कि यदि ऐतिहासिक प्रामाणिकता आदि

से मेरी प्राचीनता पर विचार किया जाय, तब मेरा अपने को बहुत प्राचीन सिद्ध करना कठिन हो जाएगा। परन्तु मेरी आनुवृत्तिक परम्परा न केवल अकाट्य है बल्कि प्रायः प्राचीनतम भी। जिस इच्छाकु कुल की प्रतिष्ठा मेरी नगरी में हुई, उसने भारत के अलिखित प्रारम्भिक इतिहास की नींव डाली है। प्राचीन कथाओं और अनुवृत्तों में जो स्थान रघुकुल का रहा है, वह इस देश के किसी और राजकुल का नहीं और वह मेरी ही नगरी में पहले प्रतिष्ठित हुआ।

तिथि और क्रम की छानबीन करने वाले इतिहासकारों का निश्चय यह समझ पाना कठिन है कि यदि आर्य प्रगति का प्रसर मन्द हुआ और यदि मेरे प्रारम्भिक राजा, ऋग्वेदिक राजाओं के अग्रणी हैं, यदि उनका दशगान आर्यों की प्रथम पुस्तक उस ऋग्वेद में हुआ, यदि भौगोलिक सीमाएँ पूर्वी पंजाब तक ही आती हैं तब तो कठिनाइयों की कमी न होगी और मैं यह प्रमाणित करने का प्रयत्न भी न करूँगी कि ऋग्वेदिक स्तरों के ऊपर निर्भर कर भौगोलिक सीमाएँ निर्धारित करना उचित न होगा। हाँ, इतना मैं जरूर कहूँगी कि न केवल सरसों की यमुना का बल्कि मेरी सरयू का भी उल्लेख ऋग्वेद में है, जिसके तट पर मैं लड़ी हुई और वह राजकुल प्रतिष्ठित हुआ। अस्तु।

रघुकुल की प्रतिष्ठा और उसकी राजनीति का दक्षिण-पथ की ओर प्रचार वस्तुतः इतिहास का इतना नहीं, जितना अनुवृत्त का विषय है। उस सम्बन्ध में केवल इतना कह कर सन्तोष करूँगी कि राम की दक्षिण यात्रा में, सुदूर दक्षिण में भी मेरी कथाति थी और उधर के मार्ग मेरे वशित्व और विस्तार के लिए खोल दिए। राम के पिता दशरथ के समय ही आर्यों में जो युद्ध छिड़ा था, वह कुछ इतना ही भयंकर था जितना पिछले काल का महाभारत। इसमें दस राजाओं ने भाग लिया था और इसी से उसकी संज्ञा 'दस राजयुद्ध' पड़ी। इस युद्ध में मेरे वृषति

ने तो भाग न लिया, परन्तु इसका नायक पंचाल का सुदास, मेरे दशरथ का पूता था और सम्भवतः मिथ के रामसेज या अस्सुर के अम्युरावी का समकालीन ।

रघुकुल की दिग्विजयों और कीर्ति कथाओं को मैं अपने पाठकों और भोक्ताओं से महाकाव्यों और पुराणों से जानने का संकेत कर मैं अपने अगले इतिहास के पन्ने खोलूँगा । उस कुल के विस्तार की अन्तिम सीमाएँ राम ने खींची । उसके बाद धीरे धीरे उसकी अव्यवस्था ही होती गई । इस संबंध में एक बात मैं यह कहना चाहूँगी कि काव्यों और पुराणों में जो रघुकुल के मेरे इस केन्द्र से उनके साम्राज्य के अतीत भू-खण्डों तक फैल जाने की बात लिखी है, वह मेरी जानकारी की नहीं । यदि सचमुच इस प्रकार का कोई राज्य विस्तार तत्सिला अथवा दक्षिण तक हुआ तो वह अस्याई या और जो था भी, वह निश्चय पड़ोसी राज्यों की स्वीकृति के अनुकूल, यद्यपि यह सम्भव है कि वे राज्य, कुछ काल के लिए इतने कमजोर पड़ गए हों कि मेरे अप्रतिरथ स्वामियों के रथचक्र अबाध उनसे होकर दीड़ गए हों । सच तो यह है कि न केवल सिन्धु और उसकी सहायक नदियों के तट पर बरन् मेरे चारों ओर शक्तिमान राजकुल प्रतिष्ठित थे और राजनीति में उनका अतिक्रमण करना मेरे लिए, मेरे अप्रतिम सूर्य राजकुल के लिए भी सम्भव न था । एक ओर तो पंचालों का वह राजकुल प्रतिष्ठित था जिसके राजा सुदास ने दास राज्य मुद्रा जीतकर अपना नाम प्रसिद्ध किया था । दूसरी ओर मिथिला के विदेशों का वह प्रख्यात राजकुल था, जो प्रायः मेरे राजकुल के साथ ही प्रतिष्ठित हुआ था और जिससे मैंने जब तब वैवाहिक संबंध जोड़े । तीसरी ओर मगध में बहु दारा प्रतिष्ठित गिरिज में वह राजकुल था, जिसने भारत में पहला साम्राज्य स्थापित किया, जिसके जरासन्ध से यशस्वी राजा हुए और जिसकी चोट से मेरे राजवंश का अन्त हो गया ।

रामायण और महाभारत के बीच का मेरा इतिहास यद्यपि उतना ज्वलन्त नहीं, जितना पहले का है, तथापि वह नगण्य भी नहीं और मेरे राजकुल की गणना फिर भी देश के अग्रणी वंशों में होती रही। महाभारत काल में कुरुओं और मागधों की शक्ति इतनी बढ़ी कि कुरुओं ने अपने तेज से मुझे निरस्त कर दिया और मागधों ने तो मेरे कुल की प्रायः समाप्ति ही कर डाली। मेरी स्वतंत्रता नष्ट कर उसे अपने साम्राज्य में मिला लेने का श्रेय मगध के जरासन्ध को है, यद्यपि मेरा बृहद्रथ और जरासन्ध का बेटा, सहदेव दोनों महाभारत के युद्ध में लड़े थे और दोनों ने वहाँ सद्गति पाई।

मेरा कौशल नाम पुराना है, काशी पुराना, कम से कम कौशल्या और दशरथ के बराबर पुराना। कौशल्या की याद के साथ ही मुझे उस सामाजिक संबंध की भी याद आती है जिसके विरोध में रामायण ने पिछले काल में असंगोत्र विवाहों की प्रतिष्ठा की। तब तक मेरे नगर और आर्यों में संगोत्र विवाह भी कुछ कम प्रचलित न था। कम से कम मातृकुल से तो कन्या बराबर ली जाती थी, चाहे माता से उसका संबंध निकटतम क्यों न हो। जिस कौशल्या का विवाह दशरथ से हुआ वह कौशल के ही राजपरिवार की कन्या थी। जैसे तो न केवल महाभारत काल में ही ऐसा हुआ कि कृष्ण ने रुक्मिन की बहन से विवाह किया और उनके बेटे प्रद्युम्न ने रुक्मिण् की बेटी से, वरन् पिछले काल में शाक्यों में तो यह प्रथा काफी ज़ोर पकड़ गई थी। यह कुछ अजब न था कि गौतम बुद्ध के पिता शुद्धोदन ने जिसकी पहिन माया से विवाह किया, उनके पुत्र बुद्ध ने उसी की कन्या यशोधरा को ब्याहा। शाक्य कौशल के उस सूर्य कुल की ही एक शाखा थे जिसके आदि पुरुष यम को उसकी सहोदरा ने उससे विवाह न करने के कारण भूख और आचार विष्वंसक कहा। रामायण की परम्परा में जिस सामाजिक और वैवाहिक

नीति का प्रचलन किया, वह कालान्तर में वैसे मुझे भी संगत जान पड़ा और मैंने भी उसे मान्य समझा।

बीच का इतिहास मुझे भूल गया। वास्तव में सदियों इतनी बीती हैं कि दूर की घटनाओं का विस्मृत हो जाना कुछ अजब नहीं। ईसा पूर्व सातवीं आठवीं सदियों से फिर मेरी स्मृति लौट पड़ती है और मेरा इतिहास निरावरण होने लगता है। मगध में तब बृहद्रथ राजकुल की शक्ति टूट चली थी, बरसों की कौशाम्बी में निचक्षु द्वारा प्रतिष्ठित राजकुल धीरे धीरे स्वतंत्र भागों के गणतन्त्र को दशोचे जा रहा था, जनक विदेह का राजतन्त्र उलट कर विदेहों ने मिथिला में अपना जनतन्त्र खड़ा किया था और मल्ल, कोलिय, मोरिय, शाक्य आदि अपनी राजनीति सर्वक हो सँभाले हुए थे। काशी भी तब स्वतंत्र थी, यद्यपि मगध और बत्स दोनों के कुचक उस पर चल रहे थे। परन्तु जीता उसे मैंने। मेरे कौशल राजकुल की शक्ति दिन-डूनी रात-चीगुनी बढ़ती जा रही थी।

एक बात और जो याद रखने की है, वह यह है कि महाभारत युद्ध के बाद की उथल-पुथल में मेरी काया भी पलट गई थी। मगध बृहद्रथों की प्रसार नीति का शिकार हो जाने के कारण मेरे राजकुल ने दक्षिण या महाकोशल में अपनी प्रतिष्ठा की थी। परन्तु कुछ दिनों बाद जब बृहद्रथों की शक्ति कमजोर पड़ने लगी और उनका साम्राज्य गंगा पार तक ही संकुचित हो गया, तब मेरा राजकुल फिर कोशल लौटा। पर मेरी राजधानी में नहीं। मैं अपने राजकुल के उखड़ जाने से अप्रसिद्ध हो गई थी। अशुभ माने जाने लगी थी और यद्यपि मेरी भूमि फिर भी पावन मानी जाती रही, राजधानी अपनी कोशलों ने उस भावस्ती में स्थापित की जिसके भग्नावशेष आज भी गोंडा और बहराइच की सीना पर सड़ठ-मड़ठ गाँव में बिखरे पड़े हैं। वहीं कोशलों का नया राजकुल प्रतिष्ठित हुआ। प्राचीन राजवंश की ही नया राजवंश भी एक शाखा

थी फिर भी मेरे नाम से ही राज्य का कोशल नाम त्वलता रहा यद्यपि मुझे एक और नाम अब मिल गया था, संकेत ।

काशी, ब्रह्मदत्तों की काशी, अब तक त्वत्तं रही थी और उसके राजा अजातशत्रु ने भी कभी विदेहों के जनक, पंचालों के प्रवाहन और कैकेयों के अश्वपति की ही भाँति ही कभी दर्शन के तत्व कहे सुने थे । परन्तु पिछले दिनों में जैसे मेरी स्थिति में अन्तर पड़ गया था वैसे ही उसमें दुर्बलता आ गई थी और उसके राजाओं की भी शक्ति इतनी क्षीण होती गई कि उनके शासन की सीमाएँ फिर तो वाराणसी और उनके आस-पास के इलाकों तक ही सीमित हो गई और जब आवश्यकता के मेरे नए राजकुल ने अपनी प्रसरलिप्ता चरितार्थ की तब तो काशी सर्वथा मेरे अन्तराल में ही समा गई ।

काशी का विजेता कोशल का कंस था, जिसने उस प्राचीन नगरी को ओठ 'वाराणसी पति' का बिकर धारण किया । उसके बेटे मदाकोशल ने तो उसे भलीभाँति भोगा भी और जब उसने अपनी कन्या कोशल-देवी मगध के शेबुनाग राजा विम्बिसार को न्याही तो दहेज में काशी की एक लाख की वार्षिक आय उसे दे डाली । उसी कोशलदेवी का भाई प्रसेनजित था, जिसने शिष्टता और शान में सुदूर के विद्यापीठ तक्षशिला में जोषक के साथ दीक्षा पाई थी । तब चार पड़ोसी राज्यों में संघर्ष खिड़ा था, मगध, वत्स, अवन्ती और कंशल में । मगध ने अंग जीत लिया । वत्स ने भूगों का देश, अवन्ती ने आस-पास की सारी भूमि और मैने गणतन्त्रों के अनेक प्रदेश । इससे यह भुमकिन न था कि हम सब आपस में टकरा न जाते । मगध को अंग को निगलते समय वत्स के उदयन का हस्तछेद बुरा लगा परन्तु अवन्ती जो मगध की ओर आशा भरी आँखों से देख रही थी इससे दोनों से एक साथ उलक पड़ना उसे

युक्तिसंगत न जेंचा, अबन्ती तथा बल को आपस में और निपट लेने के लिए उसने छोड़ दिया। परन्तु मुझे मगध ने विशेष सहृदयता का परिचय न दिया। विशेषकर मिश्रितार के पुत्र अजातशत्रु ने तो जो नीति यज्ञियों के साथ बर्ती वही मेरे साथ भी बर्तनी चाही।

अजातशत्रु महत्वाकांक्षी था—घर में भी बाहर भी। घर में तो वह पिता को ही दीर्घ काल तक राख करते न देख सका और उसने जब उसकी कटार असकल हो गई, तब पिता को बन्दी कर भूलों मार डाला। मेरे राजा के लिए तब यह स्वाभाविक था कि अपनी विधवा बहिन कोशलदेवी के वैधव्य का अजातशत्रु से बदला ले। निश्चय तब कोशल के राजनीतिक साधनों से मगध के साधन कहीं अधिक और प्रबल थे। इसलिए खुल्लमखुल्ला युद्ध की स्थिति में तो प्रसेनजित था नहीं, विशेषकर इस कारण भी कि उसका राज्य अंगुलिनाल डाकू ने उकाड़ डाला था और मन्त्री दीर्घचारायण की मदद से उनके बेटे बिह्वडम ने भी उसे कुछ कम खतरे में नहीं डाल दिया था। प्रसेनजित ने फिर भी अजातशत्रु के जघन्य कृत्य पर आक्रोश प्रकट करने के लिए महिन के दहेज में दी मगध को काशी की आय रोक दी, परन्तु इसका अर्थ युद्ध घोषण था और अजातशत्रु ने तत्काल काशी पर अधिकार कर लेने के उपक्रम किए। युद्ध छिड़ गया, दीर्घकालिक विकराल युद्ध। विजय कभी मेरे हाथ आई, कभी मगध के। इसी समय मेरे आन्तरिक शत्रुओं ने विशेषकर दीर्घचारायण और बिह्वडम ने अपना विद्रोह और बना कर दिया। तब मुझे लाचार होकर केवल काशी ही नहीं प्रसेनजित की कन्या वाजिरा भी अजातशत्रु को देकर सन्धि करनी पड़ी।

मेरी स्थिति दिन पर दिन भिगड़ती जा रही थी। भगवान बुद्ध ने कई बार अपने संघ के साथ मेरी नगरी में डेरा डाला। मैंने बार बार उनकी ओर आशा से देखा; परन्तु वे भी मेरे दूढ़ते राष्ट्र को सहारा न दे

सके यद्यपि उन्होंने अँगुलिमाल को जीत लिया। वह कथा भी कुछ कम रोमांचक नहीं। भावस्ती के उस महाकान्तार के प्रहरियों ने बुद्ध को प्रवेश करने से रोका जिसमें वहाँ से विक्रमाल दस्यु अँगुलिमाल का निवास चला आता था। अँगुलिमाल ने हजार मुसाफिरों का वध करने का निश्चय कर लिया था और अपनी हत्याओं की गणना के लिए वह जब किसी नागरिक को मारता, तब उसकी एक उँगली काट अपनी माला में पिरोकर धारण कर लेता और इस प्रकार वह अपना मान सार्थक करता। उसकी हत्याओं से भावस्ती और कोशल की प्रजा प्रादि प्रादि कर उठी। तभी प्रहरियों की बात न मान तथागत मेरे उस महाकान्तार में प्रविष्ट हुए। घने घन में कुछ दूर चलते ही पीछे से आवाज आई "ठहर जा" बुद्ध ठहर गए। फिर कर जो दस्यु को आते देखा तो बोले—"तू तो ठहर गया भला तू कब ठहरेगा?" मुँह पर शान्ति विराज रही थी। उदार प्रेम और प्रसन्न मुस्कान से मुखमण्डल आलोकित था। दस्यु उस कोमलता से आक्रान्त हो गया, जिसे उसने जीवन में कभी न जाना था। उसे देख बड़े बड़े पराक्रमियों को क्षिप्त बँध गई थी, पर आज इस पुकार पर जब इस निहत्थे भिक्षु को उठने इस शान्ति से अग्नी लालकार का उत्तर देते सुना तब उसका धीरज स्वयं छूट गया और तथागत के प्रश्न का भर्म समझ, उनके चरणों से लिनट वह सँघ का अनुयायी बना।

पर तथागत भी मेरे गृहकलह को न सँभाल सके और एक दिन विता को पुत्र ने कोशल से बाहर कर दिया। प्रसेनजित सहायता के लिए अपने दामाद अजातशत्रु की ओर चला पर राजगृह की प्राचीन के बाहर सिंहद्वार पर ही थकान और भूख-प्यास से व्याकुल राजा ने दम तोड़ दिया। बिड्ढम राजा बना और अपनी शक्ति का पहला उपयोग जो उसने किया, वह शाक्यों का विध्वंस था। न केवल बुद्ध ने उसके विरुद्ध विता को उगाय बताया था बल्कि उनके शाक्यों ने भी उसे आप-

मानित करने में कुछ कसर न रखी थी। उसकी माँ मल्लिका जो प्रसेनजित की ब्याह थी, वास्तव में शाक्य-क्षत्रिया की कन्या न थी, शुद्रा की थी, जिसे बोले से उन्होंने राजा की ब्याह दिया था और अब जो बेटे ने उसके एक धगीचे में पैर रखे तो शाक्यों ने उसे शुद्ध करने के लिए जल प्रवाह किया। विद्धम ने जब अपने अपमान का रहस्य समझा तब बदला लेने के लिए उसकी भुजाएँ फड़क उठीं। शीघ्र उसने एक विशाल सेना लेकर शाक्यों पर अक्रमण किया और कपिलवस्तु के नागरिकों को तलवार के घाट उतार, नगर को अग्नि की लपटों का समर्पित कर दिया। शाक्यों का गणतन्त्र बहिज्यों के जनतन्त्र की ही भाँति गणतन्त्रों में अग्रणी था। कोशल की इस संहारक चोट से यह कुचल गया। यद्यपि शाक्यों के संहार से मेरी सीमाएँ हिमालय के चरण तक उसी प्रकार जा पहुँची जिस प्रकार अजातशत्रु की चोट से बहिज्यों के कुचल जाने पर मगध की सीमाएँ हिमालय से जा लगी थी। परन्तु जहाँ लिच्छवी फिर से उठ खड़े हुए, शाक्य फिर न उठे।

विद्धम की सन्तान स्वयं भी बहुत काल तक शासन न कर सकी। कुछ ही काल बाद शेषुनागों के विध्वंसक 'सर्व-क्षत्रांतक' महापद्मनन्द ने मुझे अपने बढ़ते हुए साम्राज्य में मिला लिया, फिर मौर्यों ने मेरे जनपद पर शासन किया। कभी मेरा जनपद सर्वथा स्वतंत्र था, सातवीं सदी ईस्वी पूर्व में। फिर उस पर कोशल के राजवंश ने शासन किया था और अब वही विलुप्त तोलह जनपदों का कोशल-मौर्यों के अधिकार में था। चौद-बैन मौर्यों के शासन काल में मेरे वैष्णव धर्म की कोई प्रतिष्ठा न मिली और यद्यपि नन्दी ने क्षत्रियों के विरुद्ध मेरी मर्यादा कुछ बढ़ाई थी, पिछले मौर्यों ने मुझे सर्वथा नंगा कर दिया। अन्तिम मौर्य बृहद्रथ का मार कर शु'ग-ब्राह्मण पुण्यमित्र मगध की गद्दी पर बैठा। तब ब्राह्मण धर्म के साथ मेरे दिन भी छिरे।

पुष्पमित्र शूंग ने तो मुझे अपना एक विशिष्ट दुर्ग भी बना दिया क्योंकि कुछ ही दिनों पहले ग्रीकों द्वारा मगध की पराजय से वह जान गया था कि मेरे नगर में भी सेना की छावनी बनाने आवश्यक हुई। बाणजी के दिमित्रिय ने जब अपनी सेना का एक भाग अपने जामाता मेनानदर को दे, पूर्व की ओर से पाटलिपुत्र पर आक्रमण करने का उसे आदेश दे, सिन्ध और मध्यमिका की पश्चिमी राह जब वह मगध की ओर बढ़ा तब मेनानदर ने मथुरा और पंचाल के साथ ही मुझे भी आक्रान्त किया। पुष्पमित्र के अश्वमेध का श्रुतिज और महाभाष्य का रचयिता तथा उस ब्राह्मण पंडित की मेधा पतञ्जलि जिसका केन्द्र पुष्पमित्र था, मेरे समीप के ही गोर्नद (गोडा) का निवासी था और वह अब पाटलिपुत्र में जा बसा था। उसने अपने महाभाष्य में मेनानदर द्वारा की हुई मेरी नगरी की दुर्गति का उल्लेख किया है—“अरूणद् यवनः साकेतम्” सही उस घरे की याद मुझे आज भी स्पष्ट है। कुछ काल मैंने निश्चय अपनी माचीरी के भीतर ग्रीकों को न घुसने दिया परन्तु जब शीघ्र ही बाद पाटलिपुत्र की वह दशा हुई तब मेरी क्या हकीकत थी? मैं विधर्मियों के हाथ चली गई जिन्होंने मुझे बुरी तरह लूटा और मेरे देव-मन्दिर भ्रष्ट किए। परन्तु वे क्यादा दिनों यहाँ रुके नहीं। अपने गृहकलह के कारण उन्हें शीघ्र लौटना पड़ा और मैं फिर एक बार उनके बंगुल से निकल गई यद्यपि मेरी स्थिति अब ऐसी न रह गई थी कि नगरी कहलाने का अधिकार हो। पर हाँ, कुछ ही दिनों बाद जब मेनानदर फिर लौटा और उसे पुष्पमित्र ने परास्त कर मार डाला तब मुझे अपनी पुरानी क्षति का बदला मिला। दो-दो अश्वमेध करने वाले पुष्पमित्र ने मुझे फिर से मान और गौरव दिया और यह कुछ अकारण न था कि मेरे ही यहाँ से उसके नाम का एक शिलालेख मिला हो।

शूंगों का तेज क्षीण होते ही मैं कण्वों के हाथ में आई और उनके

बाद दक्षिण के सातवाहनों के हाथ में। परन्तु जब शकों ने मध्यदेश को रौंद डाला, तब मुझे भी उनकी चोटें सहनी पड़ीं और कुषाणों की भी जिनको देश से निकाल भारशिव नागों ने एक नए साम्राज्य की नींव डाली, यद्यपि भारशिवों ने मुझे नहीं काशी को अपनी निष्ठा का केन्द्र बनाया। परन्तु परम वैष्णव 'परम भागवत' गुप्त सम्राट मुझे न भूल सके और उनके साम्राज्य के निर्माता समुद्रगुप्त ने कुछ काल मुझे ही अपनी राजधानी नियत की। एक बार फिर मुझे शक्ति मिली और मेरी नगरी में प्रकाण्ड दार्शनिकों का निवास हुआ। पहले एक बार दक्षिण से धुरन्धर दार्शनिक दिङ्नाग आया, फिर वसुबन्धु और उसका भाई असंग। वसुबन्धु और असंग तो पेशावर से आये थे और यद्यपि वे जब तब कौशाम्बी में बरसात बिताते रहे, अपना आवास उन्होंने मुझे ही बनाया। गुप्त काल के बाद जब एक आर मगध में पिछले गुप्त और कन्नौज में मौखरी प्रतिष्ठित हुए तब मैं कभी एक की चपेट में, कभी दूसरे की चपेट में आती जाती रही और जैसे जैसे उनकी राजलक्ष्मी जीतती-हारती रही वैसे ही वैसे मैं भी जनता-जिगड़ती रही। हर्ष ने जब अपना साम्राज्य खड़ा किया, तब मैं कन्नौज के भाग्य के साथ बँध गई और दीर्घकाल तक कन्नौज की हार-जीत, मेरी हार-जीत भी बनी रही। हर्ष के बाद जो उधल-पुधल हुई, उसमें मेरी राजनीति भी नष्ट-भ्रष्ट हो गई।

पाटलिपुत्र के आधार से उठकर भारतीय राजलक्ष्मी अब महोदय में जा बसी थी। महोदय प्राचीन कान्यकुब्ज का नाम था। आधुनिक कन्नौज का और बही अब इस देश की राजधानी थी। परन्तु उसके राजा कुछ काल तक काफी दुर्बल हुए और अपनी दुर्बलता से उन्होंने गंगा-जमुना के अन्तर्वेद को साहसीकों के आखेट की भूमि बना दी। परोवर्धन फिर भी अशामान्य था और उसने काफी शक्ति अर्जित की, यद्यपि कार्मीर के ललितादित्य ने उसे परास्त कर दिया। पर आयुधों

ने तो राजनीतिक दुर्बलता की पराकाष्ठा कर दी और उनके शासन काल में कन्नौज पर पालों, राष्ट्रकूटों तथा प्रतिहारों में विचरणीय संघर्ष भी शुरू हो गया और अन्त में नागभट्ट द्वितीय प्रतिहार ने कन्नौज में अपने राजकुल की प्रतिष्ठा की। तब से प्रायः दो सौ वर्ष तक मैं निरन्तर शांत रही। मुझे शक्ति न मिली पर मुझे छेड़ा भी किसी ने नहीं और मेरी धार्मिक चेतना को भी काफ़ी बल मिला। वारतव में मेरी राजनीति के तार कबके धिखर गए थे और मैं अब केवल पाखण्ड पर जोती थी, धार्मिक मान्यताओं पर।

प्रतिहारों का पिछला काल जितना उनके संकट का हुआ उतना ही मेरे संकट का भी। कन्नौज पर जब महमूद गजनवी ने दो-दो बार हमले किए तब मैं ही भला उसकी संहारक चोट से कैसे बची रह सकती थी। मुझे भी दूर से आनेवाले उन पठानों ने नष्ट-भ्रष्ट कर दिया। मैं नारी हूँ, शक्ति की गोद में उछलते-कूदते मुझे अच्छा लगता है, बाहुओं का सबल झूला मुझे सदा आकृष्ट करता रहा है और प्रतिहारों की भुजाओं में अब वह बल न रह गया था कि मैं निरापद अनुराग से उनमें भूल सकती। इससे यद्यपि गजनी की सेनाओं ने मुझे नितान्त जीर्ण कर डाला पर कुछ काल के लिए परिवर्तन का मुझे सुख मिला। बार-बार मुझे विजेताओं ने नंगी कर दिया, बार-बार मैंने अपने कमजोर प्रतिहार स्वामियों की ओर देखा पर जब वे अपनी राजधानी कन्नौज की ही रक्षा न कर सके और जब स्वयं मथुरा, यमुना के जल में अपनी नौची नंगी आकृति देखकर तड़प उठती थी तब मेरी तो वक़्त ही क्या थी।

राज्यपाल और यशपाल प्रतिहार के बाद फिर कन्नौज के साथ ही मेरा जनपद भी सन्तर्भ सेनाओं की लूट का क्षेत्र बना। दक्षिण-पूर्व के हिन्दुओं ने, पश्चिम के मुसलमानों ने, सभी ने मुझ पर अपने पीरव का प्रहार किया और तब चन्द्रदेव नामक महडवाल ने काशी, इन्द्रस्वान (दिल्ली) और कन्नौज के साथ ही मेरी रक्षा की। उसने महडवालों

का राजकुल कबीर में स्थापित किया। उसके पुत्र गोविन्दचन्द्र ने राजिव तुगाधिन और विजयचन्द्र ने अमीर खुसरो से मेरी रक्षा की पर गहड़वाल भी बहुत दिनों कबीर की रक्षा न कर सके। दिल्ली का सिद्धाचार जब पृथ्वीराज की हार से टूट गया तब कबीर का भी रुका न रह सका और खन्दावर के मैदान में महोदय की लक्ष्मी भी लुट गई, साथ ही मेरी भी। मोहम्मद गोरी ने मुझे बुरी तरह लूटा, फिर बल्लियार ने और फिर कुतुबुद्दीन ने। अब मैं मुसलमानों के शासन में आई और उसी शासन में उन्नीसवीं सदी तक रही।

मेरा इतिहास फिर दिल्ली के बादशाहों और जौनपुर के शरकी सुल्तानों ने लिखा। बलवन के शासन में मेरे शासक को बंगाल के तुगारिल से दो बार हारना पड़ा और तब बलवन ने नियास्तिंगीन को मार कर उसका सिर मेरे द्वार पर टाँग दिया। फिर वह स्वयं बसते मेह में बंगाल की ओर बढ़ा और गौड़ में तुगारिल के द्वार और उसके प्रियपात्रों पर उसने जो जुल्म किया, वह मेरे कहने की बात नहीं। अलाउद्दीन खिलजी ने जब सुल्तान होकर हिन्दुओं के खिलाफ अपनी मारक नीति का व्यवहार किया तब मेरी जमीन पर एक मन्दिर भी न खड़ा रह सका। और फिरोजशाह तुगलक जब दो बार मेरी नगरी में आया तब उसे मेरी स्थिति देखकर कुछ कम सन्तोष न हुआ।

सैयदों और लोथियों के कमजोर हाथों से दिल्ली की सल्तनत के अनेक सूबे निकल गए। जौनपुर का सूबा भी शरकी राजाओं ने स्वतंत्र कर लिया और तब मैं जौनपुर की बेटी हुई। उस शासन की याद भी कुछ सुख की नहीं परन्तु उसका भी शीघ्र ही अन्त हुआ, जब बाबर ने हिन्दुस्तान में मुगलों का 'राजकुल' स्थापित किया। पर खुद बाबर ने मेरे साथ कुछ अच्छा सलूक न किया। राम के जन्मस्थान से प्रसिद्ध भूमि पर स्मारक स्वरूप जो प्राचीन मन्दिर खड़ा था उसे तोड़ कर और

उसी के कसौटी के खम्भों से उसने वहाँ मस्जिद खड़ी की। उसके पीछे अकबर के शासन काल में निश्चय मुझे मजहबी कट्टरता की चोटों से नजात मिली, यद्यपि उसका आरम्भ थोड़ा-बहुत उस शेरशाह ने ही कर दिया था जिसने हुनायूँ को ईरान भगा दिया। अकबर ने मुझे हर तरह से शांति और सुख दिया और जब तक वह जिन्दा रहा, तब तक मुझे किसी प्रकार की क्षति न उठानी पड़ी। मेरी नगरी में फिर सैकड़ों मन्दिर खड़े हो गए; परन्तु उसके वंशधरों ने नीति फिर बदल दी और श्रीरंगजेव ने तो हद्द कर दी, जब मेरे सारे मन्दिरों को खाक में मिला उनकी जगह मस्जिदें खड़ी कीं। श्रीरंगजेव का विध्वंस मुझे बराबर याद रहेगा।

पिछले मुगल बादशाहों के हाथ से जब शक्ति निकल चली तभी उनके वजीर ने मेरे अवध में नई नयाबी स्थापित की। आज का अवध करीब-करीब वही है जो पहले मेरा कोशल या और उसी की बदती सोमाओं में बसाबी ने अपनी हुकूमत कायम की। सादतअली के बाद सफ़दरजंग आया और उसके बाद शुजाउद्दौला। तीनों एक से एक काहवाँ थे, एक से एक बीर। और उन्होंने न मुझे लूटा, न खसोटा बल्कि हर तरह से मेरी रक्षा की। नबाब वे नाममात्र के थे। असल में वे यहाँ हर तरह से स्वतंत्र थे। शुजाउद्दौला ने तो मेरे पदोस में ही फैजाबाद में अपनी राजधानी रखी और वह शाहआलम और मीरकासिम के समय विशेष प्रसिद्ध हुआ। अंग्रेजों से तीनों ने एक साथ बक्सर में हार खाई और तब मेरी राजनीति फिर डायॉंडोल हो चली पर नबाब, जो अब बादशाह कहलाते थे, फिर भी स्वतंत्र रहे यद्यपि, उनके राजधानी अब लखनऊ में थी।

मुझे याद है फैजाबाद में शुजाउद्दौला को मों और बीबी दोनो तिलाक कटती थीं। उनके पास अल्लय भन था पर इंसिडस ने लखनऊ के नबाब से मिल कर उनका सर्वस्व छीन लिया। उनको चोज-पुकार

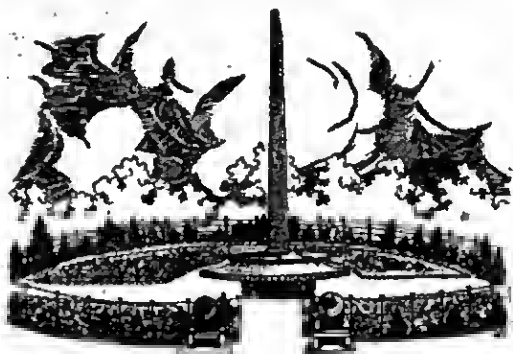
आज भी मेरी हवा में भरी है और यद्यपि आसकूटहौला ने मौला से भी न पाने वाले गरीबों का भी भला किया। मेरा नगर सारे अवध के साथ ही अकाल की चोट से बेदम हो गया। वाजिदअलीशाह के जमाने में तो मेरी नगरी में फिर मस्जिद-मन्दिर के नाम पर हिन्दू मुसलमानों का दंगा हुआ पर मुसलमानों की दरखास्त पर जो उस बादशाह ने बेइमानी करने से इन्कार किया उससे वह मुझे आज भी याद है। मजहब की भ्रष्टता से दूर रहने वाले उस अवध ने साफ लिख भेजा—

हम इस्क के बन्दे हैं मजहब से नहीं बाकिा।

गर कावा हुआ तो क्या, मुतलाना हुआ तो क्या ॥

परन्तु इस शेर में जिस उदासीनता का समावेश है वही उस बादशाहत के सर्वनाश का भी कारण हुई। अव्याशी वाजिदअली के रग रग में भर गई थी। प्रजा का धन बेइन्तहा उसने अपने विलास में लुटाया और एक दिन स्वयं किरंगो सेना का वह बन्दी हो गया। तब लखनऊ से बादशाहत की नींव उजड़ गई और तभी से मैं बची-खुची उजड़ गई। हों एक बार सन् ५७ के विद्रोह में निश्चय मेरी नगरी और कैजाबाद में बगावत के भण्डे लड़े हुए। कैजाबाद में तो गजब का लोहा बजा। और यद्यपि उन रईसों ने जो मुझे कुचलने के पुरस्कार स्वरूप आज तालुकदार बने बैठे हैं, मुझे बरपाद कर दिया परन्तु फिर भी कैजाबाद और लखनऊ के साथ साथ उन दिनों लड़ी और खूब लड़ी।

अब मैं केवल मन्दिरों का नगर रह गई हूँ। गृहस्थ मेरी नगरी में शायद ही कोई हो। नागे-बेनागे, साधू-उदासी और जै जै किया राम भजने वालों से ही मेरी बस्ती आज आबाद है। न मुझमें जीवन है, न कर्मसत्ता और मैं सदियों से यद्यपि अपना कलेवर ही किसी तरह खसीटती आ रही हूँ फिर भी जो स्थिति मेरी आज है वह कभी न थी। और अगर मुझे मरना हुआ तो मेरी दशा इससे अधिक संशयीन न हो सकेगी जितनी आज है।



प्रयाग

मैं प्रयाग हूँ। गंगा यमुना का संगम भारतीय साहित्य में निरन्तर स्तुति का विषय रहा है। सिकता गंगा यमुना के बीच का से चमकता कैला कोण अत्यन्त प्राचीन काल से जनता का संगम और तीर्थ रहा है। गंगा और यमुना का खेत और नील संगम साहित्य में सर्वदा रहस्यमय कुदृष्ट से देखा गया है। वाल्मीकि और कालिदास दोनों ने इन धाराओं का वर्णन किया है और दोनों उनके सम्मिलित सौन्दर्य से मुग्ध हो गए हैं।

मेरे संगम को भारतीयों ने केवल दो नदियों का नहीं बरन् तीन नदियों का—गंगा, यमुना और सरस्वती का माना है। सरस्वती अन्तःसलिला कही गई है जो प्रत्यक्ष नहीं, अदृश्य है, परन्तु जहाँ लुप्त होकर भी दोनों नदियों के साथ मिल कर त्रिवेणी नाम सार्थक करती है। सरस्वती के अनुस्थित होने पर भी उसका इस स्थल पर समागम और उस समागम

का भारतीय साहित्य में निरन्तर व्याख्यान तथा साधारण जनता का उसमें अमिट विश्वास कितनी ही बार मेरे मन में कुतूहल उत्पन्न करते रहे हैं—इसे श्रिवेणी क्यों कहा ? आखिर सरस्वती का विचार ही इस नामकरण में क्यों उठा ?

उत्तर सर्वथा कठिन नहीं । अन्तरवेद, मैं जिसका केन्द्र और पूर्व द्वार था, आर्यों का पंचाल के साथ वह दूसरा आवास बना था जो उन्होंने कुक्षेत्र के ब्रह्मर्षि-देश से उठ कर, गंगा-यमुना के दोआब में बनाया था । ब्रह्मर्षि-देश, जहाँ सरस्वती और दशदती, विशेषकर सरस्वती के किनारे आर्यों के याग-होम हुए थे । उनका वह विशिष्ट प्रदेश था जहाँ उन्होंने शत्रुओं को जलाने और प्राग्भिक कठिनाइयों के बाद पहले पहले शांति का लाभ किया था और साथ ही अपनी संस्कृति की मंजिलें तय की थीं । सरस्वती के तट पर इस यात्रा में याग-होम, वेदव्ययन और दर्शन चिन्तन हुए कि वह नदी आर्य संस्कृति और ज्ञान का प्रतीक बन गई । इतना ही नहीं नदी की स्थिति से उठकर वह मेधा को ज्ञान से अनुप्राणित करने वाली सरस्वती भी (जनी जो शत्रु-बाणी और कलह की जननी तथा देवी कहकर पूजी गई) निश्चय ज्ञान से उसके सम्बन्ध हो जाने के बाद उसके स्थूल जल का लोप हो जाना सार्थक ही था । मेरे इस संगम पर भी जो अनन्त-अनन्त यागहोम हुए, शानार्जन के केन्द्र स्थापित हुए, जिससे मेरा नाम “प्र-याग” पड़ा, तो यह कुछ अजब न था कि आर्य भद्रालुओं को अपनी विस्मृति सरस्वती के तट की याद आ जाती । इतने याग-होम सरस्वती तट से इतर आर्य कल्पना के बाहर की वस्तु थी और उन्होंने माना कि चाहे अदृश्य रूप में हो पर सरस्वती का संगम गंगा-यमुना के साथ यहाँ निश्चय है ।

जब अयोध्या के एतवाकु राजकुल में बृद्ध राजा दशरथ की कम-जोरियों के कारण बैठे के हाथ से राज्य निकल गया और विद्वेषामि

प्रबल हुई तब और उससे पहले ही मेरा स्थल पुनीत माना जाने लगा था। वन जाते समय राम ने मेरे तट पर भारद्वाज के उपदेश सुने और पुराणों ने मेरे महारथ का निस्सीम यश गाया। मेरे तीर्थों की प्रशंसा महाभारत ने भी मुक्तकण्ठ से की और मेरी संका शीघ्र तीर्थराज हुई। इस प्रकार रामायणकाल के पूर्व से लेकर आज तक मेरा अटूट धार्मिक वैभव बना रहा। धार्मिक वैभव मैं जान, बुझ, कर कह रहा हूँ, उसे राजनीतिक गौरव से अलग करने के लिए, क्योंकि यद्यपि जब तब और विशेषकर पिछले मुस्लिम युग में, राजनीति की चिनगायियाँ मेरे नगर में भी चमकीं, परन्तु सच तो यह है कि कभी मैं राजनीति का प्रबल केन्द्र न हो सका। भारतीय इतिहास में मेरा महत्व विशेषकर धार्मिक रहा है।

ऐतिहासिक काल में मेरा पहला सम्बन्ध अन्तर्बंद की उस राजनीति से हुआ जो पूर्व-पश्चिम में स्थापित होने वाले साम्राज्य का सन्निवस्थान बन गया। उपनिषद् काल में पंचालों और काशी की सीमाएँ मेरे ही नगर में समाप्त होती थीं। मगध साम्राज्य के खड़े होने पर त्रिभिन्सार की काशी की हद्द भी पश्चिम की ओर मेरे ही समीप आकर समाप्त हुई। तब मैं बत्नों के राज्य में थी और मेरा शासन कोशाम्बी का वह राजकुल रतन था जिसे कौरव निचधु ने मुझसे तीस मील पश्चिम यमुना के तट पर स्थापित किया था। महारथ जुद्ध अनेक बार मेरे ही राजमार्ग से उदयन के कोशाम्बी को आये थे। तीर्थराज की मेरी पावनता यद्यपि सदा अक्षुण्ण बनी रही थी, फिर भी समय समय पर मेरे शासकों की तृष्णा से उसकी सीमाएँ परिमित होती रही। कोशाम्बी का उदयन वह मधुप्रिय भ्रमर था, जिसने अपनी तृष्णा कभी संवत् न की और निरन्तर वह विषयों का उपासक बना रहा। वत्स के उस राजन्य ने एक समय बिलासिता की देश में धारा बहा दी थी और मैं तसता, अपनेउद्वेग को संवत् करता चुपचान उसकी प्रणय प्रक्रियाओं को देखता रहता।

छठी सती ईस्वी पूर्व के इस वातावरण से मैं शीघ्र ऊब गया और मगध की बढ़ती सीमाओं ने पंचाल शातकों से मेरी रक्षा की। वत्सों का राज्य कुछ मगध ने ले लिया, कुछ अवन्ती के प्रद्योतों ने और मैं फिर एक बार अपनी धर्म-भोक्ता के लिए प्रसिद्ध हुआ। नन्दों का उत्कर्ष क्षत्रियों के लिए काल रात्रि सिद्ध हुआ और तब यद्यपि मेरी धार्मिक शक्ति को कुछ चोट पहुँची। मैं फिर भी भद्रालुओं के समागम का केन्द्र बना रहा।

चन्द्रगुप्त मौर्य ने जब अपना विशाल साम्राज्य खड़ा किया तब उसकी विजयवाहिनी की पश्चिममुखी धमक मैंने सुनी थी। फिर अशोक के धर्मोपदेश भी मैंने निरन्तर सुने। कौशाम्बी मेरी पड़ोसी थी और अशोक का वह स्तम्भ जो आज मेरे नगर में खड़ा है, पहले वत्सों की इसी उज्जड़ी राजधानी में खड़ा किया गया था। विछले मौर्यों के दुर्बल हाथों से जब राजदण्ड स्थलित होने लगा तब विदेशी ग्रीकों ने मेरी ही राह से मगध में प्रवेश किया था। मेरी ही राह से वे लौटे भी थे और कुछ ही काल बाद मेरे पास ही पुष्यमित्र शुंग ने मेनानन्द को परास्त कर उसे मार डाला था।

शकों के सेनानी लोहिताक्ष अग्लात ने जब ईस्वी पूर्व प्रथम शती में पाटलिपुत्र का विज्रंस किया था, तब उसकी सेना मेरे ही मार्ग से गई थी, मुझे रौंदती, कुचलती, मेरे भवनों को खण्डहर बनाती, मेरी अनन्त-अनन्त मूर्तियाँ तब उनकी चोट से बिखर गई थीं। मेरे भद्रालु उग्रसक संगम छोड़, गावों की ओर भाग पड़े थे। कुशाणों के राजा कनिष्क ने जब मध्यदेश पर आक्रमण किया और पाटलिपुत्र से अश्वघोष को चील की भाँति भगद कर लौटा तब मेरे ही मार्ग से। बाकायकों और नागों ने बारी बारी से मेरे संगम पर विदेशियों के विरुद्ध अपनी विजयों के

संकल्प किए। मेरे ही तट पर, उन्होंने अनेक बार अपनी सेनाओं को विधान दिया; अपने मित्तों के तर्पण किए।

परन्तु राजनीति से मेरा विशेष सम्पर्क वस्तुतः उन गुप्तों से था जिन्होंने मेरे ही अन्तर्वेद के आधार से उठ कर मगध का साम्राज्य खड़ा किया था, गुप्त जो भारतीय संस्कृति के निर्माता और साथ ही गणतन्त्रों के असाधारण शत्रु हो गए हैं। पाटलिपुत्र में राजचक्र को धुना चन्द्रगुप्त प्रथम ने, जब वहाँ अपनी शक्ति की प्रतिष्ठा की, जब उसने लिच्छवियों के साथ विवाह सम्बन्ध स्थापित कर अपनी शक्ति का धितान ताना तब और उसके पहले उसके आधार साकेत और प्रयाग ही थे। पुराणकार ने चन्द्रगुप्त का यश गाया और उसके पुत्र समुद्रगुप्त को धिक्कारा। उसका कारण एक जनपद से उठती हुई प्रारंभिक उचित शक्ति का दूसरे जनपद पर अनुचित प्रसार था। गुप्त साम्राज्य का वास्तविक निर्माता और भारतीय स्वतंत्र जनशक्तियों का प्रणेतारी वह समुद्रगुप्त ही था, जिसने अपने विचित्र जीवन का स्पष्ट प्रदर्शन किया। एक ओर तो उसे लिच्छवियों के जनतन्त्र से अपने पिता का सम्बन्ध स्वीकार कर अपनी मर्यादा लिच्छवि दौहित्र कह कर बढ़ाई। दूसरी ओर उन्होंने लिच्छवियों को अपने रथचक्र के नीचे पीसने से बच न चूका। लिच्छवि ही क्यों, भारत के प्रायः सभी गणतन्त्र उससे आक्रान्त हो संतप्त हो उठे और उन्होंने स्वतः उसके प्रति सिर झुका लिया। शास्त्र में अकृष्टित बुद्धि रखने वाले इस महाकाय विजेता ने 'समरसत चित्त विजयी' की उगाधि धारण की और निरन्तर वह शास्त्र की उगासना में लगा रहा। शांतिकाल में उसका बीयावादन, काव्यक्षेत्र में उसका स्पर्धित कविराज्य, युद्ध के दिनों में ध्वंश घन जाते थे। मेरे नगर से थोड़ी ही दूर पर कौशाम्बी के पास उसने आर्यावर्त के सम्मिलित राजाओं का सर्वनाश किया। वाकाटकों और नागों ने गुप्तों के उत्कर्ष के पूर्व विदे-

शिष्यों को हरा, भारत की भूमि उनसे साफ कर दी थी, जिसपर गुप्तों का साम्राज्य खड़ा करना सुगम हो सका। उन्हीं बाकायों और गुप्तों को समुद्रगुप्त ने उखाड़ फेंका। नागों ने एक बार अपनी सारी शक्ति लगा कर, अपने विविध राज्यों की शक्ति एकत्र कर उसका सामना किया, परन्तु अप्रतिरथ समुद्रगुप्त ने उन्हें मिट्टी में मिला दिया। अपने दिग्विजय की नीति में उसने चाणक्य के उस सिद्धान्त का परिपोषण किया जिसमें लिखा है कि पड़ोसी स्वाभाविक शत्रु होता है, 'प्रकृत्यमित्र', जैसे बिस्ली चूहे की, सिंह मृग का, एक दूसरे का आहार है। समुद्रगुप्त आरविक राज्यों को जीत दक्षिणपथ की ओर बढ़ा और वहाँ के राज्यों को भी उसने तहत नहत कर डाला। दूरस्त होने के कारण उनकी उससे स्वाभाविक शत्रुता न थी, इससे उसने उनसे उनकी भी तो छीन ली पर मेदिनी लौटा दी। धर्मविजयी नृप का शासककाल से सम्भवतः वही आचरण चला आया था, धर्मविजयेनृपता जो पड़ोसियों को अरना परम और प्राकृत्य शत्रु समझता था।

मुझे समुद्रगुप्त की यह दिग्विजय विशेष प्रकार से याद है, क्योंकि इस दिग्विजय की तालिका उसी स्तम्भ पर दी हुई है, जो आज भी मेरे ऑगन में खड़ा है। वैश्य का जीवन बिताने वाले समुद्रगुप्त के लिए यह उचित ही था कि अपनी लूटी लड़ाइयों का वृत्तान्त वह उसी स्तम्भ पर खुदाये जिस पर शांति और प्रेम के उपदेश कभी अशोक ने खुदाये थे। अशोक ने न केवल मनुष्य का बंध और विशेषकर साम्राज्य निर्माण के अर्थ मनुष्य का बंध घुलित घोषित किया था वरन् अपने साम्राज्य से पशु-पक्षियों तक का बंध उठा दिया था। उसी स्तम्भ पर जिस पर मानवता के उस अद्भुत पोषक ने अपनी प्रजा के प्रति पिता के-से उद्गार निकाले थे, समुद्रगुप्त ने अपने लाल करिश्मों का इतिहास छपाया।

चन्द्रगुप्त विक्रमादित्य ने पिता की विजयों का ताँता उसी पैतृक नीति

से ही जारी रखा। बंगाल से बाढ़ीक तक उसने एक कुलौंच भरी थी और मेरे ही पड़ोस में कौशाम्बी को उसने भी पिता की ही भाँति दक्षिण और पश्चिम की ओर प्रसार का केन्द्र माना था। कौशाम्बी वास्तव में पश्चिम से पूर्व जाने वाले और उत्तर से दक्खिन जाने वाले वाणिज्यिकों की सन्धि पर खड़ी थी और यद्यपि मैं 'संभवतः' अरनी धार्मिक प्रवृत्ति के कारण राजनीतिक केन्द्र न बन सका, कौशाम्बी उजड़कर भी सदा बनी रही।

गुप्तों के कमजोर हो जाने पर और विशेषकर हूणों की चोट से गुप्त साम्राज्य जब टूट कर बिखर गया तब मौखरियों ने कन्नौज में अपनी राजधानी कायम की। फिर तो शक्ति के लिये उनमें और पिछले मगध गुप्तों में जो करमकश हुई वह असाधारण थी। कभी एक विजय हुआ, कभी दूसरा और मेरा समीपवर्ती मैदान उनकी निरन्तर टक्करों का केन्द्र बन गया। आखिरी चोट मौखरियों को उनके सर्वनाश से पहले कुमार-गुप्त तृतीय ने ईशानवर्मन् मौखरी को मेरे ही मैदान में हरा कर दी थी। एक के बाद एक गुप्त राजा मेरे ही संगम पर जलाये गये और मैं कुछ काल तक फिर भी उनके राज्य में बनी रही।

परन्तु पिछले गुप्तों का राज्य टिकाऊ न हुआ और मगध की सीमायें निरन्तर संकुचित होती गईं। अन्त में हर्ष के उठते हुये शौर्य ने उनको सर्वथा प्रस लिया। शशांक और देवगुप्त ने अपनी सम्मिलित शक्ति से कन्नौज का विध्वंस किया था। मौखरियों के सर्वनाश की कबालक्रिया उन्होंने ही की थी और जब शशांक बोधगया के बोधवृक्ष को काटता, उसकी जड़ों पर अग्नि रखता पश्चिम की ओर बढ़ा तब तो मेरा अक्षयवट भी एक बार समूल काँप उठा, परन्तु गौड़ वृक्षों का यह आचरण वस्तुतः अक्षयवट की रक्षा के लिये ही था। देवगुप्त मालवा से उत्तर की ओर और शशांक गौड़ से निकल कर पश्चिम की ओर बढ़ा था। कौशाम्बी के चौराहे पर दोनों मिले थे और दोनों ही ने परस्पर

सहायता का संकल्प कर मेरे संगम पर स्नान किया और अपनी सन्धि का साक्षी विवेकी को बनाया ।

उनकी सेनायें मेरी प्रशस्त सिकता भूमि पर जब भ्रातृभाव से परस्पर आलिंगन में ग्रह हुईं तब स्वयं मुझे भी कुछ सुख मिला, परन्तु कुछ ही काल बाद जब मुझे महोदय के ध्वंस का सन्देश मिला और उस पिनीनी हत्या का, जिसमें हर्ष के भाई राजवर्द्धन को मार, गोदाधिपति और मालवा नरेश ने अपने हाथ रंगे थे, तब मुझे अपने जल से ही एक बार घृणा हो उठी ।

कुछ ही काल बाद हर्ष ने मालवा और गौड़ दोनों पर अधिकार कर लिया और मैं मागधों के हाथ से उसके हाथ में चला गया । चीनी यात्री ह्वेन्त्सांग ने मेरे नगर का विशेष वर्णन किया है । मेरे संगम का भी और उसके कोण में फैले उस सिकता भूमि का भी, जिस पर चिर-काल से मुमुक्षुओं की अनन्त संगति होती रही है ।

कन्नौज में अपनी शक्ति और वैभव का प्रदर्शन कर ब्राह्मण तार्किकों का अपने विधान से मुँह बंद कर जब हर्ष अपने मित्र चीनी यात्री को लिए मेरे संगम पर आया तब देश के दरिद्र वहाँ उमड़ पड़े थे । कुम्भ का मेला प्राचीनकाल से वहाँ लगता आया था, परन्तु जिस समारोह से हर्ष का महामोक्षपरिषद वहाँ होता, उसकी शान और ही थी । पाँच वर्ष तक निरन्तर हर्ष का साम्राज्य कायम भरा जाता । पाँच वर्ष तक प्रान्तों की पृथ्वी गाय की भाँति दुही जाती । पाँच वर्ष तक साम्राज्य के राज-पुरुष जनता से सूर्य के अनन्त करों की भाँति कर उगाहते रहते । पाँच वर्ष तक देश के किसान पत्तीना ब्रहा कर भूमि से अन्न उत्पन्न कर आधा भाग अपने राजा के पारलौकिक कल्याण के लिए प्रदान करते रहते । पाँच वर्ष तक निरन्तर वयस्क अपने वाणिक्य का विशिष्ट भाग राजा को

सौंपते रहते और राजा तब अन्तिम औदार्य से वह धन एक दिन अपनी यशस्विनी में आहुत कर देता ।

इस प्रकार के धन यज्ञ की यह छठी आहुति थी, हर्ष के धार्मिक उपक्रम का यह तीसरा वर्ष, प्रजारजन के कर्तव्य पर शाश्वत ध्येय स्वरूप राजा का यह विलक्षण धर्माचरण । साम्राज्य के प्रान्तों से शासक अपना धन-भंड लिये मेरी प्रशस्त सिकता भूमि पर उपस्थित हुये । माण्डलीक और सामन्त प्रभु के इस देवकार्य में योग देने, धन जन लिए वहाँ पहुँचे । मित्र राजा, सम्बन्धी नृपति अपना राज्य भार मंत्रियों पर छोड़ खनोसहार लिये मेरी बालुका भूमि पर आ उतरे । पंचवर्षीय परिषद में हर्ष का यह दानकर्म विशेष मनोयोग से होता था और इस अवसर पर चूँकि विदेशी यह भद्रालु यात्री दशक के रूप में उपस्थित था जो चीन के भीमानों को हर्ष का यह उदाहरण बताने को अधीर हो रहा था । विशेषतः उस महोत्सव की सीमायें बढ़ गईं । उसका प्रभाव विशेष रूप से बढ़ना हर्ष के लिये इष्ट हो गया ।

भयान और ब्राह्मण, जैन और निग्रन्थ, जटिल और विरागी, कंगाल और भिक्षुमंने, अपाहिज और नंगे लालों की तादाद में उस अनर्जित धन राशि को लेने देश के कोने-कोने से दौड़ पड़े । और वह धन राशि जो अनेक प्रकार से मान और अपमान के जरियों से, कष्ट और प्रेरणा के साधन से, अग्रदूत हुई थी वह भी उनके हाथों में जाने के लिये लालाक्षित हर्ष के वितरण की प्रतीक्षा कर रही थी ।

वितरण आरम्भ हुआ और वितरण के पूर्व देवताओं की प्रतिष्ठा और उनकी उपासना शुरू हुई । पहले दिन बुद्धदेव की स्वर्णप्रतिमा पधराई गई, दूसरे दिन सूर्यदेव की, तीसरे दिन ईश्वर देव (शिव) की । पहले दिन अनन्त धनराशि, रत्नकंचन उस मूर्ति पर चढ़े और जितना धन पहले दिन बुद्ध मूर्ति पर चढ़ा, उसका आधा दूसरे दिन सूर्य

मूर्ति पर चढ़ा और उसका आभा तीसरे दिन शिव मूर्ति पर। हर्ष स्वयं बोध था। उसके पिता, पितामह सूर्य के उपासक थे और सम्बन्धी शायद शिव के।

फिर वितरण का आरम्भ हुआ। ब्राह्मण और भ्रमण, जैन और निर्गन्ध, कंगाल और भिलमंगे, अपाहिज और नंगे, बख और द्रव्य हाई महीने तक निरन्तर पाते रहे। पचहत्तर दिनों तक लगातार अटूट धनवर्षा होती रही और हर्ष धर्म द्वारा इतना प्रेरित हुआ कि उसने कोष में तो कुछ नहीं ही छोड़ा, अपने शरीर के वस्त्राभूषण भी उसने दान कर दिए और बहन राजश्री से पटकुल माँग धारण किया।

मैंने सदियों भारत की धनी और कंगाल जनता देखी है। भारत की धनी और कंगाल जनता चिरकाल से निरन्तर मेरे संगम पर आती रही है। असीम वैभय के साथ अनन्त अनन्त गरीबों को भी मैंने अपने जल प्रसार में गोते लगाते देखा है और मैंने उस कंगालपन पर क्षोभ प्रकट किया है, आँसू ढाले हैं। हर्ष का यह धन वितरण देखकर मुझे बार बार आश्चर्य हुआ है कि क्या सचमुच देश में इतना धन है? परन्तु निश्चय देश में यदि इतना धन न होता, यदि वह सहस्र करोड़ से ज़्योन कर हर्ष के कोष में एकत्र न हुआ होता तो वह सम्राट अपने केवल दो हाथों से किस प्रकार इतनी धनराशि उलीचता और क्यों इतने इतने कंगाल मेरे संगम पर उस लूट की प्राप्ति के लिए दौड़ पड़ते? देश में इतने कंगाल फिर होते ही क्यों?

जानता हूँ, सही है, देश में सचमुच इतना धन नहीं, प्रजा सुखी नहीं, जनता के पास जो कुछ है वह भी मुरझित नहीं। देश में अन्धरी भली सड़कें नहीं, लुटेरे उन पर चलने वालों को दिन दहाड़े लूट लेते हैं। सम्राट का विदेशी मित्र स्वयं ह्वेनसांग अनेक बार उन सड़कों पर लुट गया था, परन्तु सम्राट अपने प्रमुख रक्षक कर्म को भी पूर्णतः

न निभा सका । और अब वह अपनी मनःसुष्टि, यशःलाभ, स्वातः-
मुखाय और परलोक निर्माण के लिए यह वितरण कर रहा है । राजा
इतना अनुत्तरदायी, इतना गैरजिम्मेदार, कर्त्तव्य से इतना उदासीन,
जीवन के सत्य के प्रति इतना उदासीन भी हो सकता है, यह मैंने आज
जाना । हर्ष का अन्त भी कुछ मुझ से न हुआ । दान और धर्माचरण
के बावजूद भी वह निःसन्तान भरा और उसका साम्राज्य तितर बितर
हो गया । उसके सिंहासन पर मन्त्री ने अधिकार कर लिया । अनेक
लगातार युद्धों से, अपरिमित वितरण से, प्रवचक औदार्य से कोप कष का
रित हो चुका था और जो उसने थोड़ा बहुत बचा भी था, उसे इस
नए विजय ने लूट लिया । हर्ष की ख्याति, उसकी कीर्ति और सहृदयता
उसके साथ ही मेरे संगम की बालु में खो गई ।

हिर मैं कन्नौज के नव प्रतिष्ठित राजकुल के शासन में आया ।
यशोवर्मन् कौन था, मैं स्वयं सही सही नहीं कह सकता और उसने जिस
राजकुल का कन्नौज में आरम्भ किया, वह भी कुछ लम्बे काल तक
प्रतिष्ठित न रह सका । परन्तु यशोवर्मन् को मैंने जाना । दो कारणों
से मैंने उसे जाना । एक तो इस कारण कि उसका, दत्तार्कवि जो संस्कृत
साहित्य का असाधारण निर्माता हूँ गया है, मेरा उपासक था और
अनेक धार मेरे संगम पर उपस्थित होकर उसने वैदिक सूक्तों का
उद्घोष किया था । दूसरे इस कारण कि जब कश्मीरी विजेता ललितादित्य
मुक्तापीद ने कन्नौज पर आक्रमण कर, उसे जीत लिया था तब उस
विजेता ने अपने पापों के शमन के लिए, मेरे संगम पर स्नान
किया था ।

यशोवर्मन् के बाद आयुधों का कुल कन्नौज में प्रतिष्ठित हुआ
और मैं उनके शासन में आया । चक्रायुध, इन्द्रायुध और वज्रायुध
नाम मात्र को राजा थे । जयापीद ने एक को परास्त किया, धर्मपाल

ने दूसरे को। कमजोरी आक्रमकों के आकर्षण का केन्द्र होती है। कन्नौज की दुर्बलता ने राजनीतिक साहसिकों को अपने वैभव से आकृष्ट किया। पाटलिपुत्र का गौरव कुछ काल से कन्नौज में आ बसा था और उसको स्थायित्व करने के लिए भारत के अनेक राजकुल लालायित रहने लगे थे। अरना प्रभाव कन्नौज पर स्थापित करने के लिए गुर्जर, प्रतिहारों, पालों और राष्ट्रकूटों का त्रिवर्णीय संघर्ष शुरू हो गया था। राष्ट्रकूटों ने उज्जयिनी से प्रतिहारों को भगा कर मध्यभूमि में शरण लेने को बाध्य किया, प्रतिहारों ने जोधपुर की ओर से उठ कर कन्नौज को कमजोर राजनीति पर निर्भर चोट की। पालों ने बंगाल से उठ कर कुछ कन्नौज की दुर्बलता से, कुछ प्रतिहारों के प्रति हर्षा से, कुछ अपने साम्राज्यवर्दीय गौरव में टैठ लगने से, पश्चिम की ओर कदम बढ़ाये। धर्मपाल ने चक्रायुद्ध को हराकर, अपने मनोनीत इन्द्रायुध को कन्नौज की गद्दी दी और अपने इस उत्कर्ष के अर्जन के पहले जीड़ होते हुए भी ब्राह्मण की निष्ठा से शशांक की भाँति, उसने मेरे संगम पर स्नान किया था। परन्तु गंगा-जमुना के दोआब में इन्द्र तृतीय राष्ट्रकूट ने जब उसकी राह रोकी, तब उसकी खपेट से व्याकुल धर्मपाल को भागने की राह न मिली। छत्र और चँवर और अपने तीनों अदेय राजचिह्नों को पीछे छोड़ जो वह भागा तो काशी में ही जाकर रुका। इन्द्र ने मेरे समीपवर्ती देश को लूट कर वीरान कर दिया। मेरे नगर की भी कुछ कम अधोगति न हुई क्योंकि दूसरे की आजादी कुचलनेवाला धर्म और अधर्म के केन्द्रों से कभी प्रभावित नहीं होता। उस भयानक व्यंग पर मैं हँसा जब इन्द्र ने मेरे ही नगर की लूट का एकांश मेरे संगम पर चढ़ाया और मेरे पुजारियों को उसका कुछ भाग दान किया।

प्रतिहारों ने अन्ततः कन्नौज पर अधिकार कर लिया और मैं एक नए साम्राज्य का नगर हुआ। अन्त में मुझे प्रिलोचन पाल के मारने

पर उससे नजात मिली। इस बीच त्रिपुरी के कनचुरी गाँवमें देव ने मेरे नगर पर अधिकार कर लिया परन्तु वह अधिकार तिर रखाई न हो सका और प्रतिहारों ने फिर कुछ काल बाद मुक्त पर अपना स्वत्व जमा लिया। उनके बाद गहड़वाल आये—विजयचन्द और विशेषकर अन्तिम जयचन्द। विजयचन्द ने असाधारण निष्ठा से मेरा निर्माण किया। काशी और मैं, दोनों उसके राज्य के विशिष्ट नगर थे। काशी तां उसकी दूसरी पूर्व की राजधानी भी थी, परन्तु मुझे भी उसने कुछ कम गौरव न दिया। और जयचन्द का भी मेरे ऊपर निरन्तर अनुग्रह बना रहा। जयचन्द जब जब मेरी ओर से होकर गुजरा, जब जब उसने मेरे नगर में डेरे डाले, तब तब मैंने उसकी शक्ति, नीतिमानता और औदार्य का परिचय पाया। भारत में गहड़वालों का प्रतिनिधि और कन्नौज का स्वामी होने के कारण वह सम्राटपदीय था। दिल्ली तब कन्नौज के गौरव का स्वप्न देखती थी और उसके राजाओं को गहड़वाल नृपतियों ने सर्वथा माण्डलिक राजा माना था। इतिहास में किस प्रकार जयचन्द के प्रति कालिल पुत्र गई, मैं नहीं बता सकता। परन्तु इतना मुझे अच्छी तरह याद है कि योद्धा ही दूर पर चँदवारे के मैदान में, जब उस अस्सी बरस के बूढ़े जवान ने अपने मुट्ठी भर वीरों के साथ सहायुद्दीन गोरी का सामना किया था और लड़ते लड़ते वीर गति पाई थी, तब उसके रक्त के अरने जलकणों में मिश्रित हो जाने से मैंने अरने भाग्य को सराहा था। मेरी त्रिवेणी की अन्तःसलिला सरस्वती ने मुझे मेरे कान में यह कथा कही थी, जब भारतीय कथाओं का वीर पृथ्वीराज पठानों से भागा और उसके तट पर पकड़ा जाकर नारा गया था और मैं इस ऐतिहासिक व्यंग से क्षुब्ध होकर, अन्तर्मुख हो गया था।

अब हिन्दुओं का गौरव और उनकी निष्ठा मेरी रक्षा न कर रही

थी, न कर सकती थी। उनकी राजनीति अब स्वयं विपन्न हो गई थी और अन्तर्बंद में पठानों का प्रभुत्व स्थापित हो गया था। गढ़वालों की शक्ति टूट जाने के बाद मैं लुटा और खूब लुटा। जिन पठानों ने काशी के मन्दिरों को विध्वस्त कर, वहाँ की धन राशि से अपने कारवों की गति शिथिल कर दी थी, उन्होंने अपने राह में पड़ने वाले मेरे नगर को भी अछूता न छोड़ा था। परन्तु मेरी यह लूट पहली न थी। कन्नौज के गजनवी ने जब लूटा, तब भी मेरे ऊपर लखौट के दो चार हाथ पड़े थे और उसके पहले उसी के पंजाब के शासक नियल्लिनीन ने भी मुझे लूटने में कुछ कोर कसर न रखी थी। फिर भी अबकी चोट निराली थी क्योंकि इस बार मेरे ऊपर केवल लूट ही तक न सीती बरन् विदेशी आधिपत्य भी कायम हो गया। कुतुबुद्दीन एबक मेरे नगर से घूम कर खालियर की ओर मुड़ गया था परन्तु बल्लियार तो मुझे रौंदा हुआ बंगाल जा पहुँचा। तब से मेरा पड़ोस बराबर अकबर के शासन काल तक दिल्ली की सल्तनत का एक विशिष्ट सूत्र बना रहा, जिसका केन्द्र मेरे पास ही कड़ा में स्थापित हुआ।

कड़ा की राजनीति का इतिहास मेरा इतिहास है। और कड़ा का इतिहास क्रमिक पिढीहों का इतिहास है। जब तक कि अकबर ने मुगल शासन की शक्ति भारत में दृढ़ न कर ली, तब तक लगातार इस सूत्र के हाकिम दिल्ली सल्तनत के विरुद्ध अगाधत के झण्डे उठाते रहे। कतलग खाँ, अरखला खाँ, मञ्जुमलिक, मिर्जा, अलाउद्दीन और पिछले दिनों में खुद सलीम और खुर्रम ने इसी आधार पर अपनी शक्ति का अन्दाज लगाया।

चाचा जलालउद्दीन की कुरा का जो बदला भतीजे अलाउद्दीन ने कड़ा में दिया उसकी जोड़ का दृष्टान्त भारत के इतिहास में नहीं मिलता। जलालउद्दीन अपने शक्तिमान भतीजे की जीतों से परितुष्ट

हो उसके स्पर्श-बितान के नीचे खड़ा हुआ और जब उसका प्रेम से भरा हृदय भतीजे की छाती से लगने लगा, जब उसकी आँखें आनन्द के आँसु से भर चलीं, जब उसके हाथ भतीजे की पीठ पर प्यार से फिरने लगे, तभी अलाउद्दीन ने उसकी छाती में खंजर घुसेड़ दी ! मैंने वह कृत्य अपनी आँखों देखा, कटार की लपट मैंने अपने कानों सुनी ।

सलीम ने भी अपने पिता से यही बग़ावत की । मेरे ही किले में उसने अपने नाम के सिक्के दलवाये । मेरी ही छाया से उठ कर अपने बुन्देले सहायक की मदद से उसने अपने पिता के बज़ीर आज्ञा और प्रिय बन्धु अगुलकजल की हत्या कराई थी ।

हाँ, मेरे पास अब एक किला भी हो गया था । उस किले को स्वयं अकबर ने बनवाया था । प्रयाग यद्यपि अब भी मेरा नाम धार्मिकों में चलता था परन्तु कुछ काल से मुझे लोग इलाहाबाद या इलाहाबाद कहने लगे थे । इलाहाबाद मेरा नया संस्करण था और मेरे इस नव निर्माण में स्वयं अकबर का विशेष हाथ था । उसने जो मेरे संगम पर विशेषतः यमुना के तीर अपने किले का निर्माण किया उसी के चारों ओर अधिकतर यमुना के तट पर इलाहाबाद की आबादी बसी ।

परन्तु इससे पहले कि मैं अपने किले के निर्माण के विषय में कुछ कहूँ, बीच की उन सदियों के इतिहास पर भी मैं कुछ कहना चाहूँगा जो मैंने अपनी आँखों घटते देखा और जिसे मैंने स्वयं सहा ।

मेरे संगम के उस पार पूरब को ओर भँजी है जो कभी चन्द्रवंशीय पुरखा की राजधानी प्रतिष्ठान के नाम से प्रसिद्ध था । ऐज़ पुरखा अनेक प्रकार से आर्य संस्कृति का कोर समझा जाता है । उसकी राजधानी कब और किस प्रकार विनष्ट हो गई यह कहना कठिन है, परन्तु इसमें सन्देह नहीं कि कालान्तर में किसी प्रकार भगों का गणतन्त्र इस

प्रान्त के पूर्वी भाग पर कायम हुआ जो सदियों अपनी न्यायप्रियता और नागरिक स्वतंत्रता के लिए इतिहास-प्रसिद्ध हुआ। मुद्र के पहले भगों का शासन विस्तार प्रतिष्ठान से शृंगुमारगिरि तक—भूँसी से चुनार तक—था। उद्यन से कुछ काल पहले यहाँ ने भगों को जीतकर उनका प्रान्त अपने शासन में मिला लिया। तब से वह विषय उद्यन के उत्तराधिकारियों के हाथ में तब तक बना रहा जब तब मगध की बढ़ती हुई पूर्वी सीमा ने उसे निगल न लिया। भगों का अस्तित्व फिर खो गया और यद्यपि पूर्वी गणतन्त्रों का विशेष उत्कर्ष अगली सदियों में हुआ। भूँसी का गणतन्त्र प्रताप सदा के लिए इस धरा से मिट गया।

फिर भी प्रतिष्ठान का नगर सर्वथा विष्वस्त न हो सका और यद्यपि उसका राजनीतिक प्रभाव जाता रहा, वह नगर फिर भी प्रायः हजार वर्ष तक पूर्वात्य संस्कृति का केन्द्र बना रहा। नवीं सदी ईस्वी तक और पीछे तक उसकी सांस्कृतिक सत्ता बनी रही और वह विद्या तथा दर्शन का केन्द्र माना जाता रहा। नवीं सदी में शंकर और कुमारिलभट्ट दोनों वहाँ आये और दोनों ने एक दूसरे से बहाँ साक्षात्कार किया। कुमारिल पूर्व बंगाल से आए थे, शंकर दक्षिण मालाबार से। कथा प्रसिद्ध है कि नगर में प्रवेश करते ही शंकर ने जब एक बालक से पूछा कि वह कौन है, तो उसने भट्ट करने तत्व की दार्शनिक रूप से व्याख्या करते हुए जो दृश्य था उसके विरोध में कहा—“नादम् मनुष्यो नन्वेव-यन्तो न ब्राह्मणक्षत्रियवैश्यशूद्रः” और शंकर चकित रह गए थे।

भूँसी का उसके पश्चात् निरन्तर अवसान होता गया और कुछ काल बाद इस्लाम की पौजों ने जो मेरा हाल किया वही उसका किया। तीर्थराज होने के कारण मैं तो फिर भी उठ खड़ा हुआ परन्तु भूँसी फिर न उठी। इतना जरूर है कि इस्लाम के शासनकाल में वह फिर भी महत्व का स्थान सम्भालता रहा और दिल्ली के सुल्तान लगातार

उसे जागीर के रूप में अपने अफ़सरों को देते रहे। अकबर जब पठने से लौटा और गुजरात की बग़ावत से निश्चिन्त हुआ तब एक बार संगम पर लड़े होकर जो उसने अपने चारों ओर देखा तो स्थान की मनोरमता और आकर्षण से चकित रह गया। उसके मन में हुआ कि राजनौतिक दौब पेंच के ख़याल से किले के लिए इस संगम से बढ़कर दूसरा स्थान नहीं हो सकता। उसने अपने राज़ बग़ैर किसी पर जाहिर किए अपने मीर मुंशी से पूछा कि आसपास का इलाका किसके जिम्मे है। मालूम हुआ कि है तो वह फ़ड़ा के अन्तर्गत परन्तु सापने की भूँटी की जागीर एक राजा के जिम्मे है।

अकबर ने राजा को तुरन्त बुला भेजा। राजा ने जब अपना बुलावा सुना तो वह धक्का उठा। उसने सोचा कि अकबर के आने पर जो वह उसके हस्तक़बाल के लिए नहीं गया, नज़र-भेंट नहीं की इससे शायद वह नाराज हो गया है और अब उसकी ख़ैर नहीं। धक्काकर उसने अपने सलाहकार से बचने का उपाय पूछा। सलाहकार ग़ज़ब की सूझ का आदमी था। उसने कहा एक नाव हँट चूने से भर कर अकबर की नज़र करो, बादशाह की नज़र करो वह खुश हो जाएगा। राजा कुछ झुंझा उठा पर अपने सलाहकार की सलाह पर उसे हमेशा से भरोसा रहा था। नाव में हँट चूना लाद कर वह संगम में बादशाह के पास जा पहुँचा। बादशाह के सामने जब वह हाज़िर हुआ तब उसको इस प्रकार आते देख उसने उत्तहा कारण पूछा। राजा फिर धक्का और उसने कहा कि मैं इस तरह आने को तैयार न था मगर दोष सारा मेरे सलाहकार का है। बादशाह ने उसको अभय प्रदान करते हुए सलाहकार को फ़ट बुलाने का हुक्म दिया। सलाहकार आया। तब बादशाह ने पूछा, “तुमने मेरे मन की बात कैसे जान ली?” “इसलिए कि अगर बादशाह के संगम पर लड़े होने पर वह बात न सूझती तो मुझे उसकी

अक़ल में शक हो जाता। जहाँपनाह के से विचक्षण बादशाह के मन में यहाँ खड़े होकर मुमकिन न था कि ऐसा न सूझे।" उत्तर मिला। अक़बर ने सलाहकार को तत्काल अपना दरबारी बना लिया। वह बीरबल था। बीरबल सबसे मरने तक बराबर अक़बर का अभिन्न हृदय मित्र बना रहा। उसकी बादशाह के साथ कामों चुटल होती रही और अन्त में उसी की सेवा में बागी पठानों के तिलाक लड़ता हुआ राजा बीरबल मरा।

भूँसी में जहाँगीर के शासनकाल में भी राजनीति के कुछ पैंतरे हुए। खुसरू ने इसी स्थान पर पहले अपने उस भगवत के स्वप्न देखे जिसे उसने लाहौर में जाकर चरितार्थ किया। वद्यपि पिता के सामने उसकी एक न चली। सलोम, जिसने खुद अक़बर के विशद भूँसी में विद्रोह के कतरव्यों किए थे, स्वयं इस समय दिल्ली के तख्त पर था और उसने बेटे को पकड़ कर कैद कर लिया। फिर तो उसे अन्धा करने की जिम्मेदारी जहाँगीर के तीसरे बेटे खुर्रम को मिली और खुर्रम ने उसे ज्योतिहीन करने के साथ ही जीवन से ही विदा कर दिया। इस प्रकार अन्धे तलतनशी होने के राह से पहला काँटा उखाड़ पड़ा। और जब परवेज़ को भी उसने किनारे लगा दिया तब यह पिता के विरुद्ध खुल्लमखुल्ला उठ खड़ा हुआ। उसकी मुठभेड़ बाप से पहले तो पंजाब में हुई, पर जब वह दक्खिन भागा और पूर्व आकर बिहार-बंगाल पर कब्जा कर, बिठ कर वह फिर दक्खिन की ओर लौटा तब भूँसी के मैदान में गंगा जमुना के आर-पार शाही फौजों के साथ उसको अनेक घनी चाटें हुईं। उसके तेज और जवाँभर्दा से कुछ वक्त के लिए तो जहाँगीर स्वयं डर गया था और वह डर भूठा भी न निकला क्योंकि कुछ ही दिनों बाद जब जहाँगीर शासन से उदासीन हो चला और खुर्रम ने सरदारों में अपनी ताकत जमा ली तब यह फिर उधर

पहुँचा और अबकी उसने जहाँगीर, नूरजहाँ दोनों को कैद कर लिया। दिल्ली का तख्त अब उठका था।

आज का इलाहाबाद अकबर का बसाया हुआ है, यह मैं पहले कह चुका हूँ। यह शहर यमुना के किनारे दूर पश्चिम तक बस कर खड़ा हुआ। पूर्व में संगम के पास ही यमुना के पानी को छूता लाल परवर का बड़ विशाल किला खड़ा हुआ जो इधर के मैदानों में अपनी मजबूती और राजनीतिक महत्व के कारण असाधारण था। अकबर ने न केवल यह नगर बसाया बरन् उसने कड़ा से सूबे का केन्द्र हटा कर इलाहाबाद में ही कर दिया। अब इलाहाबाद न केवल एक बड़ा नगर था बरन् बिहार के पश्चिम में दिल्ली सल्तनत का सबसे बड़ा मुकाम। जौनपुर का रुतवा अधिकतर अब उसे मिला।

तैमूर का बराना औरंगजेब के साथ नष्ट हो गया परन्तु नष्ट होते होते एक बार उसने मेरे नगर में हल चला दिया। औरंगजेब जो खुद अपने ईमान और मजहब का असाधारण तपस्वी था, दूसरे धर्मों का कट्टर शत्रु भी था। मेरे नगर का बरबाद करने का उसे विशेष भय है। मेरे अनेक मन्दिर उसने जमीरिज करा दिए और भौंसी का बचा खुचा जीवन भी उसने सदा के लिए नष्ट कर दिया। यद्यपि शुजा की हार औरंगजेब के गद्दी नशीन होने में कुछ कम कारगर न साबित हुई और शुजा को औरंगजेब के बेड़े ने मेरे ही नगर के पश्चिमी कोने पर परास्त किया था। शाहशुजा भागा, पहले बिहार, फिर बंगाल और अन्त में अनाम की ओर जहाँ के बर्बरों ने उसे सपरिवार मार डाला।

धीरे धीरे काल के परिवर्तन से मैं कम्पनी के राज में दाखिल हुआ। कम्पनी का राज्य जब पश्चिम में मेरे समीप पहुँचा तब तक उसने दक्षिण और पूरव में अनेक गढ़ जीत लिए थे। अहीवर्दी खाँ के नाती सिराजुद्दौला का प्लासी के युद्ध में नाश कर जब क्लाइव ने

मीरजाद को बंगाल की गद्दी दी तभी शाहआलम दिल्ली के सल्तनत पर बैठा। शाहआलम बुजदिल और महत्वाकांक्षी था, पर चूँकि बुजदिली और महत्वाकांक्षा साथ नहीं रहते उसे कभी अंग्रेजों, कभी मराठों, कभी अवध के नवाबों के हाथ की पुतली बनकर रहना पड़ा। हालाँकि कुछ ऐसी थी कि आज उसने अंग्रेजों से मुलह की, कल मराठों से, परसों जाटों से। अवध के नवाब जो कानूनन दिल्ली सल्तनत के सूबेदार थे धीरे-धीरे काफी मजबूत हो गए थे और जहाँ वे एक ओर रुहेलखण्ड से शिराज लेते थे वहाँ दूसरी ओर वे जौनपुर और बनारस तक के शासक थे। मैं भी तब अवध के नवाब के ही अधिकार में था। अवध का नवाब शुजाउद्दौला राजनीति में बेजोड़ था। उसने ठग कर शाहआलम को अपने हाथ में कर लिया, परन्तु इसके साथ ही मीर-कासिम की मदद में जब उसे बक्सर की लड़ाई में हार कर अवध भागना पड़ा तब शाहआलम को भी अपनी दयनीय परिस्थिति का आभास मिला।

शाहआलम आकर मेरे नगर के खुसरोबाग में ठहरा। यह बाग एक जमाने से दिल्ली के मुल्तानों का मेरे नगर में किला बनने के पहले डेरा चला आता था। कितने बादशाहों ने इसमें पनाह ली, कितने सूबेदारों ने इसमें डेरे डाले। असल में अकबर के हिन्दू स्वभाव ने अनेक बार मुझको सँभालने, सँवारने का प्रयत्न किया था और उसके परपोते दारा ने तो उन्नतिपदों का अनुवाद भी मेरे नगर के पंडितों के ही जिम्मे कर दिया था। दारा अपने समय में दारागंज में तो एक बार ठहरा ही था। इस खुसरोबाग में भी उसने कई रातें बिताई थी। शाहआलम ने इसी बाग में अपने वे दिन काटे जो कैद से किसी तरह कम न थे और जिनके अन्त में उसे अंग्रेजों को बिहार व बंगाल की दीवानी बख्शनी पड़ी। तब बंगाल का गवर्नर जनरल क्लाइव था और मुझे वह समारोह

आज भी याद है जब उसने उस दीवानी की सनद मेरी जमीन पर दिल्ली के बादशाह से हासिल की।

जैसे जैसे कम्पनी का राज बढ़ता गया, जैसे जैसे उसके धन और प्रभाव की वृद्धि होती गयी वैसे ही वैसे उसके अपसरो के दिल में बेह-मानी पर करती गई। गवर्नर जनरल से कम्पनी के अदने सिपाही तक सब बेहमान थे और सब ने हिन्दुस्तान की नौकरी लूट की उम्मीदों से की थी। आखिर किसी न किसी दिन इस लूट और हड़प की नीति को मुंह की खानी ही थी और जब वह परिस्थिति असह्य हो उठी, और स्वतंत्रता की भावनाओं ने साथ ही भारतीयों के हृदय में घर किया तब देश में, विशेषकर उत्तरी भारत, संयुक्त प्रान्त, बिहार और बंगाल में विद्रोह की वह आग भड़की जिसे सन् ५७ का गदर कहते हैं। गदर का आरंभ मेरठ से हुआ था। आग बढ़ती-बढ़ती अथवा और बनारस, आरा तक आ पहुँची। मुमकिन न था कि मैं हाथ पर हाथ धरे बैठा रहता। मैंने भी वही आचरण किया जो और नगरों ने किया था। मैं भी विद्रोही हो उठा।

मेरे किले के अन्दर भी अदखलानी कैली और उसके सैनिकों ने भी आजादी के नारे जुलन्द किए। मेरे नागरिकों ने जेल का फाटक तोड़ दिया और तीन हजार कैदी स्वतंत्र हो गए। इन्होंने छावनी पर, किले और थाने पर हमला किया और इसमें सन्देह नहीं कि उनकी नजर जहाँ तहाँ मेरे शहर के श्रोमानों पर भी पड़ी। परन्तु मैं बहुत काल तक विद्रोही न रह सका। निरन्तर धार्मिक भावनाओं से कुचले रहने के कारण मैं कभी इस प्रकार के जनआन्दोलनों में भाग न ले सकता था और शीघ्र अंग्रेजों की कुमक आने पर मुझे हथियार डाल देने पड़े। पर इतना जरूर कहूँगा कि यद्यपि गदर के प्रति मेरी उदासीनता ने अधिकांश में मुझे माथ पर इसमें भी कोई सन्देह नहीं कि मुझे विपन्न करने

मे नगर के रहंतों और हलाके के जमींदारों का हाथ भी कुछ कम न रहा था। जिले की अनेक बड़ी जिम्मेदारियाँ माफी के रूप में जमींदारों को मिलीं। नगर के आज के अनेक रईस अपने उसी देशद्रोहिता से रईस बने।

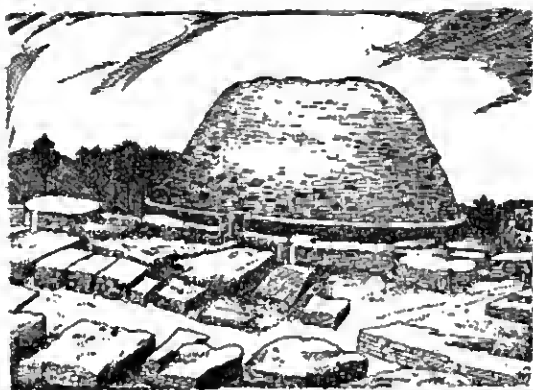
अंग्रेजों की जीत के बाद मेरा नगर भी कुछ कम तबाह न हुआ। जगह जगह फौजी कचहरियाँ खड़ी हुईं। जगह जगह न्याय के नाम पर लड़ाके घाँसी पाने लगे। चौक के बीच जो कई बूढ़े खड़े हैं उनसे उनके बदले का हाल पूछो। सैकड़ों की तादाद में बलवाई उन पेड़ों से रस्सी से टाँग दिए गए। इस पर व्यंग के रूप में मलका बिकटोरिया की दया का बरदान आशा और एल्फ्रेड पार्क में लार्ड कैनिंग ने उसे बड़ी उदारता से पढ़ चुनाया। भारत और साथ ही मैं कम्पनी के शासन से निकल कर पार्लियामेंट की हुकूमत में आए।

जमाना फिर बदला। हिन्दुस्तान ने आजादी का झण्डा फिर उड़ाया और अब मैं भी उसके साथ ही आजाद हूँ। मैंने सदियों देखे हैं, धार्मिकों की उदारता, बंचकता देखी है। राजनीतिज्ञों के दौंधेपन देखे हैं, देशप्रेमियों के बलिदान देखे हैं और आज स्वाहवाजारी भी देख रहा हूँ। आजादी के साथ ही आशा थी, इमानदारी और साथ का सौदा होगा परन्तु जो देख रहा हूँ वह कनी से कुछ कम नहीं। इतना विश्वास है कि यह भी न रहेगा।

उसका अतीत खोलकर रख दिया तब अपनी शुश्रूषा अवस्था में नी कामना हुई कि कोई शहीमान मुझे भी खोद कर जगा देता और जागकर मैं अपने सदियों के इतिहास को फिर याद कर पाती। सर जान के प्रयास ने मुझे फिर चेतना दी और यद्यपि नेरे दिल और दिनाग सही नहीं मैं फिर भी अपने उस अतीत को चित्रपट गुजरती तस्वीरों की तरह मूर्तिमान कर रही हूँ।

संसार के उर्वर देशों ने दुर्द्धर्ष बर्बर जातियों को बराबर आकृष्ट किया है और उसकी उर्वरता ही उसकी नाच खसोट का कारण बन गया। भारत भी इस सिद्धान्त का शिकार बनने से न बच सका। वस्तुतः इस देश पर जितने हमले हुए उतने दुनिया के किसी अन्य भूखंड पर नहीं। और उन हमलों की पहली चोट मुझे सहनी पड़ी क्योंकि मैं भारत का मुख्य सिंहद्वार था। कार्पेथिया और काइकोफ, खुरासान और तक्लाम-कान, आमू और सीर दरिया और गोंदी और चीन की ओर से बर्बर रिसालों की घनक बार बार उठती और मेरे द्वार पर दूटती रही। आर्य और अनार्य, ईरानी और ग्रीक, शक और कुषाण और अन्त में हूण इन्हीं रास्तों से अपने खूनी नेजें लिए मेरे मैदानों में उतरे और एक को भी मैंने बिना जंग किए जाने न दिया। हाँ आर्यों का व्यवहार निश्चय मेरे व्यापार में एक अपवाद है जिसकी याद कर मैं आज भी अपनी इस उजड़ी दुनिया में अपने गौरवमय अवशेषों के बीच सूत के आँसू रो लेती हूँ।

जब ऋग्वेद के सूत्र रचे जा रहे थे, जब आर्यों की कुमक पर कुनक इस भूमि को कुचलती जा रही थी, जब इक्ष्वाकों का केन्द्र अयोध्या निरन्तर सूखे पर सूखे जीतती जा रही थी तभी राम के अनुज भरत ने गन्धर्वों की इस भूमि को अपनी धूरी के नीचे पीस दिया। भरत के पुत्रों को पञ्जाब का यह भाग मिला और गन्धर्वों का यह केन्द्र तक्षशिला के नाम से सुलभित हुआ। भरत के पुत्र तक्षशिल ने मेरी नगरी की पहली



तन्चशिला

कयामत के दिन रुहों के उठने की बात कही जाती है। उसकी सच्चाई अब तक किसी ने न देखी पर आज जो मैं बगैर कयामत के इस बीसवीं सदी में सर जॉन मार्शल की कुदाल से अपनी कब्र से निकल पड़ी हूँ, यह सच है।

मेरा इतिहास ईसा पूर्व उन्नीसवीं सदी से शुरू होकर ईसा पश्चात् छठी सदी में समाप्त होता है। दस हजार वर्षों के इस दौरान मैं में सात बार बली और उजड़ी और अन्त में छठी सदी ईसवी में जो मैं उजड़ी तो फिर न बली। ग्रीकों का द्वीप नगर भी छः बार उजड़ा और बसा था और जब पुलीमान ने उसके स्तर एक के बाद एक उलट कर

नींव डाली और तब से अनवरत उस पर नई परतें जमती-उलझती गईं। गणधर्षों का उत्तर-पश्चिमी भारत के इतिहास के निर्माण में विशेष हाथ रहा है। अनेक बार उन्होंने इस भू-खण्ड का नेतृत्व किया है। अनेक बार मेरे केन्द्र से काबुल और हिन्दूकुश तक की भूमि शासित की है। अनेक बार सिन्धु देश से काश्मीर तक का भू-खण्ड मेरी ओर आदेश और आशा के लिए ताकता रहा है। उन्हीं गणधर्षों ने रामायण काल में आर्य नेताओं के सामने आसाधारण कठिनाइयाँ उपस्थित कर दी थीं। राक्षस साम्राज्यवाद के विरुद्ध अगाधता का पहला भयंकर इसी देश ने खड़ा किया। इसी देश ने पिछले समय में चन्द्रगुप्त मौर्य के मरते ही आजादी का नारा बुलन्द किया और सुशीम को मेरे नगर से बाहर निकाल दिया। फिर अशोक के बेटे कुशाल के शासन में भी इसने उस साम्राज्य से निकल जाने की कोशिश की जिस पर "देवा नामकीय विषदसो राजा अशोक" का "पितृवत्" शासन था। फिर उसके शिखरते साम्राज्य से अलग होने वाला सूबा भी गणधर्षों ही का था। बार बार साम्राज्यों की सत्ता ने इस नगर पर अपना आतंक जमाना चाहा, बार बार इस नगर ने अपनी सीमाओं के अन्दर गणतन्त्र की स्थापना की।

सो गणधर्षों का क्रियमाण कर्मठ कठोर जीवन अपने अरमानों और स्वतन्त्रता की आकांक्षाओं के साथ जिन्दा राक्षसों की नज़रों में खटका और राम ने भरत के नेतृत्व में अपनी संहती चोट की। जिस महानानब ने अयोध्या के आधार से उठकर देश पर देश लॉच समुद्र पार लंका के त्रिकूट के शिखर पर अपने डेरे डाले थे, उसकी महत्ता के समक्ष इस गरीब देश का मजाल कि क्षण भर ठहर सकता। उसे अपनी स्वतन्त्रता खोनी ही पड़ी और तब भरत के पुत्र तक्षशील ने मेरी नींव में पहले पथर डाले।

रामायण काल का इतिहास खुर का होने के कारण मेरी बूढ़ी

आँखों से अस्मृत दीख पड़ता है। उसके अनेक कालक्रम सर्वथा अंधेरे में पड़ गए हैं और उनको देख पाना मेरी फूटी आँखों की सामर्थ्य के बाहर है। परन्तु महाभारत काल की घटनाएँ अपनी शक्ति और क्रूरता से आज फिर मेरे सामने मूर्तिमान हो आयी हैं। गन्धर्वों का मेरा केन्द्र एक बार फिर सजग हो चला था। राम के पाँच सौ वर्ष बाद ईसा-पूर्व, पन्द्रहवीं शताब्दी में फिर मेरे नागरिकों ने इस भू-भाग में अपने शक्ति का साका चलाया और यद्यपि अर्जुन की दिग्विजय ने उनके ढखने भी तोड़ दिए थे, निःसन्देह उनके हाथों से अभी कमलान न छूटी थी। रघुकुल के नष्ट हो जाने के बाद सदियों मेरे नगर में आजादी के गाने गाए थे। राषव साम्राज्य के टूट जाने के बाद मैंने खुली हवा में सौँस ली थी, परन्तु कुछओं के नए उठते साम्राज्य ने फिर एक बार मेरी आजादी का गला दबा दिया। परन्तु मेरी शक्ति का अनुमान उन्हें था और जब महाभारत का युद्ध छिड़ा तब कौरव-पांडव दोनों पक्षों ने मुझे अपनी ओर से लड़ने के लिए आमन्त्रित किया। मेरे लड़कों ने उस युद्ध में भाग लिया भी परन्तु निःसन्देह वह मेरी लड़ाई न थी, गन्धर्वों की लड़ाई न थी बल्कि साम्राज्यवादी दो कुलों की थी और उनमें से किसी की विजय में मेरी अभिरुचि न थी। अनेक बार चित्ररथ और उसके सहकारियों ने अपने हस्तशायक से महाभारत के आर्य-बीरों को चकित कर दिया परन्तु आभास्यवश अन्तिम विजय फिर उनके हाथ रही और मेरी नगरी पर उनकी सेनाएँ फिर आ घमकी।

हस्तिनापुर के इस पारिवारिक युद्ध ने सारे भारत को कुचल डाला। सारे भारत का रक्त इस युद्ध में बहा और कुछ काल तक के लिए यह समुद्र धरा कैमाल हो गई। रक्त पिपासु दिग्विजय और अश्वमेध दास, जन-स्वतंत्रता कुचलने वाले पाण्डवों ने फिर एक बार उत्तरप्रदिश्वम की ओर बल किया। इधर मेरी नगरी में एक बार फिर आजादी के

लड़ाकों ने ताल ठोकी थी। गन्धर्वों ने अपने विश्वसे अनुभवों से जाना था कि उनका अकेले साम्राज्यों के विरुद्ध लड़ा होना कठिन ही नहीं, असम्भव है। इस कारण उन्होंने अन्य सीमा प्रांतीय दुर्द्धर्ष जातियों का एक प्रबल संध बनाने का निश्चय किया। तब बना भी और नाग उसमें प्रमुख हुए। गन्धर्वों के इस केन्द्र, मेरो नगरी में जो नागों का प्राबल्य हुआ उसमें मुझे कोई खानि नहीं, कोई लाज नहीं क्योंकि मैं जानती थी कि आत्मादी की लड़ाई में नागों से अप्रसूही कोई नहीं। उन्हीं नागों ने अर्जुन के पौत्र चक्रवर्ती परीक्षित को एक भार जमीन सुँघा दी। परीक्षित तो उनकी चोट से इस धरा से चल गया परन्तु अर्जुन द्वारा प्रतिष्ठित कुरु वंश के विशाल साम्राज्य पर जो यह क्लंक लगा, परीक्षित का बेटा जन्मेजय उसे स्वीकार न कर सका। उसे धोने के लिए वह कटिबद्ध हुआ, साम्राज्य की सारी शक्तियाँ लिए यह तक्षशिला पहुँचा और मेरे ही केन्द्र से उसने दो अश्वमेध किए।

उत्तके अश्वमेधों का भी एक राज था। कासी असें से ब्राह्मण-क्षत्रिय भारत को जमीन पर लड़ते, मिटते और संधर्ष करते आए थे। बशिष्ठ और विश्वामित्र की यह संधर्ष परम्परा परीक्षित के इस बेटे के समय और घनता प्राप्त कर गई। जन्मेजय और उसके पुरोहित तुरकावेपथ में जो संधर्ष चला, वह बर्धता और नीचता की सीमाएँ नहीं जानता। दोनों पक्षों ने किसी साधन का अनुचित या त्याग्य न माना। सदा दोनों निम्नतम, निरुद्धतम साधनों का प्रयोग करते रहे और जन्मेजय के अश्वमेध के ऋषिज की हैसियत से पुरोहित तुरकावेपथ ने जो आचरण किया वह कितना पतित था, यह मेरे कहने की बात नहीं। राजमहिषी और मृतप्राय अश्व की एकत्र कलुषित भावना मनुष्य के मस्तिष्क में प्रवेश कर उसको भी गला-देगी। मैं उसका कथन नहीं कर पाऊँगी। वह इतना जानें कि उससे यह भ्रष्ट हो गया और उसकी

अपावना से क्षुब्ध जन्मेजय के भाइयों उग्रसेन और शुतसेन ने साठ हजार ब्राह्मणों को तलवार के घाट उतार दिया। शेष ब्राह्मण निर्वासित हो गए और उसके प्रायश्चित्त स्वरूप जन्मेजय को दूसरा अश्वमेध करना पड़ा। रक्त का प्रायश्चित्त रक्त यह आयों की जरूर नेचा ही सोच सकती। रक्त और लूट, दिग्विजय और अश्वमेध के स्वप्नों को चारों तरफ करने वाले इन आयों के प्रतिनिधि जन्मेजय और तुल्कावधेय ने जो मेरी भूमि पर किया, यह मेरी लज्जा की बात न होते हुए भी अकथ्य है।

परन्तु जन्मेजय मेरी नगरी में अश्वमेध करने न आया था। उसे गन्धर्वों के गणों में अग्रणी उन नागों का सर्वनाश करना था जिन्होंने उसके पिता परीक्षित का निधन किया था। जिस प्रकार आयों के बीच गोमेध और अश्वमेध का प्रचलन था उसी प्रकार उसमें नरमेध की भी रीति थी और बहुत नर संहार तो उनके युद्धों की प्रमुख प्रक्रिया ही थी। जन्मेजय भी नरमेध के लिए मेरी नगरी में पड़ा हुआ था। नाग यज्ञ के मनसूबे उसने हस्तिनापुर से ही बाँध रखे थे और अब अश्वमेधों से छुट्टी पा, पाश की भूमि पर अश्वमेध के आतंक की छाया डाल, उसने नागयज्ञ का अशुभ आरम्भ किया। एक एक नाग बाल, युवा, वृद्ध, नारी पकड़ पकड़ यज्ञ की प्रज्वलित अग्नि में डाल दी गई। उन आकाशचुम्बी लाल लपटों से कोई नाग न बचा। अगर कोई बचा तो वे नयनाभिराम नारियाँ जिनके विपुल परिमाण ने आर्य राज्यों और ब्राह्मण पुरोहितों के घरों को प्रसन्न किया। मेरा यह पहला बलिदान था। भारत में उद्धत नगरों की कमी नहीं। उनके गौरवमय कुत्तों की कमी नहीं, उनके बलिदानों की सीमा नहीं। परन्तु जो बलिदान मैंने अपनी नगरी में किए, जिस परिमाण में मैंने अपने बाँके जवानों की आजादी के यज्ञ में आहुति दी, उसका दूसरा दृष्टान्त भारत के तो क्या संसार के किसी देश के इतिहास में नहीं।

महाराष्ट्र काल का अन्त हुआ। कुछ साम्राज्यवाद की श्रृंखला टूटी और पंजाब फिर स्वतंत्र हो, अनेक गण-तन्त्रों में बँट गया। मैं भी आजाद हुई। मैंने भी अपनी नई शक्ति नए सिरे से हासिल की। जित्त शक्ति और सीमा को मैंने इस काल स्वायत्त किया, उसकी तुलना पिछले काल में सदियों बाद इटली का वेनिस नगर ही कर सकता है। ऐसा नहीं कि फिर राजतन्त्र की प्रतिष्ठा मेरी धरा पर न हुई हो, पर ऐसा भी नहीं कि स्वतंत्रता-प्रिय मेरे नागरिकों ने निष्क्रिय हो, उसे चुपचाप देखा हो और उसे निगला हो। बार बार मैंने एकतन्त्री शासन की काया पलट की। बार बार उसे उलटकर मैंने जनतन्त्र की स्थापना की। उपनिषद् काल में देश में जब छत्रियों ने ब्राह्मणों के हाथ से सांस्कृतिक और दार्शनिक नेतृत्व छीन लिया, जब अश्वपति कैकेय, प्रवाहण, जैबलि, अजातशत्रु, काशेय और जनक विदेह, कैकेय, पंचाल, काशी और विदेह में अपने परिपक्वों का वितन्त्रन करने लगे और आत्मा परमात्मा के चक्कर में उन्होंने अपनी प्रजा के उत्तुल्ल नेताओं को डाल दिया तब मैं चुपचाप इस दिशा से उनकी देखती, उनके पैँच के मुहावरे सुनती और मुस्कराती रही। शब्दाढम्बर कितना महनीय हो सकता है, वाग्जाल कितना प्रलोभक और सांस्कृतिक साम्राज्य कितना भयंकर, यह मैं अपने दूर की स्थिति से देख सकती थी। मैं उन केन्द्रों से दूर थी। कैकेय यद्यपि मेरा पड़ोसी था, फिर भी मैं उसके कुचक्रों से स्वतंत्र थी और बार बार मैंने यह कहा कि आढम्बर उतनी ही सीमा तक सफल हो सकता है, जितनी सीमा तक वहाँ अनभिज्ञों का प्रभुत्व हो। मेरे नागरिक तर्क सम्मत व्यवस्था के प्रतिवादक थे। वाग्जाल का उन पर प्रभुत्व पाना तो दूर रहा, वे उनका सक्रिय स्पर्श भी न कर सकता थे।

मेरा गणतन्त्र सजग था। पास ही ईरान साम्राज्य समुद्र की तरफ लहरा रहा था, जिसने एक ओर चीन और बालूतों की सीमाएँ छू ली

थी, दूसरी ओर भूमध्यसागर और ग्रीस की, परन्तु मैं फिर भी आजाद थी। ऐसा नहीं कि मुझे उस महासाम्राज्य सागर से बर न लगाता हो, विशेषकर जब धुनान के नगर एक के बाद एक उसके सामने गिरते गए मैं संजग, तब मैं अपनी सीमाओं पर रक्षा की मशाल लिए बलिदान के सोपानमार्ग पर लड़ा परिचम की ओर देखता रहा। उन दिनों यद्यपि मेरे गणतन्त्र की सीमाएँ छोटी थीं परन्तु निरन्ध्र मेरी नगरी की ख्याति विश्वव्यापी थी। विद्या का ओ केन्द्र ईसा से सात सौ वर्ष पहले अपने यहाँ स्थापित किया था वह सदियों चलता रहा। ईसा पूर्व छठी सदी में तो मैंने वह ख्याति अर्जित की जो किसी विश्वविद्यालय ने कभी न की, शायद आज भी नहीं। दूर देशों के विद्यार्थी मेरे यहाँ आते, भारत के कोने कोने के और विदेश के। चीन का राजकुमार जब अपनी प्रशिक्षण लिए संसार के सारे चिकित्सा केन्द्रों में घूम आया, तब मेरे ही कुशल जर्हाह ने सफल आपरेशन से उसको दृष्टि दी। मगध के जीवक और कोशल के प्रसेनजित ने मेरे ही विद्यापीठ में अपना शानार्जन किया था। पाणिनी और चाणक्य ने मेरी ही नगरी में अपने व्याकरण और अर्थशास्त्र के सूत्रों के आधार समझे थे। मेरी नगरी विश्व की मेधा थी। और यह मेधा निरन्ध्र जनक विदेह अथवा प्रवाह्य जैवलि नहीं संभाल सकते थे। उसका सृजन आजाद गणतन्त्र द्वारा और उसी ने मेरी घरा पर उसे सम्भव किया था। संसार के तीन महापुरुषों के सहचर अपने अपने काल में मेरी सड़कों पर घूमे थे—बुद्ध के सहचर जीवक और प्रसेनजित, सुक्रात और डिओजेनीज का शिष्य ओनेसीक्रैतस और ईसा का शिष्य सेन्ट थोमस। पर इस समय नहीं, उचित प्रसंग में ओनेसीक्रैतस और सेन्ट थोमस की कथा कहूँगी।

ईरानी साम्राज्य जिसकी ओर अभी अभी संकेत कर चुकी हूँ, आर्यों का था और साम्राज्य प्रकृति: दुरे और कर होते हैं। फिर यह आर्यों का

था, आधार से ही नृशंस, आरम्भ से ही रक्त पिपासु। अब जिनकी शक्ति और राष्ट्र का चोतक ही धनुष जिनके हस्तलाघव का प्रभाव हो, कुत्ते जिनकी बर्बरता के अभिशाप हो, उन आक्रमण विजेताओं की शक्ति का उपद्राव मुझे नहीं करना है। मैं केवल इतिहास घटित उनके खूनी पराक्रम के हवाले दूंगी। असुरों का रक्त सम्भार स्वयं कुछ कम न था, सुमेर की सांस्कृतिक सम्बन्धता पर उन्होंने स्वयं कभी अपना अभि भौंड़ उलट दिया था और जब हम्मुराबी के धनुष के टंकार नील से सिन्धु तक सुन पड़ने लगे थे, तब मैं स्वयं दहल उठी थी। परन्तु उन असुरों के विजित पर भी आयों की इस ईरानी शाखा ने मरणांतक चोट की। आसुरी साम्राज्य के ऊपर ईरानी साम्राज्य का बितान तना। साम्राज्यवाद कभी अपनी-परायों को नहीं संजता, नहीं समझता। पड़ोसी उसका पहला शत्रु होता है चाहे वह पड़ोसी सगोत्रीय हो, चाहे मित्र। ईरानी आयों के सम्राट चर्याप, कुरुष और दारयशोष (दार) ने जब अपनी सीमाएँ पश्चिम की ओर बढ़ानी शुरू कीं तो डोरियन ग्रीकों के नगर-भार हिल गए और उनके अवशेष जिनकी स्याति, जन बल, स्वातंत्र्य-प्रियता और दार्शनिकता चोटी तक पहुँच चुकी थी, अब उनके सामने क्षण भर खड़े न रह सके। ईरानियों ने आर्थ-अनार्थ का विचार ताक पर रख दिया और वे उन्हें कुचल बैठे। उनसे छुटी या छुटी सदी ईसा पूर्व के मध्य दार ने अपनी कठोर दृष्टि पूर्व-दक्षिण की ओर भी डाली और मैं तिलमिला उठी।

आखिर एक दिन बड़ी दुआ, जिसका मुझे डर था। ईरानी रिशालों की अटूट पैकियाँ हिन्दुकुश लाँचती खैबर की राह मेरे द्वार पर आ खड़ी हुईं। जहाँ तक मन पड़ा, मैंने उनका अवरोध किया। परन्तु कहाँ तो संसार के सब से बड़े साम्राज्य के खूनी साधन और कहाँ मुझ सांस्कृतिक केन्द्र की सीमित शक्ति, मैं उलझ गई। प्रजाप और सिन्ध ईरानी साम्राज्य

की बीसवीं 'शत्रुघ्नी' (सूत्रा) में गिने जाने लगे। मेरी नगरी को भी सोने की धूल की एक तौल ईरानी वार्षिक आय के रूप में देनी पड़ती थी। परन्तु साम्राज्य स्वयं जो एक संगठित विरोधाभास है, उससे उसका अपने आप टूट जाना भी स्थानाधिक है और ईरानी साम्राज्य की चूलें भी धीरे-धीरे ढिल गईं। इधर उस पकड़ के कमजोर पड़ते ही, मैंने फिर बगवत का भण्डा अपने हाथ में लिया और न केवल मैं आजाद हुई बल्कि साथ ही मैंने सिन्धु को भी आजाद किया।

मानती हूँ, यह आजादी बहुत दिनों कायम न रह सकी। इस अवसर पर इसी प्रसंग में तबारीख नवीसों के लिए भी एक बात कह देनी मुनासिब समझती हूँ और यह बात मेरे इतिहासकार मजाक में न लें इससे मैं उन्हें होशियार किए देती हूँ। कारण यह है कि जो भूठ-सच घटनाएँ वे अपनी सूफ और कश्मना से बनाते रहे हैं, उनको और केवल सच्चाइयों को मैंने खुद देखा और भोगा है, सो मैं कहती हूँ कि एक देशीय इतिहास लिखने वाले इस बात को सर्वथा भूल जायें कि अपने देश की सीमाओं में घटने वाली घटनाओं को लिखकर वे इतिहास लिखने के अर्थ को अंकगत कर रहे हैं। घटनाएँ आंशिक और प्रादेशिक कम होती हैं, अन्तर्देशिक अधिक। कौन कह सकता था, भला किसे गुमान भी था कि इजिप्टन तक के स्वतंत्र नगर अंगुला के उत्तर में मक-दूमिया के से नितान्त लघु, पहाड़ी और बर्बर भू-खण्ड से जो आँधी उठेगी वह संसार के सारे प्राचीन साम्राज्य आधारों को हिला देगी, उन्हें बेकाबू कर जीत लेगी? कौन जानता था कि वह आँधी बारी-बारी से मिश्र और ईरान पर चोट करेगी और उनके प्रान्त देखते-देखते भिन्न जायेंगे? पर हुआ ऐसा ही। किलिफ के उस तपस्वी वंशधर ने जिसने अरस्तू के दर्शन को एक कान से सुनकर दूसरे से निकाल दिया था, जिसने पिता की प्रसार नीति को क्षुद्र ग्रीक नगरों के सामने जब तक

कुथिठत होते देख अपने तेवर बदल दिये थे, जिसने मकदूनिया के सोमित साधनों को अपने लिए रख, उसके नवार्जित धैर्य को मित्रों में बाँट दिया था, दूरी को असंगत कर साम्राज्यों का अन्त कर दिया। मकदूनिया से निकल मिश्र और सीरिया होता, ईरानी साम्राज्य को अपनी ठोकरी से गिराता, पर्सपोलिस को अपनी प्रेयसी ताया के इशारे से भस्म-सात करता, हिन्दूकुश की ऊँचाइयों को भी एकाएक लाँघ गया। क्षण भर के लिए सीरियक शासक की कन्या रुद्राना और ईरानी सम्राट की कन्या आर्तकाया के मोह में भूल जब तक उसने आपान के रस लिए तब तक ईरानी रणनेताओं ने भाग कर बाल्त्री को अपना गढ़ बना लिया, परन्तु सिकन्दर लौटा। हिन्दूकुश लाँघ बध्नु के तट पर उसने एक बार प्रलय लीला मचा दी और फिर हिन्दूकुश लाँघ प्राचीन आयों के सतसिन्धु की पश्चिमी चौड़ी पर खड़े होकर उसने पूरव की ओर उँगली उठाई। ग्रीकवाहिनी अपने झण्डे के नीचे संसार की लूट और मार के नाम पर दौड़ पड़ने वाली जातियों के भयानक साहसिकों को लिए पुर्य की ओर उस उँगली की सीध में चल पड़ी।

ईरान का टूट जाना कुछ आसान न था। उसकी खबर जादू की तरह दुनिया में फैल गई थी। पंजाब के प्राचीन गणतन्त्र शक्ति हो उठे थे। प्राचीन मगध का पाटलिपुत्र दम साथे पश्चिम की ओर रुख किए देख रहा था। मैने भी दो सदियों बाद ईसा पूर्व चौथी सदी की इस आंधी को भेलने के लिए फरकसी। परन्तु वह मेरे घस की बात न थी। जन गल मेरा न था। मेरा गणतन्त्र हाल ही में ध्वस्त हो गया था। तक्षशिल ने उसके नेताओं को कुचल कर, एकतन्त्रीय शासन का फिर से आरम्भ किया था और उसका पुत्र आम्बी इस समय मेरा प्रभु था। सिकन्दर आया और मेरे स्वामी ने हथियार डाल दिए। उसके दूतों ने सिन्धु पार जाकर उसका स्वागत किया। पण्डित मैं पहले भी

हुई थी, पीछे भी हुई। परन्तु अपनी पराजयों के लिए मुझे कभी ग्लानि न हुई, जो चढ़ता है वही गिरता है, बिना चढ़े कोई क्या गिरेगा। घुटनों के बल चलने वाला निश्चय कभी मैदानजंग में नहीं गिरता। हार-जीत लड़ाई के दो पहलू हैं, जिनको अंगीकार कर ही लड़ाका मैदान में उतरता है। मैं अपनी हार-जीत से दुःखी या तुलसी नहीं हूँ। परन्तु जिस संघर्ष में प्रयत्न का अभाव हो; जहाँ मैदान में उतरने की नीयत आए और ही भाग्य का निपटारा हो जाय, वहाँ मैं अपने लिए स्थान न माँगूँगी; इतिहास की पंक्तियों में इस प्रसंग में नाम आने पर मैं भर-सक उसे काट भी देने का प्रयत्न करूँगी। परन्तु अनाम्य। वही हुआ जिससे मुझे घृणा थी। राजा तक्षशील का बेटा आग्नी आखिर वह धिनीना आचरण कर ही बैठा, जिससे मेरे मुँह स्वाही पुत्र गर्द—एक बार फकत एक बार, तिकन्दर आया। अटक के पात ओदिन्द को लाँघ तीन दिन की यात्रा कर वह मेरे नगर में पहुँचा, जहाँ चाँदी और सोने की राशि, भेड़ों और सुन्दर बैलों की अनन्त संख्या, विजेता को प्रदान की गई और जब तक अपनी नारियों और मुवासित शराब के विलास में सिकन्दर मन बहलाता रहा; जब तक ग्रीक सैनिक खेल-कूद में; यिभ्राम और ग्रीक देवताओं की पूजा में अपना व्यसन करते रहे, आग्नी पर-दिक्ष को लिए मेरे चतुर्दिक जनपद को जीतने निकल पड़ा। जब मनुष्य गिरता है तब गिरता ही जाता है। परन्तु सम्भवतः उसका कोई तल हाँता ही है। पर जब राजा गिरता है जो शायद मनुष्य से इतर है तो उसके पतन का कोई अनुकम्ब नहीं होता; उसे शायद कोई तल नहीं मिलता। आग्नी के लिए इतना बल न था कि वह स्वयं अक्षतसमर्पण कर देता वरन् उसने अपने देश को विदेशी भाण्डे के छाये में जीतने का भी बीड़ा उठाया। यह राजा द्वाय ही सम्भव था। कुछ ही समय बाद मैंने कठों को मालवी और क्षुद्रकों को शिवियौधेय को पग-पग पर

विदेशी विजेता की राह रोकते देखा। इक्षु इक्षु की जमीन अपने रक्त से सँचिते देखा और मैं तमक उठी कि मुझे इतने का भी भेय न मिला। मैं कह रही थी कि राजा जब गिरता है, गिरता ही जाता है। आज यदि मेरा गणतन्त्र जीवित होता तो मैं भी वही करती जो मालव क्षुद्रकों ने किया, कठ, यौधेयों ने किया, पर मेरे ऊपर अंकुश लिए जो आम्भी बैठा था, उसने मेरे अरमानों का गला छोट दिया। मेरे पाँच हजार जुने जवानों ने आम्भी के नेतृत्व में राजा पौरव को हराने में सिकन्दर की मदद की। राजा पौरव स्वयं उसी राजनीति का शिकार और पोषक था, जिसमें राजा अपने राष्ट्र को व्यक्तिगत रूप से भोगने की वस्तु मानता है और उसने भी वही आचरण किया जो आम्भी ने किया था। कठों के अभ्यवसाय ने प्रोक्तों को प्रायः जोत लिया था कि पौरव ने हराने जुने जवानों के साथ उन पर आक्रमण कर उन्हें कुचल डाला था।

आँधी आई और गई। मैं यद्यपि कुचल गई थी, पर उस ओर से उदासोन न थी। दुर्दकालीन भारत के गणतन्त्रों में पूर्व की ओर यजी लिच्छवियों ने जिस आजादी की रक्षा का भार अपने हाथ में लिया था उसी का रक्षा भार उत्तर-पश्चिम में मैंने लिया था। समय समय पर मेरी छाती पर निःसन्देह राजतन्त्र सवार होता गया, परन्तु फिर भी मैंने उसके विरुद्ध प्रतिक्रिया जारी रखी और फिर-फिर मैंने उसके विरुद्ध हथियार उठाया। आम्भी का व्यवहार मेरे लिए मेरी अटूट ग्लानि का कारण विद्वद् बुद्धा और मैं पहले अवसर का ताक में सजग हो बैठी। अवसर मिला, सिकन्दर लौटा और लौटने के पहले उसने मुझको सिन्ध और मेलम के बीच के देश की राजनीति का केन्द्र बना दिया और मेरे राजा आम्भी को उसका रक्षक। तीन वर्ष बाद सिकन्दर के आग्रह में मरने की खबर आई और उस खबर ने केवल मृत्यु का सन्देश

ही नहीं बढ़न किया बलिक पंजाब के गणराज्यों में एक नई स्फूर्ति भर दी। पहले से ही सिकन्दर के पीठ पीछे हो विप्लव होने लगे थे। उसके कई क्षत्रियों की हत्या भी पंजाब और उसके समीपवर्ती प्रदेश में हो चुकी थी। परन्तु अब तो ग्रीकों का निष्काशन नये सिरे से शुरू हो गया। इसी बीच, मैने भी आम्भी और उसके राजकुल को उल्लाड़ पेंका।

अब मैं फिर गणतन्त्र थी। फिर आजादी का एक नया अंकुर मेरी जमीन में लगा। परन्तु मैं यह साफ बता देना चाहती हूँ कि जितना अपकार विदेशी मेरी राजनीति का न कर सके थे, उतना मेरे स्वदेशी राजाओं ने किया। असल बात तो यह है जैसा कि पहले कह चुकी हूँ, साम्राज्यवाद अपना परावा नहीं देखता। मैं भी, कोई कारण न था कि भारतीय उठते हुए साम्राज्य का प्रिय पात्र बन सकती। चन्द्रगुप्त मौर्य ने मगध में एक नए कुल का आरम्भ किया था। नन्दों के राजकुल को समूल नष्ट कर उसकी गद्दी पर कठोर मानस ब्राह्मण चाणक्य ने चन्द्रगुप्त को प्रतिष्ठित किया था। चाणक्य अप्रतिम साम्राज्यवादी था और अपने अर्थशास्त्र में उसने एक सर्वथा मारक, विध्वंसक एकाक्षर साम्राज्य का प्रणयन किया। उसकी मेधा की दो भुजाएँ थीं, चन्द्रगुप्त के रूप में अनुप्राणित और उनके योग से पाटलिपुत्र में बैठा हुआ ही उसने भारत के प्रान्त के प्रान्त खींच लिए। पंजाब ने उनकी सहायता के लिए धन-जन, साधन सभी कुछ दिए थे। उससे बढ़कर उसने उन्हें मगध साम्राज्य की गद्दी दी थी। परन्तु उसका उन्होंने उल्टा प्रयोग किया। हमारी नैकी का बदला उन्होंने बदले दिया और एक के बाद एक पश्चिमी भू-खण्ड मगध की बढ़ती सीमाओं में समाते गए। इस काल पंजाब में अनन्त गण-तन्त्रों की प्रतिष्ठा हो चुकी थी। प्रत्येक गण-तन्त्र अपनी सीमाओं में स्वतंत्र और संतुष्ट था। मैं भी अपनी हाल की दय्यता से लौट कर स्वास्थ्य

लाभ कर रही थी, परन्तु मगध की संहती चोट ने मुझे फिर धूल चटा दी।

अन्य गण-सत्तों की ही भाँति मैं भी मर्माहत हुई। मैं भी पंजाब के अन्य प्रदेशों के साथ ही, मगध साम्राज्य का एक प्रान्त बनी। मेरी नगरी में उत्तर-पश्चिम का शासन केन्द्र प्रतिष्ठित हुआ। सिकन्दर ने सन्तान न छोड़ी थी। उसका विशाल साम्राज्य उसके मरते ही उसके सेनापतियों में बँट गया। मित्र तीलेमी ने लिया, सीरिया सेल्यूकस ने और पूर्वी प्रान्तों पर अधिकार के लिए एन्टीगोनस और सेल्यूकस में जंग छिड़ गया। गागामेला के युद्ध के बाद सेल्यूकस अपने स्वामी के जीते भारतीय प्रान्तों को और ज़ब्र बढ़ा तब मुझे ऐसा लगा कि मगध और सीरिया के इस कशमकश में, मैं निश्चय स्वतंत्र हो जाऊँगी। पर स्वतंत्र हो न सकी मैं, क्योंकि सेल्यूकस को यह चढ़ाई मँहंगी पड़ी और मगध सम्राट ने उसके प्रयास को रीढ़ तोड़ दी। उसके हिन्दूकुश के पूर्व के चारों प्रान्त मगध के हिस्से पड़े और मुझे उनका अनिर्भावक बनना पड़ा। सीमा प्रान्तीय राजनीति का केन्द्र मैं पहले ही हो चुकी थी। अब इन चारों प्रान्तों के शासन का उत्तरदायित्व भी मेरे ही कंधों पर पड़ा।

यह न भूलना चाहिए कि मैं इस समय भारत के एक विशाल भू-खण्ड की स्वामिनी थी। एक समृद्ध प्रदेश का, जिसमें नितान्त सभ्य और अस्म्य बर्बर एक साथ बसते थे। सारा पंजाब, सिन्ध, काश्मीर, और अब कानुल-कंधार बलुचिस्तान और हैरात भी मेरे शासन में आ गए। इन पिछले चार सूबों में बसने वाली जातियों पर कभी कोई शासन न कर सका था। उन भयानक जातियों पर अब मुझे शासन करना पड़ा।

मैं समझती हूँ, मेरे पतन का एक विशेष कारण भी था। इसमें सन्देह नहीं, मेरी राजनीति कुछ काल से छिन्न-भिन्न हो गई थी, विशेष-कर सब से अधिक उस पर राजसत्ता का प्रादुर्भाव हुआ था। परन्तु

इसमें भी सन्देह नहीं कि राजनीति सदा सामाजिक परिस्थितियों का परिणाम हुआ करती है, और मेरा समाज नितान्त क्लृप्त हो गया था। सिकन्दर ने स्वयं मेरे बाजारों में कंगाल पिताओं द्वारा कन्याओं को बेचते देखा था। मेरे मृत नागरिकों के शव जहाँ तहाँ ढाल दिए जाते थे, जिन पर गिद्ध और चीलें मँडराती थीं, बहुत विवाह ने नारियों की हज्जत खाक में मिला दी थी। पुरुष का शौर्य अपनी मान रक्षा से हट कर वीर की सेवा में जा लगा था। पहले सैनिक वीर का पार्श्ववर्ती समान अधिकारी था, अब वह उसका अनुचर हुआ। इनके अतिरिक्त अनेक सामाजिक दुर्व्यवस्था मेरे जन-बल को और उससे कहीं बढ़ कर उसकी मानसिक आजादी को खाने लगी थी। यह सम्भव न था कि दुर्व्यवस्था के बावजूद भी मेरी राजनीति पूर्ववत् आजादी की रक्षा में संलग्न रहती है। जो भी हो, आजादी के छिन जाने से मेरा सर्वस्व छिन गया और मैं मगध साम्राज्य की चेरी बन गई।

मैं ऊपर कह आई हूँ कि जिन जातियों का नियंत्रण मेरे जिम्मे पड़ा था, उनका नियंत्रण कुछ आसान न था। जीवन में नियंत्रण में रहना उन्होंने सीखा ही न था। दाँत के बदले दाँत और आँल के बदले आँल—यही सदा से उनकी नीति रही थी और यही नव साम्राज्य के नव विधान नहीं रहने देना चाहते थे। फिर संघर्ष शुरू हो गया और उत्तर-पश्चिमी सीमा पर युष्कजई और काफिरस्तान की संधि पर दौभ के काले बादल मँडराने लगे। चन्द्रगुप्त मर चुका था। चाणक्य की राजनीति भी पेच में पड़ गई थी। बिन्दुसार तलवार उठाने में बसपि पिता से कुछ कम प्रवीण न था, परन्तु उसमें न तो चन्द्रगुप्त की महत्वाकांक्षा थी और न उसे चाणक्य का मंत्र ही उपलब्ध था। यद्यपि उसने अपने को 'अभिषेकात' कहा, पर वह दरबार सेत्री था। सिकन्दर की सेनाओं ने भारत के लिए पश्चिम की

राह खोल दी थी । । पश्चिमी राजाओं के साथ राजनीतिक दौत संबंध स्थापित हो गया था । बिन्दुसार पश्चिमी राजाओं से अंजीर मसिर और दार्शनिक माँगता था । सिकन्दर के साथ जो अनेक दार्शनिक आए थे, उन्होंने मेरी नगरी की सड़कों पर भी दर्शन के कोलाहल सुने और अनेक तर्क से द्रवित हुए । आनेसीक्रोतस तो सुकरात और डिओजनीन का शिष्य ही था, अफलातून का गुहभाई और उसने भारतीय दार्शनिकों के चमत्कार की बात पश्चिमी भिदेशों में फैलाई थी । परन्तु दर्शन इस एकाकी निष्कल दार्शनिक चिन्तन में मेरी आजादी का गला घोट दिया । उदासीनता इस दार्शनिकता का प्राण है और जो इसका प्राण है, वही राजनीति के लिए भी है । सो यद्यपि मुझे इसकी कम खुशी नहीं कि आनेसीक्रोतस का सा दार्शनिक मेरी सड़कों पर घूना, मेरे दार्शनिकों से उसने शास्त्रार्थ किए, विजित और चमत्कृत हुआ, यह बात मुझे कुछ कम नहीं खलती कि इस दार्शनिकता के मुट ने मेरा कभी सर्वस्व छीन लिया था । परन्तु उसी दार्शनिकता की धुन की तरह मगध केन्द्र में लगते लगते देख मैं भीतर ही भीतर कुछ प्रसन्न भी हुई । वरुध प्रांतों में उदासीन बिन्दुसार अपनी पकड़ मुझ पर भी कमजोर कर देगा, इससे आश्चर्य होकर मैं उन दुर्द्वर्ष जातियों की ओर रुख कर बैठी, जिनका वर्ण आजादी के प्रति मोह मुझ अंधे का सहाय हुआ और रुख करना सचमुच व्यर्थ भी सिद्ध न हुआ । तुरन्त विद्रोह की आग भड़की ।

मुत्तीम मगध के सम्राट का प्रतिनिधि या और वह अपने मंत्रिमंडल के साथ, मेरे ही नगरी में निवास करता था । यहीं से वह पंजाब, खैनाप्रान्त, सिन्ध और काश्मीर के प्रदेशों पर शासन करता था । यहीं से वह उन दुर्दान्त जातियों को नियन्त्रित रखता या जो हिन्दूकुश के साथे में उठती गिरती रहती थीं । उन्हीं जातियों ने विद्रोह की आग

भड़काई जो सिन्ध से काश्मीर तक लगातार भड़कती चली गई। मगध की स्थानीय सेनाओं ने सारे प्रयत्न किए। प्रयत्न कर कर वह थक गई, पर विद्रोह शांत न हुआ। कुछ समय के लिए मुसीम और मन्त्रिमण्डल को मेरा नगर छोड़ कर भागना तक पड़ा और साम्राज्य का उत्तर पश्चिमी सीमाप्रान्त संकट में पड़ गया। अन्त में लाचार सम्राट् विन्दुसार को उज्जैनी के शासक अपने दूसरे पुत्र अशोक को मेरे दमनार्थ भेजना पड़ा। अशोक अपने पितामह को ही भाँति ही उदात्त और शत्रुनाशक था। उसने भट्ट विद्रोहियों को कुचल डाला। मेरी प्राचीरों के पीछे जो एक नए स्वतंत्र संघ ने जन्म लिया था, जिसकी आजादी की आकांक्षाओं ने पठानों के विद्रोह को शक्ति दी थी, छिन्न-भिन्न हो गया। अशोक कुछ काल तक वहीं जमा रहा फिर जब विद्रोह सर्वथा शांत हो गया, तब वह यहाँ का यथोचित प्रबन्ध कर पाटलिपुत्र लौटा।

किस प्रकार पिता के मरने के बाद भाइयों में संघर्ष छिड़ा, किस प्रकार उनके रक्त से होली खेल अशोक ने सिंहासन की ओर अपने कदम बढ़ाये, किस प्रकार दिग्विजय की कामना से कलिंग को कुचलकर अशोक ने अपने साम्राज्य में मिला लिया, किस प्रकार उसने लाखों का नाश कर अपनी शक्ति का सङ्गत दिया, किस प्रकार फिर उसकी प्रतिक्रिया के बरी-भूत हो उसने बौद्ध धर्म में दीक्षा ली और किस प्रकार देवा नानकीय के पियदसी वन इसने उस धर्म का प्रकार किया, प्रजा की नई सेवा की वह वास्तव में मगध और पाटलिपुत्र की कहानी है, मेरी नहीं और मैं उसे न कहूँगी। इतना जरूर कहूँगी कि यद्यपि उस महान् नृपति में अनेक गुण थे, दया और औदार्य था। परन्तु जहाँ तक स्वतंत्रता की बात थी, उसने भी उस दिशा में कोई प्रयास न किया। जीते जी प्रान्तों के ऊपर उसने अपनी एकड़ ढीली न होने दी और यद्यपि उसके उपदेशों से मुझे कुछ राहत मिली थी। मैंने सोचा था कि सम्भवतः विभिन्न जातियों को वह

आजादी मश दे परन्तु आस-पास खड़े उसके उपदेश स्तम्भों के बावजूद भी मैंने उस दिशा में कोई गति न देखी और चित्त मार बैठा रहा ।

अशोक देवताओं का प्रिय, प्रजा का प्रियदर्शी अशोक निश्चय महान था । पितामह की कठोर राजनीति को बदला भी उसने बहुत कुछ, परन्तु यह स्वयं अन्ततोगत्वा अपनी कमजोरियों का शिकार हो गया । अब भी मैं उसके उत्तर-पश्चिमोत्तरी तीमान्त की राजधानी थी; अब भी सम्राट का प्रतिनिधि शासक अपने मंत्रिमण्डल के साथ मेरे केन्द्र से दूर के प्रान्तों पर शासन करता था । अशोक ने सम्राट होने के बाद अपने पुत्र कुशाल को मेरे नगर में अपना प्रतिनिधि शासक बनाकर भेजा । कुशाल शिष्ट और सुन्दर था, वीर और आचारवान, परन्तु यही गुण उसके सर्व-नाश के भी कारण हुए । वृद्धावस्था में अशोक ने तिष्यरक्षिता से विवाह कर लिया था । तिष्यरक्षिता तरुण थी, सुन्दरी थी, आकर्षक थी, कामुक थी । उसका घटा सा उठता यौवन राजा के वृद्ध पौरुष पर व्यंग का अद्भुत सा था । तिष्यरक्षिता को सम्भालना अशोक के लिए सम्भव न था, और अपने काम की अभिवृत्ति के साधनों से वह निरस पाटलिपुत्र के प्रासादों में अपना अभिरंजन करने लगी । मन्त्रणा के लिए आए हुए सौत के बेटे कुशाल को जो उसने प्रासाद में पिता के साथ देखा तो दोनों के असमान सौन्दर्य, विषम पौरुष को देख वह कुशाल पर लड़ू हो गई । कुशाल के खंजन नेत्रों ने उसे अनजाने अपनी ओर खींचा और मन-स्विनि तिष्यरक्षिता उसके बाहुपारा में बँध जाने को उद्विग्न हो उठी । कुशाल के औचित्य ने उसे धिक्कार कर टुकरा दिया, परन्तु गर्विणी चोद लाए नाग की भाँति फुसकार उठी और उसे हटाने के अवसर ढूँढ़ने लगी । एक दिन उसने अपनी दुरभि-सन्धि चरितार्थ भी कर ली ।

वृद्ध प्रणय में विवेक की माया कम से कम प्रेक्सी के प्रति उत्तरोत्तर कम होती जाती है । अशोक ने उस कल्पित कथा को सत्य माना जो

तिष्यरक्षिता न कुणाल के विरुद्ध उसके कान में डाली और उसने अपनी मुद्रा उस शासन-पत्र पर अंकित कर दी, जिसमें कुणाल के सौंदर्य के प्राण उसके खंजन नेत्रों को निकाल लेने का आदेश था। मेरी ही नगरी में, मेरे ही प्रासाद में, मेरे देखते ही देखते उस कर्मठ वीरवान् आचार-पूत कुमार के नेत्र कोटरों से निकाल लिए गए। तिष्यरक्षिता ने उनको देखा और अभितृप्ति लान की।

अशोक के मरते ही साम्राज्य के प्रान्त बिखर चले। फिर मैंने आजादी के सपने सत्य किए और शीघ्र काकुल तक के भू-खण्ड के साथ मैं स्वतंत्र हो गईं। फिर मैंने अपनी प्राचीरों के भीतर गणतन्त्र कायम किया। यद्यपि काकुल के राजा की शक्ति का लोहा मुझे जब तब भानना पड़ा। इसी बीच मध्य एशिया में स्वतंत्रता की एक नई लहर उठी थी, इसकी पूर्व तीसरी सदी के मध्य में। सीरियक साम्राज्य के दो विशाल प्रान्तों पार्थिय और बाबिली ने सहसा स्वतंत्रता की घोषणा कर दी थी और यद्यपि सीरियक सम्राट पार्थिया और बैक्ट्रिया दोनों पर निरन्तर चोटें करता रहा, उसके खोए हुए प्रान्त फिर साम्राज्य को न लौटे। बाबिली में तो वह महीनों अपनी सेना लिए उछल-कूद मचाता रहा, परन्तु यूथिदेमों के सामने उसकी चली एक नहीं। मजबूर होकर उस नए राज-कुल के साथ सन्धि करनी पड़ी और यूथिदेमों के पुत्र कुशल राजनीतिज्ञ दिमित्रिय को उसे अपनी कन्या देनी पड़ी। फिर अपनी हार की मौल्य मिटाने के लिए वह हिन्दू-कुश लांघ भारत की ओर चला। भारत का उत्तर-पश्चिमी प्रान्त मेरे केन्द्र के साथ ही मगध से बाहर निकल गया। या और अब उसका शासन बुभागसेन नामक एक भारतीय पठान करता था। बुभागसेन आक्रमण को रोक न सका और उसकी सेनाएँ मेरे मैदान में सहसा आ धमकीं। इस देश का सिंहरार होने के कारण मुझे विजेता से लोहा लेना पड़ा और मेरी सेनाओं ने जो सिन्धु लांघ सेल्यूकस

के उस वंशधर को अपने शीर्ष का सबूत दिया तो उसे उलठे पाँव स्वदेश लौटना पड़ा ।

हाँ, बाकूनी के दिमित्रिय के सामने मेरी एक न चली । मेरे ही मैदानों में उसने भारत जीतने के उपक्रम किए । वही उसने अपनी सेना के दो भाग किए । एक उसने अपने जामाता मेनामदर को दे पूरब की राह से पाटलिपुत्र भेजा, दूसरा स्वयं लेकर सिन्ध और राजपुताने की राह मगध की राजधानी में जा धमका । परन्तु वह कहानी पाटलिपुत्र की है, मेरी नहीं । मैं उसे न कहूँगी ।

जिस शासन में जनता का हाथ नहीं होता उसकी रियति कितनी ढाँचा-ढोल होती है, इसका प्रमाण बाकूनी का विद्रोह राजकुल ही देगा ।

दिमित्रिय प्रचल था, महान था, नीतिज्ञ था, प्रजावत्सल और प्रजा-प्रिय था, परन्तु उसके पीठ किरते हो, उसकी राजधानी में जो घटना घटी वह मेरे यक्ष्य के सत्यता की साक्षी है । दिमित्रिय के प्रिय पात्र युक्तेतिद ने न केवल उसकी गद्दी, राजधानी और राज्य ही हड़प लिया बल्कि उसकी रानी भी स्वायत्त कर ली । और अब जब इस गृह बंचकता का सन्देह पा दिमित्रिय पाटलिपुत्र से स्वदेश को ओर वायुधेन से लौटा तब युक्तेतिद ने ही नगर में उसकी राह रोकने का खड़ा हुआ । चुने हुए मुट्ठी भर जवानों से छः महीने तक मेरे ही प्राचीयों के पीछे युक्तेतिद जमा रहा परन्तु दिमित्रिय उसका भाल बाँका न कर सका और उसे अपना प्रयास छोड़ देना पड़ा । सिन्ध और पूर्वी पंजाब का राज्य दिमित्रिय और उसके जामाता को मिला । वैकिट्रया और पश्चिमी पंजाब का युक्तेतिद और उसके वंशधरों को ।

युक्तेतिद के वंशधर—जो बंचकता युक्तेतिद ने अपने स्वामी के विरुद्ध की थी उसका फल उसको हाथों हाथ भोगना पड़ा । उसके पूर्वी शासन की मैं राजधानी थी । दिमित्रिय के कुचकों का उत्तर देने के लिए युक्तेतिद

एक बार भारत आया। मेरे महलों में उसने डेरा डाला, पर जब शत्रुओं से प्रचुर प्रतिशोध ले, वह बिजयी लौटा तब मेरे ही मैदानों में वह कृत्य हुआ जो इतिहास के पन्नों में अनोखा है। पैलिग्रीकल्स युमेसिड का पुत्र था। उसने पिता को मार कर उसके शव और रक्त पर अपना रथ दौड़ाया और गहरी हड़प बैठा।

मेरे नगर में अब ग्रीकों का राज्य था। ग्रीकों के कुछ नगर और थे—बूथिदेनो, दत्तामित्रिय, पत्तल और शाकल। परन्तु जो वैभव मुझे मिला वह उनको कभी न मिला। वादूनी की राजधानी को छोड़ पूर्व में ग्रीकों का सबसे प्रसिद्ध केन्द्र मैं ही थी। ग्रीक शांति के दिनों में निश्चय नितान्त कलाप्रिय जाति थे। व्यायाम, श्रोत्रवी खेल और शस्त्र संचालन उनको अति प्रिय थे, उतने ही दार्शनिक चिन्तन और काव्य प्रश्रयन। मेरी नगरी में उन्होंने अनेक अखाड़े, अनेक खेल के मैदान, अनेक विद्यापीठ और नाटकीय रंगमंच खड़े किए। उनके दार्शनिकों के चिन्तन पर अन्वेषण और विचार विनिमय निरन्तर होने लगे थे। निरन्तर मेरे रंगमंचों पर ग्रीक नाटक खेले जाने लगे थे। होमर की इलियड के गान-अध्ययन से मेरा वातावरण गुंजने लगा था। एटिक सिक्कों से मेरा भंडार भर चला था। ग्रीक स्थापत्य और वास्तु के नए नमूने नित्य मेरे नगर में खड़े होने लगे। नित्य नए मन्दिर और भवनों का विदेशी शैली में निर्माण होने लगा। मैं अब चौथी बार नए सिरे से बस रही थी और मेरा नया रूप उस स्थल पर सँबारा जाने लगा था, जो सदियों भीरटीजे के नाम से प्रसिद्ध रहा है। इसी अपने नए आचार से मैं भारत को एक नया सांस्कृतिक जीवन देने लगी। दर्शन और चिन्तन में नया दृष्टिकोण, साहित्य की रचना से नवीन प्रयोग, कला के कक्ष में नवीन अभिप्राय मैंने भारत को दिया।

ग्रीकों का प्रभुत्व राजनीतिक क्षेत्र में कुछ काल तक और प्रबल बना

रहा। यद्यपि बाल्मीके के अनेक प्रदेश अथ धीरे धीरे शकों की चोट से उनके हाथ से निकलते जा रहे थे, अन्तलिखित वीर और उदार नृपति या जिसने शकों की बढ़ती शक्ति के विरुद्ध मगध की मैत्री चाही। मगध में काशीपुत्र भागभद्र राज करता था। उसको अपनी और करने के लिए उसने अपने राजदूत दधिपुत्र हेलिओदोर को भेजा। हेलिओदोर परम वैष्णव था और उसने सफल दौत्य के बाद बेस नगर में विष्णु का स्तम्भ खड़ा किया। अन्तलिखित स्वयं भागवत धर्म में अभिरुचि रखता था। अन्तलिखित का राज्य विशेष दूर तक न था परन्तु प्रभुता उसकी बढ़ी थी और पंजाब में उसका प्रभुत्व प्रायः अप्रतिरथ था। कुछ और काल तक उन ग्रीकों की राजधानी मेरे प्राचीनों के पीछे जीवित रही। परन्तु शीघ्र शकों की चोट ने हरमिथस के शासनकाल में न केवल बाल्मीके को बल्कि उसके पूर्वी केन्द्र और राजधानी, मुक्त तक्षशिला को भी स्वायत्त कर लिया। ग्रीक शासन भारत से उठ गया, यद्यपि उसने जो अपने सांस्कृतिक चिह्न छोड़े, उनकी छाप अनेक दिशाओं में सदियों जीवित रही।

शक आँधी की तरह उठे थे और उन्होंने प्रायः सारे देश पर अपनी शक्ति और क्रूरता की छाया डाली। यद्यपि वे पहले पहल सिन्ध में उतरे थे। सिन्ध में ही उन्होंने अपना वह आधार कायम किया जो विरोधी जनता के बीच द्वीप की भाँति लगा। और फलस्वरूप वह शक द्वीप कहलाया भी, परन्तु उसकी सीमाएँ वही सीमित न रह सकीं और धीरे-धीरे शकों ने अपने अनेक केन्द्र इस देश में स्थापित किये—मथुरा, उज्जैन और महाराष्ट्र और सिन्ध के अतिरिक्त सबसे विशिष्ट में, स्वयं तक्षशिला। भारत में शक यद्यपि विजेता थे परन्तु वे अपने को ईरानी सम्राटों के ही प्रतिनिधि मानते थे। इसी कारण इस देश में उन्होंने

केवल क्षत्रप और महाक्षत्रप अथवा प्रान्तीयशासकों की ही उपाधि धारण की।

शकों के आक्रमण ने मेरा एक धार फिर विध्वंस किया और मैं नए सिरे से सिरकप के चतुर्दिक बसाई गई। महाक्षत्रप राजा मय सिन्ध के मुक्त पर शासन करता था और उसने महाक्षत्रप लियक कुसुमलक तथा उसके बेटे क्षत्रप पतिक के अधीन मुझे केन्द्र बना अपने पूर्वी इलाकों पर हुकूमत की। मय के बाद अय ने मुक्त पर शासन किया। मेरी प्रभुता फिर एक बार बढ़ चली थी। फिर मैं पंजाब की राजधानी घोषित हो चुकी थी। बात यह है कि मेरा विध्वंस चाहे कोई भले ही कर दे, वह यदि पंजाब और कानुल पर शासन करना चाहता, काश्मीर और सिन्ध पर यदि वह अपनी हुकूमत कायम रखना चाहता तो वह अवश्य था कि वह मुझे अपना राजनीतिक केन्द्र बनावे। मैं न केवल राजनैतिक दृष्टि से आवश्यक और महत्वपूर्ण थी बल्कि मध्य एशिया से दक्षिण भारत की ओर जाने वाले स्थल के व्यापार मार्ग पर मेरी स्थिति थी। दोनों मार्ग मेरे ही बाजारों में मिलते थे और इसी कारण किसी प्रकार मेरी उपेक्षा नहीं हो सकती थी।

शक विदेशी थे। असभ्य और वर्धर थे। उनका कोई दर्शन नहीं था। कोई सांस्कृतिक जीवन न था। इसी से वे इस देश की जनता में छुल मिल भी गए, परन्तु ऐसा भी नहीं कि उन्होंने अपने सिन्ध भारत की संस्कृति पर न छोड़े हों। मूर्त सूर्य की पूजा, उन्होंने ही इस देश में प्रचलित की। पुराणों का कथन है कि शाम्ब ने इस देश में सूर्य का पहला मंदिर सिन्ध में बनाया। परन्तु जब वह मंदिर बन चुका तब आवश्यकता हुई उस देवता के पुजारी ब्राह्मण की और भारत के ब्राह्मणों को सूर्य की पूजा का शान न था। विथरा होकर शाम्ब को विदेश से शक ब्राह्मण बुलाने पड़े जो सूर्य की पूजा कर सके। शाम्ब का सिन्ध में

ही सूर्य का मंदिर बनवाना और पूजा के निमित्त ब्राह्मण न था सकने पर शक पुरोहित बुलाना एक राज रखता है जिसे पुराणों के पढ़ने वाले ब्राह्मण के भारतीय न समझ सकेंगे। पर जब पुराणकार उस सत्य की सीमा पोती कर रहा था, तब मैं मन ही मन मुस्करा रही थी क्योंकि वह रहस्य मेरा जाना था। शकद्वीप के ब्राह्मण जो आज तक देशी ब्राह्मणों में न मिल सके, जिनका छुआ जल तक पुराण पन्थी ब्राह्मण नहीं पीता, उन्होंने न केवल अपने स्लेच्छन्व से भारतीय ब्राह्मणों का विरोध किया बल्कि उनके व्यापार में भी उनकी रोजी तक में उन्होंने हिस्सा बटाया और रोजी में हिस्सा बटाने वालों के साथ कभी किसी देश में किसी ने भाईचारा न निभाया। उनके प्रति देशी ब्राह्मणों का अस्पृश्य आचरण निश्चय उसी नव विधान का प्रमाण है। साथ ही वह भी अर्थ रखता है कि सूर्य की प्राचीन भारतीय मूर्तियाँ अपनी वेशभूषा में सर्वथा अभारतीय हैं। सिर पर उनके पगड़ी है, कदन में लम्बा चोमा, कमर में तलवार और पैरों में घुटनों तक ऊँचे बूट और कमल में कटार जो अधिकतर शक और कुषाण सैनिक का बेज था। इस वेशभूषा में सूर्य को पूजते हुए भारतीयों ने कभी आपत्ति न की।

शकों के बाद धीरे-धीरे मेरी हस्ती फिर मिट चली और एक अल्पायु शक्ति ने आकर मेरे प्रासादों में डेरा डाला वह शक्ति पहलवों की थी। छोटे मोटे अनेक राजा मेरी धरा पर राज करते रहे, परन्तु नितान्त अशक्य होने के कारण उनकी स्मृति मुझे मिट चुकी है। हाँ, उनके प्रचलित नरेरा गोन्दोकर की याद मुझे निश्चय बनी है।

इस याद का एक कारण और है। इस काल हाल ही जेरुसलेम में वह दर्दार्द्र तेज उतरा हुआ था, जिसने घर-घर गरीबों की शक्ति की चेतना जगाई। उनमें उसने नये प्राण फूँके और वह उचित ही मसौदा कहलाने लगा। वह ईसा था, जिसके बनाये मार्ग पर चलने का क्रम

से कम सारा योरोप और अमेरिका दम भरते हैं। भीमानों के दैभव को उत्पन्न करने वाली और उनकी समृद्धि की पाया दरिद्र जनता उनके भार से पीसी जा रही थी, जब इस महात्मा ने भूटे देवताओं और भीमानों के विरुद्ध अपनी आवाज उठाई। भीमानों के सम्बन्ध में उसने कहा कि जितनी सम्भावना ऊँट को सुई की नोक से निकल जाने की है उतनी ही सम्भावना भीमानों को विहिश्त के राज्य में प्रवेश पाने की है। विहिश्त का राज्य तो केवल गरीबों के लिए है। इस पृथ्वी पर ही उस राज्य का विस्तार होगा जब स्वयं खुदा का वेदा ईसा इस दुनिया के राज्य पर शासन करेगा। इसलिए जन-जन में प्रेम हो, दया और सौहार्द का प्रचार हो। काश! विहिश्त के उस भावी राज्य की आशा न दिला कर उस महात्मा ने इस धरा पर ही परिस्थिति बदलने का प्रयत्न किया होता! जो भी हो अत्यन्त प्रेम और निर्भीकता से उसने अपने नए साम्राज्य की घोषणा की, नई चेतना का प्रचार किया, और फलस्वरूप वह चली पर चढ़ा दिया गया। मरते दम उसने प्रार्थना की—“खुदा इन्हें क्षमा कर, यह अज्ञानी हैं।” अहिंसा और प्रेम का दूसरा प्रचारक उस देश के इतिहास में कभी न सुना गया था और उसके मरते ही अनेक शिष्य उसके संदेश लेकर विदेशों को चल पड़े थे।

इन्हीं धर्म प्रतिनिधियों में सन्त टोमस भी था जो उस संदेश को लिये दरिद्रों में उसका प्रचार करता, उन्हें भावी विहिश्त के राज्य की आशा दिलाता, भीमानों को कोसता, धिक्कारता, गोन्डोफर की राजधानी मेरे नगर में पहुँचा। गोन्डोफर उसकी तेजस्विता और वचन को अद्भुत श्रृंगार से सुनता मुग्ध हो गया। सन्त टोमस का मेरी सड़कों पर अपने नये धर्म की घोषणा करते मैं आज भी जैसे सुन रही हूँ। राजा से उसने कहा—राजन् मुझे लाख रुपये दो, मैं तुम्हारे लिये महल बनवाऊँगा। राजा ने उसे लाख रुपये दिये उसने उन्हें गरीबों को बाँट दिया। राजा

ने उससे कुछ दिन बाद पूछा कहाँ है तुम्हारा बनाया मेरा वह अनुपम महल । संत ने कहा बिश्वरूप में जहाँ निश्चय तुम्हें सद्गति मिलेगी और उस आलाद में तुम्हारा निवास होगा जिसके पाये दरिद्रों के उब आशीर्वाद पर खड़े हैं जो उन्होंने मेरे धन वितरण पर दिये थे ।

गोन्दोशर चकित रह गया था । उसे धन का इस प्रकार फेंकना उपयुक्त किसी प्रकार न जँचा था और उसने उस महामना संत को कारागार में डलवा दिया था परन्तु निश्चय स्वयं उसका वैभव चिरकालित न हो सका । शीघ्र कुशाणों की बढ़ती हुई सीमाओं ने उसको आप्लावित कर लिया और मैं एक नये मारकाट की आवाज श्रवणी प्राचीरों के आर पार सुनने लगी । नये सिरे से चोटें मेरी टूटी हड्डियों पर टूटने लगी । नये सिरे के पुरुष ऊँचे तगड़े दानव से मेरी घरा पर उतर आये । सिर पर कुलह और पगड़ी, चदन में चोंगा, कनर में तलवार, पैरों में ऊँचे छुटनों तक जूते पहने, ये मल्लभारी जीव न पहले देखे गये थे न सुने ।

ये अधीक थे, जिन्हें इतिहासकारों ने यूद्धी संज्ञा प्रदान की है । श्रुधीकों ने पश्चिमी चीन से उठकर मध्य एशिया होते बाङ्गरी में डेरा डाला था । बहु नद के उस तीर पर जहाँ पहले कभी ग्रीकों का निवास था, फिर शकों का और अब उस आधार से उठकर अपने पंचजनों को एकत्र कर केदार कुशाणों के नेतृत्व में वे काबुल जीत सिन्धु लाँच आये थे । उनके नेता कुबुल ने पहले काबुल पर अधिकार किया फिर मुक्त पर । मेरे सारे आधार अन्त कुछ काल के लिये छिन्न-भिन्न हो गये । मेरी सारी श्रेष्ठ संस्कृति तार-तार भिखर पड़ी । मेरी बख्ती फिर वीरान हुई परन्तु चीन के उत्तराधिकारी कनिष्क ने फिर मुझे जीवनदान दिया । और सिरतुल के चतुर्दिक एक बार फिर मैं नये अलंकारों से सज कर खड़ी हुई ।

कनिष्क ने अरुनी राजधानी पुष्करावती में रखी आधुनिक चार-सहा में परंतु मेरे गौरव की रीति की भी कुछ अबनामता न हुई और कनिष्क निरन्तर अपने नये जीते वैभव से मेरा मण्डन करता रहा। मुझे आज भी याद है कि पादलिपुत्र से छीन कर लाये प्रख्यात बौद्ध दार्शनिक और काव्यकार अश्वघोष ने पहले मेरे ही नगर में डेरा डाला था। मेरे ही नगर में उसने अपने अनेक प्रवचन किये थे। साथ ही पार्श्व और वसुभिज्र ने भी। चल्स ने भी इसी समय अपनी रसायनशाला मेरे ही नगर में कायम की थी। नार्गाजुन ने यहीं अपने नवीन सम्प्रदाय महायान के प्रवचन किये थे और जय काश्मीर के चौथे महासंघ का अधिवेशन समाप्त हुआ, तब यहीं यहाँ के जगत विख्यात दार्शनिकों का समारोह हुआ। उस नई धार्मिक चेतना से आश्वस्त होकर कनिष्क ने अपने उत्साह का प्रमाण इसी नगर में अशोक द्वारा बनवाये। धर्मराजिक स्तूप की नग्न स्थिति को सुदृढ़ कराई।

मैं कनिष्क के औदार्य, उसके पौरुष अथवा विजयों को बात विशेष न कहूँगी। अब मैं केवल उस नई संस्कृति की बात कहूँगी, जिसका विस्तार कनिष्क ने किया। यद्यपि जिसका आरम्भ कुषाणों की मेधा के परे था। भारत का आज का राष्ट्रीय चेश, अचकन और पाजामा—कुषाणों का ही दिया हुआ है। उनका चोगा मुगलों ने शेरवानी के रूप में संभाला जिसे अब के नवाब ने आज की अचकन बनाया उन्हीं का सलवार ढीला और चुस्त पाजामा बनार और ग्रीको का ध्युनिक भारतीयों का कुर्ता।

परन्तु इस दिशा में इससे कहीं विशिष्ट बात कला संबंध की है। मूर्तिकला की, जिसमें ग्रीकों के सम्यक ने नए प्राण फूँके थे, एक नई शैली चलाई थी। जिस शैली का विस्तार विशेषतः कुषाणों ने किया। इस ग्रीक शैली को भारतीय कला में गन्धार संशा दी गई। गन्धार शैली

का केन्द्र में हो थी। मेरे ही आधार से उठ उठ कर सैकड़ों कलाविश और आचार्य देश के इतर प्रान्तों में बिसरे, पेशावर और काबुल शाकल और मधुरा सर्वत्र। ग्रीकों का सम्पर्क पंजाब से और विशेषकर मेरी नगरों से प्रायः दो सौ वर्ष रहा था और उनकी सेवा में मेरे दरबार में एक से एक कला कुशल ग्रीक के नगरों से आकर संरक्षित हुए थे। अपनी कला के माप उन्होंने भारतीय अभिप्रायों में रखे थे। भारतीय मूर्तियों में अपनी शैली का उन्होंने मूर्तन किया था। अनेक बार भारतीय दार्शनिकों की मूर्ति बनाते अपनी अभिसृष्ट काया में वे मुकरात और श्रस्त्र का आकार कोरते, दाढ़ी और परिवेष्टन विशेष प्रकार से उन मूर्तियों पर तक्षित होते।

जिस नागाजुन ने हीनयान ब्यापी बौद्ध धर्म की कठोर प्रवृत्ति में महायान की एक नवीन भक्तिधारा का उदघोष किया था, उसी ने बुद्ध के मूर्ति निर्माण की बात भी चलाई थी। बुद्ध का कला में प्रदर्शन तब तक केवल उनके उष्णीश धर्म-चक्र, क्षुद्र पद, बोधिवृक्ष आदि के लक्षणों से किया जाता था। परन्तु अब सान्नात मूर्ति का कला क्षेत्र में अवतरण हुआ और बुद्ध की पहली मूर्ति मेरे ही नगर में कोरी गई, यह मेरे लिए कुछ कम गर्व की बात नहीं। फिर धीरे धीरे कुषाणों के ही मध्य काल में बल्कि कनिष्क के ही शासन काल में गान्धार शैली का एक पूर्ण केन्द्र मधुरा में भी प्रतिष्ठित हुआ। इसमें सन्देह नहीं कि उसी आधार से गान्धार शैली में जन्मे ग्रीक लक्षणों का भारतीयकरण भी आरम्भ हुआ जो गुप्त काल तक सर्वथा स्वदेशी कर लिया गया। परन्तु मेरी शैली बहुत काल तक भारत में चलती रही और किसी न किसी रूप में वह जब तब विकसित होती रही।

यूँ तो भारतीय संस्कृति में मैंने अनेक विदेशी तथ्यों और प्रक्रियाओं को बहा कर संस्कृति का बहुस्रोतिक रूप दिया। जितना भी सांस्कृतिक

मिश्रण भारतीय संस्कृति में हुआ है अधिकतर उसकी धाराएँ मेरे ही आधार में मिलीं। मैं तब की दुनिया में संस्कृतियों का अभूतपूर्व संगम थी।

कुषाणों का साम्राज्य पूर्व में काशी तक जा पहुँचा था। परन्तु याकटको और विशेषकर नागों की चोट से उसे पीछे हटना पड़ा। यँ तो पाटलिपुत्र की चोट भेरी सर्वथा अनजानी न थी पुत्रमित्र शुंग के पौत्र वसुमित्र ने प्रोकों को देश से निकालते हुये सिन्धु तट के अपने महासमर के पहले मेरे ही नगर में डेरा डाला था। परन्तु उधर से मेरा विशेष पराभव गुप्तों द्वारा हुआ। समुद्रगुप्त के काफी पहले जब कुषाणों को पंजाब से भाग कापुल में शरण लेनी पड़ी थी तभी मैं एक बार फिर स्वतंत्र हो गई थी। परन्तु समुद्रगुप्त के सामने मुझे भी झुकना पड़ा। समुद्रगुप्त अपने प्रतिद्वन्दी की तरह कनो बर्दाश्त न कर सकता था और उसकी दिग्विजय के सम्बन्ध में मैंने अनेक रात्रियों का मूलोच्छ्वन सुना था। पंजाब के अनेक गण राजाओं ने चुपचाप उसकी महत्ता स्वीकार कर ली थी। दूर के शक मुसलमानों ने भी उसे भेंट भेजे थे। मैंने भी चुपचाप उसके सामने सिर झुका दिया। परन्तु मेरा विशेष पराभव उसके पुत्र चन्द्रगुप्त विक्रमादित्य ने किया। शकों को मालवा से निकाल उसने शर्काय विरुद्ध धरण किया था और बंगाल के शत्रुसंघ को तोड़ जब वह वायुवेग से पंजाब के नदों को लाघता कोजक अरमान पहाड़ों की छाया से निकल ईरानियों की द्वाजावलय से लड़ी दक्षिण-पूर्वी भूमि को रौदता पामीरी पठार के यक्षु नद के तीर जा खड़ा हुआ तब मैं स्तम्भित रह गई। इतने लम्बे भू-प्रसार पर इतने लम्बे डग भरते किसी विजेता को मैंने न देखा था। चन्द्रगुप्त की तलवार मुझ पर भी पड़ी और जैसे पंजाब के गणतन्त्र नष्ट हुये मैं भी विनष्ट हो गई। परन्तु मैं औरों की भाँति मिट्टी में बेर तक पड़ो न रह सकी। चन्द्रगुप्त के लौटते ही मैंने

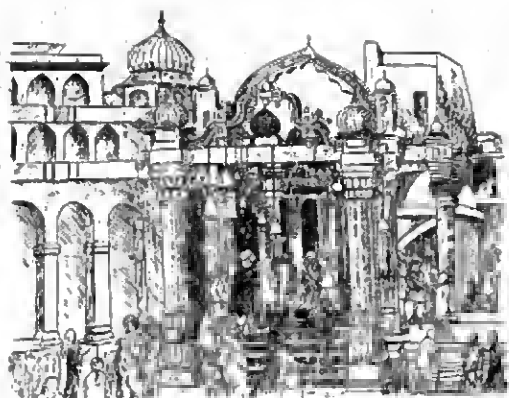
किर एक बार अपनी शक्ति अभिहित की। किर मैं उत्तरापथ के राजमार्ग की प्रहरी बनो।

परन्तु अब मेरा अवसान और विनाश क्रमशः पास आते जा रहे थे। आगे जो चोट पड़ने वाली थी उसने सदा के लिये मुझको भूमिखात कर दिया। चीन के उत्तर-पश्चिम में काँसु नामक एक प्रान्त है जहाँ कभी हिंगनू नाम की वह नथंकर जाति रहती थी जो पश्चात् काल में हूण नाम से इतिहास में प्रसिद्ध हुई। नंगे, निकराल, अर्धर, हूण रक्त और लूट में मजा लेते थे। लहू और आग उनका साक्ष्य करती थी। वे ही हूण अकाल के समय जो अपने आभार से विचले तो पड़ोसी शत्रुओं पर जा टूटे। शत्रुओं जो अपने स्थान से बिल्वे तो शकों से जा कटारये और शकों ने स्वयं अपना दजला और फरात का काँठा छोड़ बालुची और हिन्दुस्तान की राह ली। हूणों ने न जाना कि उनकी गति ने कितना दूरव्यापी संकट डाला है। उनके कबीले के कबीले आग लगाते, गाँव के गाँव जलाते, सबके लाशों से पाटते जिस दिशा में निकल पड़ते उधर हाहाकार मच जाता। उनके नेता अतिला ने जो योरोप की ओर रुत किया तो रोम साम्राज्य की कमर टूट गई और वह किर दूसरी बार खड़ा न हुआ। उन्ही हूणों की एक धारा भारत की ओर भी मुड़ी। तब मगध में स्कन्दगुप्त का शासन था। भारतीय सीमा प्रान्त यद्यपि उसका न था परन्तु अनानत भूत की आशंका से मुहब्ब होकर वह भागा-भागा मेरे नगर में पहुँचा और हूणों के बढ़ते हुये घोड़ों की बाग उठने सहसा रोक ली।

उस काल तो निश्चय हूणों की गति कुछ वर्षों के लिये रुक गई परन्तु उनकी बाढ़ की धारा एक न थी, अनेक थी और धीरे-धीरे सारा उत्तर भारत उनके पदों से अक्रान्त हो गया। स्वयं स्कन्दगुप्त उनके साथ लड़ता हुआ जूझ गया परन्तु उसका तप और दृढ़ता स्वदेरा की

उनसे रक्षा न कर सकी। और जब इतना बड़ा राष्ट्र उस महाप्रलयकारी धारा को न रोक सका तो मेरी क्या विधात थी। धीरे-धीरे काबुल और पंजाब, मधुरा और मध्यदेश, गुजरात और मालवा कुत्तन और काश्मीर हूथों के राज्य में हो गये। चौदह हजार ऊँची बर्फीली चोटियों को लाँघते ये बिसरे भर के जवान जो मैदानों में उतर आते तो पठान और पंजाबी डर से उनका पानी भरते।

मैं भी उनके सामने खड़ी न रह सकी और लड़खड़ा कर जो अब की गिरी तो फिर न उठ सकी। यह प्रायः पाँच सौ ईसवी की बात है आज से करीब डेढ़ हजार वर्ष पहले। फिर तो जो छोई तो भूमि में ऐसी सनाई, ऐसी सोई कि इन डेढ़ हजार वर्षों तक किसी ने मुझे न जाना, मेरे अवशिष्ट की समाधिस्वरूप टीलों पर गाँव बसे। सेनाओं ने इस्लाम का झंडा लिये अनेक बार कूच किया पर उन्होंने न जाना कि इन टीलों के नीचे मेरी प्राचीन विनूतियाँ सोई हैं। चौदह सौ वर्ष बाद अब मेरी नींद खुली है परन्तु जोड़-जोड़ अलग हैं प्राण बिसर गये हैं। जो देखा था, यह अब नहीं, जो अब है, वह तब न था।



मथुरा

भारत के सात नगरों में मेरा भी नाम है। मैंने भी उन्हीं की भौति अनेक उथल पुथल देखी है। मेरा प्राचीन नाम मथुरा था पर किसने उसे दिया था किस प्रकार और कब वह नाम बदल कर मथुरा हो गया मैं नहीं कह सकती। इतना निश्चय है कि मैं भारत के उन चोढ़े नगरों में से हूँ जिन्हें आर्यों ने नहीं बनाया और जो उनकी विजय से पहले ही बस चुके थे। उनसे बहुत पहले यमुना के मनोरम तट पर मेरी नीब पड़ चुकी थी और जिसे पिछले दिनों में शरत्तक कहने लगे थे, उस देश की मैं कब से त्वामिनी हो चुकी थी।

अनेक बार मेरे मैदानों में आर्यों ने मेरे निवासियों से युद्ध किया

और उन्होंने भी मुझे उसी प्रकार लूटा और अवनानित किया जिस प्रकार हूणों और गजनी के मुल्तान ने लूटा। पिछले काल तक मेरी जनता के प्रिय और अधीश्वर कृष्ण ने आर्यों से लोहा लिया था परन्तु जैसा देश के और नगरों के साथ हुआ, मेरे साथ भी वैसा ही हुआ और धीरे धीरे मैं विजित हो गई। श्रुगुपैदिक आर्यों के यदुओं ने पहले पहल मेरी नगरी और प्रदेश में पहले आर्य आवास स्थापित किए। यदुओं के वहाँ बस जाने के बाद लगातार आर्यों की आबादी बढ़ती गई। यदु उत्तरकाल में यादव कहलाए और उन्होंने ही सदियों मेरा इतिहास निर्मित किया। उनकी अनेक शाखाएँ इस देश में फैली फलीं। उन्हीं की एक शाखा शूरसेन भी थी जिसने मेरे प्रान्तों को अपना नाम दिया। रामायणकाल में उसी कुल के राजा ने सीता के स्वयंवर में भाग लिया यद्यपि राम के छोटे भाई शत्रुघ्न को मेरे आदिन निवासियों के विरुद्ध भी बार बार लड़ना पड़ा। महाभारतकाल में अन्वककृतियों के कुल तथा संघ वहाँ स्थापित हो चुके थे, यद्यपि तभी उन्होंने काठियावाड़ में अपने नए उपनिवेश बनाए और कृष्ण ने वहाँ द्वारका बसाई।

प्राचीन इतिहास मुझे स्मरण नहीं, मेरा जाना भी नहीं क्योंकि सदियों का हुआ उसे अपने अंधकार में छिपाए हुए है पर कुछ न कुछ उसकी याद आती ही है और जो कुछ याद आता है वह अब मैं कह रही हूँ। शूरसेनों का एक राजकुल कुछ काल से मेरी नगरी में तब प्रतिष्ठित हो चुका था, जब उसने मेरे आस पास के गाँवों में बचनेवाले अनार्य गोपों के साथ अपना विवाह सम्बन्ध स्थापित किया। उन गोपों का भी अपना एक इतिहास था, अपने 'उत्कर्ष' की कुछ चोटियाँ थीं, अपने नायक थे। उन नायकों में सबसे प्रबल कृष्ण हुआ, बासुदेव कृष्ण जो गोपनन्दन का पुत्र था और जो रोमांचक ललित कथाओं का नायक है। इतना मैं आरम्भ में ही कह देना चाहती हूँ और वह कुछ

मुनो हुई नहीं अपनी देखी हुई बात है कि ब्रज के गोपों में विवाह संबंध कुछ स्थाई न थे। उनका वह संबंध वास्तव में कमजोर और क्षणिक था जिससे वैवाहिक कमजोरियाँ भी उनमें कुछ कम न थी। जीवन उनका उदात्त और स्वस्थ निश्चय था परन्तु उनके नर नारियों को विशेषकर तरुण गोप गोवियों को नेरे जंगल और मैदान बड़े प्रिय थे और एक बार जब वे उबर निकल गए तब विवाह की कुशिम भ्रंशलायें उनको शायद ही कभी रोक सकीं। वामुदेव कृष्ण ने जो लावण्य, शक्ति और नीति में अद्वितीय था इस रुचिकर जीवन को और बढ़ावा दिया।

अपने जनप्रिय जीवन के कारण ही वह शूरसेनों के माधुर राजकुल का अप्रिय हो चुका था क्योंकि देश की जनता उसकी थी, उग्रसेन के बेटे क्रूरकर्मा कंस की नहीं। जब दोनों का मनोमालिन्य पराकाष्ठा को पहुँच गया तब कंस ने कृष्ण को घोड़े से मरवा देना चाहा परन्तु पासा उलटा पड़ा और कृष्ण द्वारा वह स्वयं मारा गया। उसका वध राजकुलों के लिए खतरे की भंडी था और वह भी ऐसे नेता द्वारा जितका कुल अक्षत्रिय और अज्ञात था। कंस मगध के विक्रान्त सम्राट् जरासन्ध का दामाद था और उसके वध की खबर सुन जरासन्ध अपनी विशाल सेना लिए मेरी नगरी पर चढ़ आया। मेरी स्थिति अराजक हो गई थी और मुझ पर अनेक प्रकार चोटें पड़ने लगी थीं और अब वह चोट तो कुछ ऐसी थी जिसे सँभाल सकना सम्भव न था। कृष्ण जनप्रिय अवश्य था परन्तु जनता को वह संगठित न कर सका और जरासन्ध के सामने ब्रज छोड़ उसे देश की परिचय सीमा पर समुद्र के किनारे सीराष्ट्र भागना पड़ा वहाँ उसने द्वारका नगरी बसाई, परन्तु अन्त में इस संबंध से कृष्ण ने जान लिया कि आर्य संस्कृति से वह लोहा तभी ले सकेगा और उसको पैठ छत्रियों के गद् में तभी हो सकेगी जब वह स्वयं अपने को क्षत्रिय सिद्ध कर दे। उसकी एक महत्वाकांक्षा थी, वह यह कि वह

देश में आयीं अनायीं दोनों द्वारा देवता की भाँति पूजा जाय। उस समय के संसार के इतिहास में निश्चय ऐसी महत्वाकांक्षा कुछ अज्ञान थी। असुरों ने हम्पराजी, मिथियों में रामसेज आदि की महत्वाकांक्षा कुछ इसी प्रकार की रही थी और उन्होंने अपने विजित किए नन्दिरों में देवमूर्तियों को हटा कर अपनी मूर्तियाँ पधराई थीं। कृष्ण भी कुछ ऐसा ही चाहता था यद्यपि यह कुछ आसान न था क्योंकि इसके न केवल राजपर क्षत्रिय ही बाधक थे वरन् नीति के पंडित ब्राह्मण भी महान अवरोध थे। कृष्ण की महत्वाकांक्षा के सफल होने का अर्थ था ब्राह्मण देवताओं का अन्त, उनके घर, हवनों का अन्त, उनकी दक्षिणा रोजी का अन्त। पर कृष्ण भी कुछ साधारण साधनों का पुरुष न था। उसकी नेचा में बृहस्पति को निदत्त कर देने की शक्ति थी और उसने ब्राह्मणों के देवता इन्द्र तक को देश की विश्वास परम्परा से उखाड़ फेंकने का निश्चय किया।

क्षत्रियों की अनन्य उसकी सफलता में बाधक होंगे, यह सोचकर उसने नीति का सहारा लिया। पहले उसने क्षत्रिय बनना निश्चित किया। क्षत्रिय बनना कुछ आसान न था विशेषकर इसलिए कि वह मेरे नगर के क्षत्रिय राजकुल के साथ अपने एक दूर के सम्बन्ध के अतिरिक्त कुछ और न दिला सकता था, पर इससे निरुत्साहित न होकर उसने नए राजकुलों से सम्बन्ध जोड़ने का दृढ़ निश्चय कर लिया। तब दो राजकुल भारत में विशिष्ट थे, जिनके साथ विवाह सम्बन्ध भाग्य और गौरव की बात समझी जाती थी। उनमें से एक विदर्भ का राजकुल था जहाँ प्राचीन काल में विवाह कर राम के पितामह अज ने अपने को धन्य माना था, दूसरा वह कुरुकुल जो भारत के तत्कालीन राजवंशों का चूड़ामणि था। कृष्ण ने विद्युत् गति से काम किया। लोग उसके अक्षत्रिय कुल और अक्षत्रिय कार्यों पर उँगली उठाते थे। उसने उस

क्षत्रिय और विशेषतः क्षत्रिय कृत्य को सम्पन्न किया जो उस प्राचीन काल में भी प्रायः असाधारण समझा जाने लगा था। विदर्भ की राजकुमारी चेदि शिशुपाल को ब्याही जाने वाली थी, कृष्ण ने वहाँ अचानक पहुँच व्रतपूर्वक हर लिया और उसे ब्याह उस कुल से अपना संबंध स्थापित किया। इसी प्रकार अपने मित्र पाण्डव अर्जुन को वह अपने घर चढ़ा लाया और उसके साथ अपनी गहन सुभद्रा को भगा दिया। यह दोनों विवाह आसुरी समझे जाते थे और अतिकायक क्षत्रियों द्वारा भी कष्ट साध्य। इसके अतिरिक्त पाण्डवों के राजसूय में वह परम आदरणीय और पूज्य बन बैठा और जब रुक्मिणी दत्तित शिशुपाल ने उसके अज्ञात कुलशील की बात उगई तब उसने उसे चक्र से सनातनल पर हो मार कर उसका मुँह बन्द कर दिया। इस प्रकार उसने अपने को क्षत्रिय घोषित किया।

महानारत के युद्ध में उसने जो कृत्य किए वह असाधारण मनुष्य के थे और ब्राह्मणों तक को उनका विरोध कर सकना असम्भव हो गया। न केवल वह क्षात्र धर्म में तेजस्वी निकला बल्कि उसने एक चितन की नई परिपाटी का आरम्भ किया, जिससे ब्राह्मण भी चकित रह गए। धीरे-धीरे इन्द्र का आसन हिला। उसने वहाँ स्वयं प्रतिष्ठा पाई और उसके जीते जी जनता उसे पूजने लगी। भारत के सांस्कृतिक इतिहास में जनता के पहले जीवन पर किसी ने इतनी गहरी छाप न डाली जितनी मेरे उक्त बाष्पेय वासुदेव कृष्ण ने और आज हिन्दुओं की विशाल संस्था यैष्णव है उसको 'सच्चिदानन्द' समझनेवाली और जो वैष्णव नहीं भी है वह भी उसके नाम का आदर करता है। कृष्ण की स्मृति मेरी स्मृतियों में सबसे रुचिकर है, सबसे रोमांचक, सबसे पवित्र।

उस युग की जिसे ऐतिहासिक काल कहते हैं, मुझे वस एक घटना याद है—छठीं सदी ईस्वी पूर्व की जब अक्बरी के प्रद्योतकुल की विवाह

सम्बन्ध मेरे शूरसेन कुल से हुआ था। उसके बाद दीर्घकाल तक मेरा इतिहास अनिश्चित रूप से बनता रहा और मैं बहुती हुई राजनीतिक आँधी की मूल शक्ति बनी रही। मौर्यों ने जब हिन्दुकुश तक अपने साम्राज्य की सीमाएँ बढ़ा लीं तब मैं भी उसमें शामिल हुई और यद्यपि पाटलिपुत्र उस साम्राज्य की राजधानी थी, वहाँ मेरी ही कथाओं के गीत गाए जाते रहे। अशोक के बाद जब उनका साम्राज्य कमजोर कंधों पर टिके होने के कारण बिखर चला तब मैं स्वतंत्र हो गई।

उन्हीं दिनों बाएनी के ग्रीकों ने भारत पर आक्रमण किया और तब उनकी एक शाखा मेरी ही ओर से मुक्त पर और पंचाल पर अधिकार करती साकेत की राह कुसुमपुर गई थी। तभी गृध्रुद की खबर पा उनके नेता दिमित्रिय ने मगध से लौटकर मेरी ही प्राचीनों के पीछे डेरा डाला था और बाद जब उसके जामाता मेनान्द्र ने शाकल को अपनी राजधानी बनाया तब मैं भी ग्रीकों के अधिकार में आई परन्तु विशेष गौरव मुझे शकों और कुषाणों ने दिया। मध्यदेश के पश्चिम में जैता मैं वैष्णवधर्म का केन्द्र हो गई थी वैसे ही उस काल बौद्ध और जैन सम्प्रदायों का केन्द्र भी हुई। ऐसा नहीं कि इन तीनों में परस्पर वैमनस्य न हो। वैमनस्य तो एक बार इतना बढ़ा कि बौद्ध मेनान्द्र तक को पुण्यमित्र शुंग के विरुद्ध चढ़ा ले गए परन्तु साधारणतः तीनों धर्मों के अनुयायी और विशेषकर उनके गृहस्थ उपासक आपस में शान्तिपूर्ण रहते थे। मेरे नगर में सैकड़ों देव मन्दिर थे और अनेक बौद्ध तथा जैन विहार।

जैसा मैं कह चुकी हूँ, मुझे गौरव शकों और कुषाणों ने दिया। पहली सदी ईस्वी पूर्व मैं उनके जो पाँच राजकुल भारत में स्थापित हुए उन्हीं में से एक मेरा शक राज कुल भी था। जब सिन्ध और पश्चिमी पंजाब में, मय और तद्वशिला में लियककुसुलक तथा उसके पुत्र पतिक

महाक्षत्रप और क्षत्रप थे तभी सुभ पर अगान और हगामास का शासन था। शक क्षत्रप अपने को ईरानी पार्थव सम्राटों का प्रतिनिधि शासक क्यों मानते थे यह बता सक्ता कुछ कठिन नहीं पर मैं इतना ही कह कर सन्तोष करूँगी कि मेरे शासक भी अपने को क्षत्रप कहते थे और ईरानी सम्राट को उससे दूर होकर भी सिद्धांततः अधीश्वर मानते थे, यद्यपि मेरी स्वाधीनता पर इसका कुछ कभी प्रभाव न पड़ा। मैं स्वतंत्र राष्ट्र की राजधानी की भाँति बराबर आचरण करती रही और मध्यदेश के पश्चिमी प्रहरी की भाँति मेरे स्वामी शक और विदेशी होकर भी उसकी रक्षा में सतर्क रहे।

मेरा उत्कर्ष विशेषतः रज्जुदल और उसके पुत्र महाक्षत्रप सोडास के समय प्रथम शती ईस्वी पूर्व में हुआ। मैं न केवल स्वाधीन थी बरन् पूर्वी पंजाब, पश्चिमी मध्यदेश और मालवा तक के प्रदेश मेरे प्रसाद से सन्तोष प्रकट करते और भूकुटि भंग से काँप जाते थे। मेरे ही इस राजकुल के निकटवर्त बन्धु चण्डन ने उज्जयिनी में मालवा शक कुल की प्रतिष्ठा की और तब मैं अपना वह प्रदेश उस यशस्वी शासक को सौंप उधर से निश्चिन्त हुई। कुछ ही काल बाद मेरी ही ओर से और मेरे राजकुल से सम्बन्धी लांघिताक्ष अश्लात ने मध्यदेश को अपनी शक्ति का स्वाद चखाया था और पाटलिपुत्र में रक्तताण्डव किया था। सोडास ने भारतीय धर्म में दीक्षित होकर मेरी नगरी में अनेक विहार और देव मन्दिर बनवाए।

कुषाणों ने शको से ईसा की पहली सदी में पश्चिमी भारत के सूबे छीन लिए। कुजुल और बिम ने काबुल, पश्चिमी पंजाब, काश्मीर, बाल्ती, काशगर, मारकन्द और खुत्तन पर अधिकार कर लिया। मैं तभी कुषाणों के नेता वीम के कब्जे में आ गई और पेशावर से पाटलिपुत्र जाते समय कनिष्क ने मेरी ही नगरी में डेरा डाला था। शक स्वर्ण

के उपासक रहे थे और कुषाण सम्मिलित रूप से अनेक धर्मों के देव-ताओं के। स्वयं कनिष्क कुछ काल बाद बौद्ध हो गया था, परन्तु अपने सिक्कों पर उसने ब्राह्म जगतुश्री रोमन हिन्दू और बौद्ध देवताओं को आकृतियाँ खुदवायीं।

कनिष्क ने अपनी मुख्य राजधानी तो पेशावर में ही रखी परन्तु उसने अपने पूर्व की राजधानी मुझे बनाया क्योंकि पूर्व के प्रान्तों के मध्य देश के सिंह-द्वार पर बसी होने के कारण देख-भाल में ही कर सकती थी। मेरी ही नगरी से होकर विलक्षण बौद्ध दार्शनिक और कान्यकार अश्वघोष कनिष्क के साथ बौद्धों की चौथी संगीति में भाग लेने काश्मीर गया था। मेरी ही नगरी में अधिकतर उस नागार्जुन ने अपने भक्तमार्गीय उपदेश किए जिसमें बौद्धों के महायान सम्प्रदाय का प्रचार किया।

कनिष्क की पूर्वी राजधानी होने के अतिरिक्त मैं कुषाणों का देव-कुल भी थी। देवकुल तब राजाओं के मूर्तिसंग्रहालय को कहते थे। मेरे माट नामक जिस गाँव से कुषाण राजाओं को भक्तकहीन मूर्तियाँ इधर कुछ काल हुए मिली हैं, वही कुषाणों का देवकुल था। उसी में उस चन्दन की मूर्ति भी पधराई गई थी जो पीछे मालवा का चित्र बना। इन कुषाण और शक राजाओं की मूर्तियों पर जो वस्त्र आज हम देखते हैं वे निश्चय आज के हमारी अचर्कन और पाजामे के पूर्व-वर्ती हैं। लम्बे कुर्ते और चांगे और साथ ही ऊँचे बूट इन मूर्तियों के पहनावे हैं और उन सूर्य मूर्तियों के भी जिनकी पूजा का प्रचलन शकों-कुषाणों ने ही भारत में किया था। सूर्य की मूर्तियों की पोशाक मध्य एशिया की वह पोशाक है जो शकों और कुषाणों ने पहले पहनी और फिर पठानो-मुग़लों ने। आज मैं उसी पोशाक को भारत की

राष्ट्रीय पोषाक बनते देख सन्तुष्ट होते हैं। परन्तु मेरी जनता उसके अन्तरङ्ग को काश पहचान पाती !

कुषाणों ने इस प्रकार भारतीय संस्कृति को अग्ना कर उसमें अग्ने नए विदेशी स्तरों का योग दिया और उस योग का मुख्य केन्द्र मैं रही। मेरे ही आधार से मध्यभारत और दक्षिण की कला में भी विदेशी पुट पहुँची। एक क्षण ने अब उस भारतीय कला की ओर संकेत करूँगी जो विदेशी सम्पर्क और संरक्षा में झुली-कली थी। भारतीय मूर्तिकला में जिसे गम्भार शैली कहते हैं, उसका केन्द्र पहले तक्षशिला फिर पेशावर हुआ। दूसरी ओर पहली ईसा पूर्व की सदियों में तक्षशिला ने ग्रीकों का राज्य कायम था और वहाँ से वे सन्तुचे पंजाब और काबुल की घाटी पर शासन करते थे। उसका शासन केवल तक्षशिला का शासन न था बल्कि शान्ति के दिनों में उनके शासित प्रदेशों में ग्रीक तक्षक अपनी छुनियों से कला की अभिराम मूर्तिप्रा काटते थे और उनके रंगमंच के अभिनेता इस्काइलस, सोफोक्लीज और मेनामदार के नाटक खेलते थे। उन्हीं ग्रीकों ने भारत की मूर्तिकला में गम्भार शैली का आरम्भ किया जिसमें भारतीय विषयों की ग्रीक शैली से परस्पर में अनुप्राणित किया गया। वही शैली शकों और कुषाणों के शासन काल में भी चलती रही और बुद्ध की पहली मूर्ति महामान सम्प्रदाय के चल निकलने पर वही बनी। वह पहली मूर्ति सर्वथा ग्रीक आकृति की थी। परन्तु शीघ्र ही बाद उसके रूप का भारतीयकरण होने लगा और उस भारतीयकरण का केन्द्र मैं थी। स्वयं कुषाणों के शासनकाल में ही जैसे जैसे उनकी सांस्कृतिक चेतना भारतीय होती गई वैसे ही वैसे इन मूर्तियों का भारतीयकरण भी ढग भरता गया, और गुप्तों के समय तो उसकी पराकाष्ठा ही हो गई। तब की बुद्ध मूर्तियाँ ग्रीक आदर्शों से स्पष्ट होने पर भी सर्वथा भारतीय हैं।

कनिष्क का शासन काबुल से मगध के पश्चिमी इलाकों तक था और जब कभी वह स्वयं मेरी नगरी में न रहता पश्चिमी मध्यदेश और पूर्वी पंजाब का शासन मेरे केन्द्र में स्थित उसका क्षत्रप खरपल्लान करता जैसे पूर्वी प्रान्तों का काशी में स्थित शासक वनस्तर । कनिष्क के बाद वाशिष्क हुआ और वाशिष्क के पश्चात् हुविष्क । हुविष्क के बनाए अनेक बौद्ध-विहार और देव-मन्दिर आज भी मेरी धूल में मिले जुले हैं । बभ्रुदेव तो सर्वथा हिन्दू और वैष्णव हो गया । उसके शासन काल में हिन्दुओं का प्रभाव धीरे-धीरे बढ़ने लगा और उसके वंशधरों की दुर्बलता ने तो बाकायकों और नागों को अपनी महत्वाकांक्षा चरितार्थ करने में बड़ी सहायता दी । दूसरी सदी ईस्वी में नागों ने न केवल कुषाणों के दुर्बल हाथों से शक्ति छीन ली वरन् उनको पंजाब में भगा अपना राज्य मध्यदेश में स्थापित किया । शीघ्र मैं तब कुषाणों के हाथ से निकल कर नागों की शक्ति का पश्चिमी केन्द्र बनी । भारशिव नाग वीरसेन ने तो मुझे ही प्रायः अपनी राजधानी बना ली थी वयपि अनेक राजनीतिक केन्द्र दूसरे भी थे—कान्तिपुर और पद्मावती । पद्मावती तो उनकी विशिष्ट राजधानी ही थी ।

कुषाणों का अधिकार तो मेरे ऊपर से उठ गया परन्तु जो गौरव मुझे उनके समकक्ष से प्राप्त हुआ था, वह फिर कभी मुझे न मिला । मैं उनकी न केवल राजनीतिक पूर्वी राजधानी थी वरन् उस काल की कला का भी मैं मुख्य केन्द्र थी । कुषाण काल भारतीय मूर्तिकला के इतिहास में विशेष प्रसिद्ध हो गया है और उस कला की मैं ही विशिष्ट राजधानी थी । बुद्ध की अनन्त मूर्तियाँ मेरे तत्काल कलाजन्तों ने कोसी, और देश के कोने कोने के विहारों में बे पथराई गई । मेरे आँगन में निर्मित स्तूपों की वेदिकाएँ (रेलिंग) तो विशेष प्रसिद्ध हुई और उनके स्तम्भों पर उत्कीर्ण बची मूर्तियों ने तो भरहुत और साँची की रेलिंगों की शुंगकालीन

यक्षी आकृतियों को लजा दिया। उनके फैले कृत्रिम लाक्षणिक मूर्तियों के ऊपर मेरी वेदिकाओं की यक्षी मूर्तियों ने अपना अकृत्रिम सर्वथा प्राकृतिक रूप पाया। नम, आकर्षक, सम्मोहक यक्षी मूर्तियाँ अपने सौंदर्य, अलङ्कार और पार्थिव आचरण से इस कला क्षेत्र में अग्रतिम हैं। सैकड़ों की संख्या में भग्न और अग्न्यस्त रूपों में वे मेरे लण्डन में पाई गई हैं और उनको आज का कला-समीक्षक नो देखता है तो दाँतों तक उँगली दबा लेता है।

परधर का साधन तो कुषाण कला में प्रयुक्त हुआ ही मिट्टी के खिलौनों के अस्तित्व नमूने मेरे भग्नावशेषों में मिले हैं जिनसे तत्कालिक कुम्हारों की कला का भी पता चलता है। आज भारत के अनेक संग्रहालयों में जो मेरी भूमि से खुदी सैकड़ों मृणमूर्तियाँ सुरक्षित हैं उनको कभी मेरी नगरी के कुशल कुम्हारों ने अपने बनाए साँचे में ढाला था। अनन्त व अनन्त उनकी संख्याएँ मेरी नगरी में प्रस्तुत हुई और दूर-दूर के देशों और प्रान्तों में उनके प्रेमी उन्हें ले गए। आज जो मैं कच्चों के भोंड़े खिलौने देखती हूँ तो अपने प्राचीन नागरिकों की रुचि पर उचित अहंकार होता है। भारवि नागों ने अपनी विजय के उपलब्ध में अश्वमेध तो काशों में किए परन्तु मेरी नगरी भी उनकी पश्चिमी सीमा का केन्द्र बन गई। नागों ने कुषाणों को भगा कर कम से कम अन्तर्बंद में ऐसी राजनीतिक स्थिति पैदा कर दी कि वहाँ एक समृद्ध राज्य स्थापित हो सके और हुआ भी ऐसा ही। उस अन्तर्बंद और साकेत और मगध में गुप्तों का पहले वह राज्य कायम हुआ जो फिर बढ़ कर साम्राज्य हो गया और जिसमें मैं भी समा गई। गुप्तों ने तीर्थस्थानों की साधारण श्रद्धा के अतिरिक्त मुझे अधिक गौरव तो न दिया, परन्तु मैं अपनी प्रतिभा से उनके काल में भी कला की राजधानी बनी रही। इसी काल मैंने विदेशी प्रोक्त लक्षणों से संयुक्त कला के आदर्शों का भारतीयकरण

पूरा किया और इस काल पत्थर और मिट्टी के जो नमूने इस क्षेत्र में मैंने प्रस्तुत किए, वे तो न पहले कभी हुए थे न पीछे हो सके।

हूणों ने जब गुप्त साम्राज्य को तोड़ डाला तब मुक्त पर भी उन्होंने अनवरत चोटों की और मेरे मन्दिर, उनकी मूर्तियाँ सभी खण्ड-खण्ड हो गए। हूणों का स्पर्श मृत्यु का स्पर्श था और एक बार तो मैं बुरी तरह उनकी वृशंसता से उजड़ कर नंगी हो गई।

हर्ष ने फिर मुक्त पर अधिकार किया और उसके बाद यशोधर्मन ने। यशोधर्मन के समय जब काश्मीर के ललितादित्य मुक्तापीड ने कन्नौज पर आक्रमण किया तब उसने अपनी सेना के पड़ाव मेरी ही नगरी में डाले थे। कुछ ही काल बाद अन्तिम आयुध नृपति से कन्नौज छीन जब गद्दी लेली तब मैं उनके शासन में शामिल हुई। प्रतिहारों ने मुझे समृद्ध और धन धान्य दिया परन्तु फिर भी मैं शकों और कुषाणों का गौरव उनके शासन में प्राप्त न कर सकी। हाँ आक्रमण के लिए इधर-उधर दौड़ती सेनाओं की धमक मैंने निश्चय सुनी।

प्रतिहारों के अन्य काल में उत्तर पश्चिम से गजनी के महमूद का हमला हुआ। महमूद कन्नौज जाने के पहले मेरे द्वार आया। मेरी प्राचीरों के द्वार बन्द थे। उन पर उसकी चोटें शुरू हुई। महमूद ने जिस प्रकार नगरकोट के मन्दिर लूटे थे वह मैं सुन चुकी थी और जब यह मेरी ओर बढ़ा तब मेरे प्राण झूल गए। मेरे मन्दिरों के देवता निष्प्राण पत्थर के तो थे ही उनसे अपनी रक्षा की आशा मैं क्या कर सकती थी और निरन्तर विलास से मेरे नागरिक इतने बुजदिल हो गए थे कि उनसे भी कुछ आशा नहीं की जा सकती थी। मेरी नगरी पूजा-पाठ की नगरी कब की हाँ चुकी थी और शस्त्र ग्रहण करने की तात्पर्य किसी में न थी। विशेषकर जब वह खूँखार 'बुलशिकन' गाड़ी महमूद अपने लूट के इतिहास और रक्तपात की कहानियों के धुँएँ में लिपटा

सामने खड़ा था। नगर के द्वार तो बैसे ही टूट रहे थे, अब भागने वालों ने उन्हें सीधा खोल दिया और महमूद की चोटों भरे मंदिरों पर उनमें प्रतिष्ठित मूर्तियों पर पड़ने लगीं। सोने की विशाल मूर्तियाँ रत्नों से जड़ी थीं। इतनी विशाल थीं वे कि उनको तोलने के लिए बार-बार तोड़ना पड़ा। सदियों से सिवा मंदिरों के भण्डार भरने के हिन्दुओं ने कभी उनको छुआ तक न था, विजेताओं तक ने नहीं। वह सारा रत्न संभार महमूद ले गया। दिसम्बर का महीना था। जाड़ा कड़ाके का पड़ रहा था, जो प्रमादी नागरिक भाग न सके अपनी रजाइयों में दुबके पड़े रहे और उन लपटों के शिकार हुए जो पठानों ने नगर में प्रचलित कर दी थीं, मुझे उन चीलते-चिल्लाते, तड़पते-जलते बुजदिलों से कोई हमदर्दी नहीं जिन्होंने मेरी आजादी बचाने के लिए उँगली तक न उठाई। मुझे उम्मीद थी कि उज्जयिनी का प्रतिष्ठित लड़ाका परमार भोज मेरी रक्षा को आणगा पर वह राजा की अनुकरणीयता में उस काल अग्निह्वय को लूटने में व्यस्त था।

बाद के पच्चीसों वर्ष जुलूम और तकलीफ के थे। उत्तर-दक्षिण की हिन्दू-मुसलमान सेनाएँ दोनों मुझे आक्रान्त करती रहीं। काशी की ओर जाते हुए पहले नियलितगीन ने मुझे लूटा, फिर राजिव गुगातिगीन ने, फिर अमीर खुरो ने। तब कहीं गहड़वाल ने मेरी रक्षा का प्रबन्ध सोचा। गहड़वाल कन्नौज, काशी और दिल्ली के स्वामी हो चुके थे और मैं भी उनके अधिकार में आ गई थी। फिर विजयचन्द्र से जब चौहान नृपति विग्रहराज वीरलदेव ने दिल्ली छीन ली तब मैं भी गहड़वालों के हाथ से निकल कर चाहमानों के शासन में चली आई। तब दिल्ली के भाग्य के साथ मेरा भाग्य गुंथ गया। राम पिथौरा जब शहाबुद्दीन के साथ दूसरी मुठभेड़ में विनष्ट हुआ तब मुझ पर भी काशी चोटें पड़ी और कुतुबुद्दीन ऐबक ने जब दिल्ली ली तब

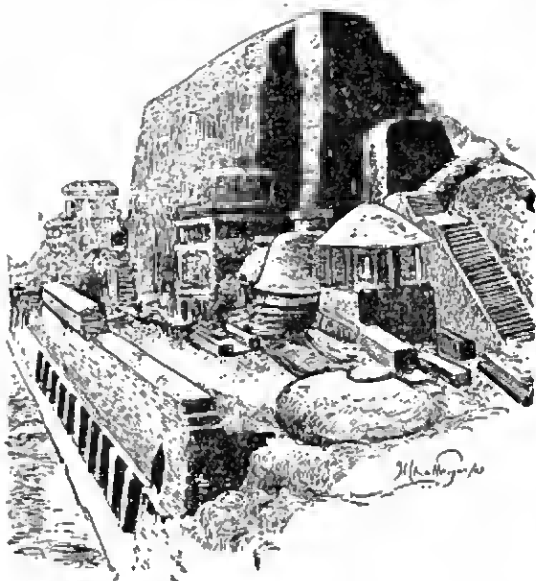
मुझे पर भी अधिकार कर लिया। कुतुबुद्दीन जितना ही कय्याज़ था उतना ही धूर भी था। और मेरे नगर ने सिरों का उसने अम्बार खड़ा कर दिया जो दिल्ली ने बनती उसकी मीनार से किसी कदर नीचा न था।

अलतमश और बलबन ने भी ऐवक से भी बढ़ जाने की कोंशिशें कीं और मुझे सर्वथा वीरान कर दिया। चित्तौर के राणा साँगा ने जब मालवा और गुजरात पर अधिकार कर लिया और इब्राहीम लोदी को दो दो बार हराया तब मुझे आशा बँधी कि दिल्ली के साथ ही राणा मुझे भी आजाद कर देगा। पर जब मैंने उसे बाबर को दिल्ली का तख्त दान करते देखा तब मैंने शर्म से मुँह ढिगा लिया। सीकरी के मैदान में बाबर ने राजपूतों पर हमला किया और वह लड़ाई मुझसे थोड़ी ही दूर पर इतनी जम कर हुई, राजपूतों ने अपने परम्परागत शौर्य का इतना अनजाना सबूत दिया कि मैं साँस रोक उस मैदान की ओर देखती रही, जितने हिन्दुस्तान की किरमत के साथ ही मेरी किरमत भी दिल्ली के नए विजेता के साथ बाँध दी।

बाबर उस तैमूर का बंशधर था जिसने एक बार अल्लाउद्दीन और मुहम्मद तुग़लक की चोटों अपनी क्रूरता से भुला दी थीं, बाबर ने दिल्ली में तैमूरिया खानदान की नींव डाली और उसके पोते अकबर ने उसका साम्राज्य बढ़ किया। हुमाँयूँ की नैया बाजी से मुझे शेरशाह की हुकमत ने कुछ नजात दी और जब हिन्दू हैमूँ विजयनागढ़ की उपाधि धारण कर पानोभव के मैदान की ओर बढ़ा तो मुझे ऐसा लगा कि शायद मेरे नगर में फिर वेद घोष होगा। परन्तु कैरमल्लों के हैमूँ का तोखाना हड़प लेने के बाद मेरी आशा फिर मिट गई। यद्यपि अकबर की सहिष्णुनीति ने मुझे अपने मन्दिरों को खड़ा करने का फिर अवसर दिया।

आस-पास की भूमि की मैं स्वामिनी थी। तब से नहीं बहुत प्राचीन काल से और देश ने फिर मुझे समृद्धि और धार्मिक गौरव दिया। परन्तु शाहजहाँ ने जब गाजी बनने की प्रतिज्ञा की तब फिर मैं उजड़ चली और उसके बेटे आलमगीर ने तो मुझे उजाड़ ही दिया। विष्णु का मेरा वह विशाल मन्दिर औरंगजेब ने तोड़ डाला और उसकी जगह उसी के पत्थरों से अपनी मस्जिद की विशाल इमारत खड़ी की। मैं फिर लुट गई और बुरी तरह, और वह गई हुई समृद्धि फिर न लौटी। अब औरंगजेब की कैद से भाग कर शिवाजी स्वदेश की ओर चले तो मैंने ही उन्हें पनाह दी और उसके बदले मराठों ने आगे चल कर मुझे गौरव दिया। परन्तु अन्धाली की चोट मुझे अब भी याद है और कभी न भूलेगी। दिल्ली को लूट कर अफगान अहमदशाह जब मेरे नगर में आया तब जाटों ने मेरी रक्षा के लिए भरतपुर से मेरे द्वार तक लार्सें बिछा दीं और खुद बिनष्ट हो गए पर फिर भी मेरी रक्षा न हो सकी और मैं एक बार फिर उजड़ गई। ऐसा नहीं कि हिन्दू मुझे न लुटते हों। इस काल अनेक बार मराठों ने भी मुझ से चोच ली और मेरे भीमानों को लुटा।

जमाना गुजर गया, लम्बा जमाना यह शताब्दियों का, सहस्र-शताब्दियों का है। यमुना के किनारे खड़ी मैंने ब्रज की 'समृद्धि पाई और निरन्तर मैंने महत्वाकांक्षा के पैतरे राजभाग पर खड़े होकर देखे। अतीत स्वभावतः ही बीत चुका है, वर्तमान चोटो पर है, परन्तु मैं नहीं समझती कि मेरा भविष्य कुछ विशेष रुचिकर होगा।



राजगृह

राजगृह विन्ध्यमेलला का उत्तरी प्रसार गया के उत्तर दीड़ता है। पहाड़ियाँ बहुत ऊँची तो नहीं पर बौद्ध जलर हैं और उनके बौद्धवन ने अनेक बार मानव और बनेले भगवदों को शरण दी है। आर्यों ने जब अपनी कठोर ठोकरों से सिन्धु काटे की द्रविड़ सभ्यता तोड़ डाली तब वहाँ

से भागे हुये अनेक जनों ने इन्हीं पहाड़ियों में शरण ली थी और अपना आवास बनाया था। परन्तु वह कशानी बड़ी पुरानी है, महाभारत के दिनों से भी प्राचीन विदेहजनक से भी प्राचीन, वैशाली के जगमगाते हीरकोच्चल आचरण से कहीं प्राचीन।

उन्ही पहाड़ियों में काँलों के उत्कर्ष से कुछ पूर्व आर्यजन प्रभुओं ने पश्चिम से आकर डेरा डाला। इन पहाड़ियों की छाया मुक्त और शीतल थी। इनकी कन्दराओं में अनेक प्रिय-स्वप्न सत्य हुये, इद्यों के अनेक उदगार जो मैदानों में कुंठित पड़े थे इन गिरि गङ्गाओं से होकर बह चले। पहाड़ियों पाँच थीं और इन पाँचों के ऊपर अपने-देखे स्वप्न मनुष्य ने साक्षात् किये। इन्हीं पहाड़ियों की कहानी आज मैं कह रहा हूँ, जिन पहाड़ियों के शिखरों पर खिंचे प्राचीनों के पीछे नरेरा अप्रसाद बसे और मेरा राजगृह नाम सायेक हुआ।

परन्तु मेरा सब में पुराना नाम राजगृह नहीं गिरिज है जिससे दूर से आकर सब जाने वालों का, आने जाने वालों के ताँते का अर्थ ध्वनित है। गिरिज वह पहाड़ी दुनिया था जहाँ मैदानों से भाग कर लोग आ बसे थे। एक ब्रह्म मधुसूत के चतुर्दिक था जहाँ शरसेनों के शासन में वासुदेव कृष्ण ने मानव लिप्ता की अनेक कथाएँ चरितार्थ कीं। दूसरा ब्रह्म वह था विन्ध्यमेखला के इस उत्तर प्रसार में बसा—गिरिज।

अपने जन्म की कहानी सदा सब काँता नहीं। मुझे भी उसका पूरा ज्ञान नहीं। कितने मुझे इन शिखरों पर बसाया मैं स्पष्ट नहीं कह सकता पर वह गिरिज की बात है राजगृह की नहीं क्योंकि इस अपने राजगृह का आरम्भ मुझे स्पष्टतः याद है जो गिरिज के भग्न स्तूपों पर खड़ा हुआ था और ये भग्न स्तूप भूमिसात होने के पहले भारतीय सभ्यता के कनक फंगूओं की भाँति कभी दीदीप्यमान रहा था। भारतीय इतिहास का महाभारत काल उर्जस्वी आर्यत्व का काल है। शक्ति की

सीमायें तब वीरवरो ने अपनी दाहुओं से खींची थीं। उसी काल, सम्भवतः उससे कुछ पूर्व गिरिज का आरम्भ हुआ था और महाभारत के युद्ध के समय निश्चय मगध की शक्ति स्मरणीय हो गई थी, इतनी कि कौरव पांडवों के दोनों दलों ने कभी मगध के प्रतिष्ठित अहिर्दय राजकुल की सहायता माँगी थी।

मगध तब कुछ लम्बा चौड़ा साम्राज्य न था, उसका विस्तार आज के पटना, गया जिलां मात्र तक सीमित था परन्तु शक्ति उसकी प्रचुर थी इतनी कि उससे सहायता की प्रार्थना की जा सके। महाभारत कालीन अहिर्दय और उसके पुत्र जरासन्ध ने तो शक्ति का इतना संचय किया कि दूरस्थ शूरसेनों का जनमद प्राचीन ब्रज तक उसके भय से फौर उठा।

कहते हैं जरासन्ध खण्डित बालक के रूप में उत्पन्न हुआ था परन्तु जरासन्ध की भाय ने उसके खण्डित अंगों को एकत्र कर उसका जरासन्ध नाम सार्थक किया। फिर तो उन अंगों में दानव की शक्ति भर गई, मानव की चोट जिस पर पड़-पड़ कर स्वर्ण कुण्डित हो जाती। महाभारत के समय जरासन्ध कन्न का अघेद हो चुका था। ब्रज के कंस ने उसकी कन्या ब्याही थी और जब उस महायुद्ध का आरम्भ हुआ तब तक जरासन्ध भारत की अमानुषिक ऊँचाइयों वाले वीरों की पंक्ति में खड़ा हो चुका था। कंस और जरासन्ध का संयोग आंधी और आग का संयोग था और दोनों ने पश्चिमी कुरुक्षेत्र को छोड़ बाकी उत्तर भारत और मध्य देश को प्रायः बाँट लिया और यद्यपि उनके साम्राज्य सीमाओं की प्राचीरें बल्लुतः पार्थिव रूप से न खिंची उन राजाओं का प्रभाव देश-व्यापी निश्चय हो गया। गिरिज का प्रभाव भी उसी यात्रा में बढ़ चला। गिरिज मगध की पहली राजधानी थी।

ब्रज और मगध का यह सम्बन्ध इतना घना सिद्ध हुआ कि एक का पराभव दूसरे ने अपना पराभव माना और जब प्रजापीडक आर्य क्षत्रीय

कंस के कुकर्मों से क्षुब्ध होकर आभीर कृष्ण ने उसे मार डाला तब जरासन्ध अपनी विशाल मगध सेना लिये मध्यदेश को रौद्रता ब्रज में जा घमका और कृष्ण को ब्रज छोड़ कर भागना पड़ा। जरासन्ध की सेनाओं ने ब्रज पर अधिकार कर लिया। जरासन्ध का आतंक देश पर इतना गहरा था कि विक्रान्त कुरुओं को भी कृष्ण को शरण देने का साहस न हुआ और देवकी नन्दन को सारा देश लांघ पश्चिम समुद्रतट पर द्वारका गया, वहाँ शरण लेनी पड़ी। गिरिज का प्रभाव इस प्रकार दिन-दिन बढ़ता गया यद्यपि यह प्रभाव मात्र था और मगध का साम्राज्य वस्तुतः साम्राज्य न हो पाया। उसकी शासन की प्राचीरें अब भी एक ओर अंग और दूसरी ओर काशी द्वारा मरिडित थीं।

गिरिज के राजा जरासन्ध के द्वारा यह अयमान कृष्ण कभी न भूल सका। द्वारका से वह लौटा परन्तु अकेला नहीं, महाभारत के पांडव वीरों के साथ। संसार में उसके तीन प्रकृत शत्रु थे, कंस, शिशुपाल और जरासन्ध। कंस का वह कब का नाश कर चुका था। इन्द्रप्रस्थ के महलों में शिशुपाल का भी वह उस रीति से बध कर चुका था, जिसे किसी प्रकार उचित नहीं कहा जा सकता था। वह वास्तव में न्याय तर्क के उत्तर में नाशायन खून था। तीसरा शत्रु जरासन्ध अब भी बच रहा था। कृष्ण ने सोचा यदि जरासन्ध कुवचेन में अपनी सेना लिये आ घमका तो न उसकी हार होगी न पाण्डवों की और यदि वह मारा भी गया तो उसका भ्रंश कृष्ण को न होगा करना समवेत पाण्डव पक्ष को होगा और ब्रज से भागते समय उसकी पीठ लगी धूल प्रतिशोध की विजय द्वारा पुंज न सकेगी। ब्रज से भागते समय जो कालिल लगी थी, उसका घोंना नितान्त आवश्यक था और वह इस प्रकार की जैसे ब्रज के आने घर में कृष्ण के यह लगी थी, गिरिज के आने घर में जरासन्ध को लगे। भीमसेन और अर्जुन को लिये कृष्ण गिरिज के

राजप्रासाद में पहुँचा जहाँ कि बैठक में जरासन्ध का अलाढ़ा, था जिस अलाड़े की मिट्टी वह दूध से गोली करता था। जरासन्ध की बैठक अथ की भूमिमात हो चुकी, परन्तु उसके आधार पर खड़ी उसकी नाम से जाने वाली पत्थरी की एक भग्न बैठक आज भी मेरे प्राचीनों के पीछे पैले मैदान में खड़ी है।

जरासन्ध और भीम में जैसी निपटरी उसको सक्स्तार कहना मेरा अभीष्ट नहीं, इतना निश्चय है कि जरासन्ध अपने ही घर में मारा गया और जिस प्रयत्न से वह मारा गया, वह कुछ उसी प्रकार का था जिस प्रकार शिशुपाल का बध ! कृष्ण को जरासन्ध के जोड़ों का पता था और भीमसेन को वह राज मालूम होते ही जरासन्ध के श्रंग-श्रंग विलर गये, अपने ही राजप्रासाद में अपनी ही प्राचीनों के नीचे। यह कृष्ण का अभिवान था जरासन्ध के विरुद्ध, ब्रह्म का गिरिज के विरुद्ध और इस अभियान में सेना न गई थी, प्रयत्न आर चतुर्विधा राजनीति मात्र इसमें विजयिनी सिद्ध हुई।

गिरिज पता नहीं कब तक और किस रूप में अपनी शक्ति को चतुष्टय उनको रख सका, परन्तु एक बात मुझे आज भी याद है और वह यह कि ईसा से प्रायः ६०० वर्ष पूर्व बार्हाद्रथों की इस पार्वतीय प्रदेश से मिट्टी उठ गई। जिस नये राजकुल ने मागध की राजरज्जु संभाली, उसका नाम हयंकुल था। हयंकों ने इसकी प्रश्रुता ने उस महाभारत प्रयुक्त मागध राजकुल का ध्वंस किया जिसकी कीर्ति कथा जरासन्ध ने अपनी बाहुओं से लिला था, परन्तु इसमें सन्देह नहीं कि प्रारम्भिक हयंकों में प्रमुख भट्टीय का पुत्र विमिशार हुआ। इसी विमिशार के उत्थान के साथ ही मेरे उत्थान की कथा भी सम्बद्ध है।

एक और घटना इस कुल के आरम्भ और बार्हाद्रथ कुल के अंत के बीच की याद आती है जिसको कहना मैं नहीं भूल सकता।

महाभारत के युद्ध के बाद आर्यों की शक्ति टूट सी गयी। सर्वत्र वे आपत्त में लड़ पड़े थे; जो विशेष तो कुरुक्षेत्र के मैदान में ही परस्पर निपट चुके थे जो वहाँ से लौटे वे प्रायः और 'बहुकाल तक' उसी कुरुक्षेत्र की शत्रुता को झरने-झरने केन्धों में जगाये रहे। आर्यों के अपकर्ष के साथ ही अनेक स्थलों में अनायों की शक्ति फिर एक बार जगी। राज की नारियों को दारका लै आते हुए अर्जुन के हाथ से गोंडीव के रहते हुए शशरों ने छीन लिया। एक नारी पद्मिनी के अपमान के परिणाम में इतना क्रुद्ध महाभारत हो गया था, परन्तु इतनी संख्या में कृष्ण की नारियों को खोफ भी और वह भी अनायों के विरुद्ध, महाभारत के वचे वीर हाथ न उठा सके। यही घटना अन्य रूप में गिरिजाने में भी घटी जब आर्षाद्रथ कुल के कमजोर होने पर गया के महाकान्तार से अनायों की जनता उठी तब कमजोर मूठों से तलवार पकड़ने वाले आर्य वंशवरो के जान के लाले पड़ गये। उनसे भागते न बना। और गिरिजाने के खड्डों में वे सदा के लिये सो गये। कालान्तर में हर्यक कुल का उत्कर्ष हुआ और राजा भट्टीय ने गिरिजाने के दूटे प्राचीरों को फिर से खड़ा किया। विन्धिवार उसी भट्टीय का पुत्र था और उसने मगध का लुप्त गौरव फिर से स्थापित करने के लिये कसर कसी।

गिरिजाने की प्राचीन प्राचीरों के शहर उत्तर की ओर उसने अपना विशाल राजप्रासाद खड़ा किया। राजप्रासाद के खड़े होते ही उसके चारों ओर अनन्त धनी, मानी, सेठ, साहुकार मगध के विविध नगरों से उसके चतुर्दिक् आ बसे। यह एक नयी नगरी उठ रही थी प्राचीन गिरिजाने की ही छाया में, परन्तु उससे कहीं दृढ़ मन्तव्यों की भाषना लिये भट्टीय ने ही आस-पास के अनायों को कुचल डाला था। अब केवल विस्तार की आवश्यकता थी और उस विस्तार के लिये विन्धिवार कटिबद्ध हुआ।

विभिन्नार न तो कोई बड़ा लड़ाका था और न विशिष्ट राजनीतिज्ञ परन्तु दूरदर्शी यह निश्चय था, पास पड़ोस की गतिविधि गहरायी के साथ निरखने और वस्तुस्थिति का समझनेवाला। उसने दृढ़ निश्चय कर लिया कि मगध की सीमारें अब केवल पुराने परिमाण में ही सीमित न रह सकेंगी। परन्तु अभिन्यास के बजाय उसने वैवाहिक नीतिको अपनी राजनीति में स्थान दिया। भारतीय राजनीति में वैवाहिक सम्बन्ध से उत्कर्ष की अभिप्राप्ति का यह पहला प्रमाण था। मैंने ऐसा कुछ कभी पहले देखा हुआ न था, परन्तु जो देखा उससे मेरी आँखें भी खुल गईं और मैंने जाना कि बिना तलवार के भी गढ़ जीते जा सकते हैं। तब की राज शक्तियों में चार प्रबल थे, मगध के हयंक, भावस्ती के कोशलक, कोशाम्बी के वत्स और अवन्ती के प्रद्योत। कोशाम्बी के वत्सों और उज्जैनी के प्रद्योतों से मगध कुल का दैर था। विभिन्नार दोनों से अलग बना रहा। कोशल की मैत्री उनके विरोध में आवश्यक थी, इसलिये उसके राजा प्रसेनजित को वध्न कोशल देवी से उसने अपना विवाह किया। काशी जो तब की कोशल के अन्तराल में समा चुकी थी अब कोशल देवी के यौतुक में विभिन्नार को मिली। एक हलाह की यह वार्षिक आय मेरे लिये अनजानी थी और काशी की सौ प्राचीन नगरी मेरे चेरी हुई, यह कुछ कम गौरव की बात न थी। गिरिज कब का मिट चुका था। मेरा नाम राजगृह विभिन्नार के राजप्रासाद के सन्पर्क से सार्धक हुआ और अब काशी की परिचर्या से मैं उभग उठा। विभिन्नार ने फिर गंगा पार देखा। उस पार जहाँ बज्जी लिच्छवियों ने जनक विदेह का राज्य पैशाली में गद्यतन्त्र कर लिया था। गंगा से हिमालय की तराई तक उनकी सूती चोलती थी और उनकी सहायता पाने को सारे राजकुल लालायित रहते थे। बज्जियों के आठ गणों में विशिष्ट लिच्छवियों का था प्रबलतम

और उसमें चेटक का कुल असाधारण था। उसी चेटक की कन्या चेल्लना को विन्विस्तर ने ब्याहा जिसकी भगिनी विशाला जैन धर्म के प्रवर्तक वर्द्धमान महावीर की माता बनी। इस विवाह सम्बन्ध से मेरी शक्ति बढ़ी और मेरी मर्यादा की सीमायें सुदूर विस्तृत हुईं। अनेक राजकुल तब मेरे राजकुल में विवाह सम्बन्ध स्थापित करने को उत्सुक हो उठे। उनमें जिसकी आशा सफल हुई, वह गांधार का राजकुल था। गांधारों की माद्री मेरे राजग्रासद में पधारी। इस सम्बन्ध से मेरी सामाजिक मर्यादा असामान्य हो गई।

मेरे स्वामी ने तब एक और बढ़कर काशी के पश्चिम में बल्ल की प्राचीरों तक अपने बल्ले गाढ़े, दूसरी ओर अंग को आत्मघात कर लिया यद्यपि कौशाम्बी के कामुक वृषति उदयन ने अंग के राजा ब्रह्मदत्त की कन्या को ब्याह अपने ससुर को अंग का कुछ भाग फिर से लौटाया परन्तु उस कामुक की चेष्टा कब तक सफल रह सकती थी? ब्रह्मदत्त अंग की प्राचीरों के साथ मेरी सीमाओं में खो गया।

इन्हीं दिनों मगध, कौशल और विदेह में एक नये जीवन का संचार हुआ। धर्म के नाम पर एक जमाने से जो बलात्कार होता आया था उसके विरुद्ध कुछ क्षत्रीय नेताओं ने विद्रोह किया। वास्तव में यह विद्रोह पुराना था—क्षत्रियों का ब्राह्मणों के विरुद्ध और उस विद्रोह के अप्रमणी पहले विश्वामित्र, देवापि, भीष्म, जनमेजय, अश्वपति कैकेय, प्रवाहरण वैबलि, अजातशत्रु काशेय, जनक विदेह रह चुके थे परन्तु इधर के काल में भी इन क्षत्रीय विद्रोहियों की भी कुछ कमी न रही थी। काशी के राजकुल के उदात्त राजकुमार पार्श्व ने केवल सी वर्ष पूर्व उस विद्रोह का भंडा लड़ा किया था और उसके बाद अब वैशाली में वर्द्धमान ने उसको फिर फहराया। शाक्यों में प्रतिष्ठित शुद्धोधन के पुत्र गोतम ने भी उस विद्रोह के नाले बुलन्द किये। उन

नालों की आवाज अनेक बार मेरे पर्वत शिखरों से टकरा टकरा कर मेरे अंतर में भी गूँजी थी और अब मैं उसी शाक्य सिंह की गर्जन की बात आप से कहूँगा।

कपिलवस्तु से महाभिनिष्क्रमण कर रात की नीरवता में अपने प्रिय पुत्र पत्नी को छोड़ ब्राह्मण दर्शकों के उत्तर से अतृप्त सिद्धार्थ गौतम जब अनामा पार कर कौलियों के गणतन्त्र को लाँघ गंगा की ओर वैशाली की राह चल पड़ा था तब मैं अवाक दम साधे कौतूहलपूर्वक उसका वह पदक्रम देख रहा था। गंगा लाँघ सम्प्रोधि की तलाश में सिद्धार्थ राजगृह पहुँचा। आलारकालाम और रुद्रकराम पुत्र के दार्शनिक वितन्वय उस सत्य की खोजी को उसका समुचित उत्तर न दे सके। ध्रुव अतृप्त वह मेरे राजमार्गों पर तीव्रता से निकल जाता और ध्रुव अतृप्त वह फिर लौट पड़ता। उसके उन्नत भाल की संकुचित रेखायें उसके हृदय की जागरूकता को प्रदर्शित करतीं पर धरा पर तब कौन वह दार्शनिक था जो उसके भीतर बुमझती गुत्थियों को सुलझा सकता ! एक बार की कथा मुझे आज भी याद है जब वह महामना मेरी सहकों पर प्रशान्त तेज को लिए निकल पड़ा था। मेरा स्वामी विभिन्नतर तब राजप्रासाद की ऊँची छत पर खड़ा उसे तन्मय देख रहा था। सहसा उसके हृदय में असाधारण तल्लता का उदय हुआ और प्रासाद के संपानमार्ग से वह सहसा दौड़ पड़ा। शाक्य कुमार के सामने खड़े होते ही उसे अपने कुल की दयनीय दशा याद आई। अपने पुत्र अजातशत्रु की बगावत याद कर उसने सोचा यदि वह तेजस्वी कुमार मगध को गद्दी पर आरुढ़ हो जाय तो उसकी भावी सुरक्षा संदिग्ध न रह जायगी। वह सहसा बोल उठा—“भदन्त, आप इस नगरी के राजमार्ग पर नित्य चिन्तित क्यों भटक कर रहे हैं और आज नित्यवत आपकी मुद्रा प्रशान्त क्यों नहीं ?” उत्तर मिला—“सम्प्रोधि के निमित्त बाहर निकला था।

मनुष्य दुली क्यों है ? उसके त्याग और तर का परिणाम दुःख और मृत्यु क्यों है ? धून और चाँदनी को मेघों की छाया मलिन क्यों कर देती है ? —इसी की तलाश में कपिलवस्तु से निकला था । आश्रमों के दर्शन में उसे दूँदता फिरा हूँ । आज स्थिति हो गया उनके पास मेरे प्रश्नों का उत्तर नहीं । जन-जन में विरोध क्यों है ? जन-जन ऊँचा नीचा क्यों है ? सब के अधिकार समान क्यों नहीं ? दुःख, जरा और मरण समान हैं, कैशोर और तारुण्य समान हैं ! —बालो राजन्, क्या कुछ तुम इनका समाधान करोगे ? भिक्षुदान के अर्थ तुम्हारे सामने खड़ा है क्या दोगे ?” चकित विमिश्रित उस महातेजस्वी को क्षण भर देख बोला — “भद्र, सो तो न दे सकूँगा । परन्तु भगवत् की नित्य फैलती सोमायें आसके चरणों में डालता हूँ; इसे स्वीकार करें ।” राज्यभारतों आसके पैले कंधों पर डाल मैं निद्रान्द्र हो जाऊँगा । परिजालक बोला — “सो तब न ले सकूँगा राजन् ! शाक्यों का भूमि विस्तार कुछ कम नहीं, पिता शुशोधन का शासनक्षेत्र उससे भी विस्तृत है और यशोधरा के प्रेममय मनोराज्य का विस्तार उससे भी । तीनों को लाँघ आया हूँ, न ले सकूँगा भगवत् की उन नित्य बढ़ती सीमाओं का भार । मैं तो सम्यक सम्बोधी को खोज में चला ।” मैं सुनता रहा । नगर के प्रासाद धातायन वह मधुमण्डित वाणों कुछ काल गुंजाते रहे । वायु के आर्द्र भोंके उस वाकविन्यास को मेरे गिरिगङ्गों में ले उड़े । मैंने ऐसा दान कभी सुना न था और न उसका परित्याग इस ओजपूर्ण आचरण में ही देखा सुना था ।

देखते ही देखते मेरे दक्षिण की लड़ी ऊँचाइयाँ लाँघ गौतम महा-कान्तार में उतर गया उर्वेला की ओर ।

फिर जब सम्बुद्ध होकर वह मेरे नगर में लौटा तब तक घर के पद्मिनी से मेरी रिपति ढावाँडोल हो चली थी । शाक्य सिंह के प्रतिद्वन्दी देवदत्त ने हमारे राजप्रासाद में एक नए धर्म का उद्घोष किया

था जो दोनों से निरुपेय था। निरुपेय महावीर के से भी, सम्यक समुद्र के से भी। महावीर के प्रवचन विम्वितार ने सुने थे। अब शाक्य सिंह के सुने। दोनों के प्रति वह भद्रालु था परन्तु बुद्ध के बढ़ते प्रभाव ने देवदत्त के हृदय में हलचल मचा दी और जब वह विम्वितार के कान न जा सका तब वह उसके पुत्र अजातशत्रु के कानों जा लगा। यहाँ उसे निराशा न हुई क्योंकि राजपुत्र पिता के दीर्घजीवन से ऊब चुका था। राजदण्ड को पकड़ने के लिए यह अधीर हो उठा था और देवदत्त के अनुकूल आचरण के सिवा उसने और कोई राह न देखी। फिर क्या था, मेरी ही प्राचीरों के भीतर विम्वितार के उस राजप्रासाद में रक्त की व्यवस्था हुई। अजातशत्रु ने हत्यारे की छुरी अपने हाथ में ली परन्तु संयोगवश पद्मचंद्र निष्फल गया और विम्वितार बाल बाल बच गया। मेरा प्रासाद रक्त के छींटों से क्लृप्ति होते होते बच गया। फिर भी अन्य विधि से अजातशत्रु ने अपना हित साध ही लिया। देवदत्त का मानसिक मन्त्रव्य पराभव से क्षुब्ध हो उठा था। उसने नई नीति की व्याख्या की। धर्म के नाम पर हत्यारे ने विष और रज्जु हाथ में ली। विम्वितार अपने ही अनाए राजप्रासाद में बन्दी हो गया। शीघ्र बन्दी के उच्छ्वास हवा में विलीन हो गए। विष ने उसका काम तमाम कर दिया। उसकी कराह आज भी भग्न प्रासाद की नींव से जब तब उठकर हवा में विलीन हो जाती है। मिट्टी में मिला हुआ मैं स्वयं जब तब उस पथरीली अव्यंजित आवाज को सुनता हूँ और धूल में मस्तक टिका देता हूँ।

अजातशत्रु मगध की गद्दी पर बैठा। पिता की मृत्यु पर उ ने अयोध्या किया, उसका प्रायश्चित्त भी। प्रायश्चित्त के लिए उसने एक विराल यज्ञ की आयोजना की जिसमें अनन्त पशुओं की आहुति दी जाने वाली थी। असंख्य पशु मेरी यज्ञशाला के प्राङ्गण में शृंगों से आ बंधे और तभी यह भी आया जिसकी गर्जन ने देश के मिव्यावादियों

के हृदय में कंप उठा दिया था—वह तथागत । राह में यशराला की ओर अपनी भैंसें हँकते हुए गड़रिये ने बुद्ध के आचरण पर इसलिए मुस्करा दिया था कि यह जत्र नेमने के हल्के ढाव पर इस प्रकार प्रवित हो गया था तब अजातशत्रु के यश में अनन्त पशुओं के हवन व्यापार का उस पर क्या प्रभाव पड़ेगा, जो उस पितृहंता का ईष्ट है और तथागत उसके अवरोध के लिए चल पड़ा था ।

शोध बाद जो व्यापार मैंने अपनी आँखों देखा, जो सिंहनाद अपने कानों सुना, वह मेरे वातावरण की आज भी अमिटि गूँज है—“राजन, वह क्या व्यापार है ?” “तथागत, पितृहत्या का अपराधी हूँ । यश से पिता की आत्मा तृप्त होगी । मेरे पाप का क्षमन होगा ।” पाप का तिनका उठाकर तथागत ने राजा के सामने फेंक कर कहा—“राजन, तनिक इसे तोड़ो तो ।” राजा ने बुटकी के कंपन मात्र से तिनका तोड़ दिया । भिक्षु बोला—“राजन, तनिक इन्हें जोड़ो तो ।” चकित अजातशत्रु आँखें फाड़ उस महायात्री को देखने लगा । पैतीस वर्षों से जिसकी गति कहीं न रुकी थी महायात्री फिर बोला—“राजन, सूखे वृक्ष को जोड़ने की तुम्हमें शक्ति नहीं और इन लालों पशुओं को मारकर तुम क्योंकर पिता के प्रति अपराध का मार्जन कर सकोगे ? यदि ऐसा ही है तो इस सम्यक सम्बुद्ध की यश में आहुति दे इष्ट सम्पन्न करो ।” यश शब्द हो गया । लाल लाल दूध बद्ध पशु स्वतन्त्र हो गये । तथागत फिर अपनी राह चला ।

तथागत लौटा । उसने उस वेणुवन में डेरा डाला जिसे दिवंगत विम्बिसार ने संघ के निमित्त दान कर दिया था । यज्ञियों का गणतन्त्र अजातशत्रु के प्रसर में ऊँचा अवरोध था । तथागत से अजातशत्रु के मन्त्री ने उनके पराभव का साधन पूछा । तथागत ने कहा—“जब तक यज्ञियों के गणतन्त्र की बैठकें निरन्तर अविलम्ब होती हैं, जब तक उनके वृद्धों के प्रति तत्त्वों की भद्रा बनी है, जबतक उनके विधान

परम्परा की रक्षा उनका ईष्ट है, जबतक उनमें फूट और ईर्ष्या नहीं, जब तक उनकी नारियों की हजत उनके दिलों में बनी है तब तक उनका पराभव सम्भव नहीं।”

अज्ञातशत्रु ने उनमें फूट फैलाने की नीति सोची। अपने मन्त्रियों को उसने वैशाली भेजा जिन्होंने उनको बैठकों में उनके राजकों में फूट के बीज बोये। उसके मामा चेटक ने उसके वैमात्रिक भाइयों हल्ल बेहल्ल को शरण दी थी, लिच्छवियों ने चाँदी की छान को अकेला भोगा था, अज्ञातशत्रु ने सहसा उनपर आक्रमण किया। वैशाली जूझ कर भी हार गयी। आसपास के पड़ोस को मैंने ईर्ष्या से देखा था और उनको आत्मघात करते मेरी मुवबरी इतनी उज्ज्वल न हुई थी जितनी अब हुई। प्राचीन काशी जब मेरे अन्तराल में आई तब निश्चय मैं सन्तुष्ट हुआ था, परन्तु वैशाली की शक्ति और गौरव स्थायित्व कर मैंने जो मुक्ति लाभ की वह सर्वथा अनुपम थी। वैशाली का पतन होते ही मेरी सीमाएँ गंगा लाँच हिमालय के चरण तक जा पहुँची। समस्त उत्तर बिहार मेरा उत्तरी प्राङ्गण बना।

अज्ञातशत्रु गंधार के राजा कुक्कुसाति का नाती था। उसकी पुत्री सेना का पुत्र था। उसकी नसों में उत्तरी दुर्बल पठानों का रक्त प्रवाहित हो रहा था। सम्भव न था कि वह इतने से ही सन्तुष्ट हो बैठता। कोशल और वत्स से लोहा लेना उसे अभी बाकी था और उज्जैनी की बढ़ती हुई सीमाएँ बराबर उसके हृदय में शंका और भय का संचार करती थीं। जब तब बलियों का काँटा उसके पार्व में चुभता था वह चुप था, परन्तु अब जब उन्होंने उसे अपनी बगल से निकाल रेंका था तब उसके डरने का कोई कारण न था। अब वह कोशल और काशी की ओर बढ़ा। काशी की आय उसके त्रिनाता कोशलदेवी के दहेज में मिली थी। पिता का जब उन्होंने लून किया था तब कोशल-

देवी ने अन्न जल छोड़ अपने प्राण दे दिये थे और तभी उसके भाई कोशल के राजा प्रसेनजित ने क्षुब्ध होकर काशी की आश्रय से प्रणय को ध्वस्त कर दिया था। अजातशत्रु के लिये इस अपमान को निगल सकना असम्भव था परन्तु वज्रियों के परामर्श तक वह चुप रहा। उस ओर से निश्चिन्त होते ही अन्न वह पश्चिम की ओर बढ़ा और कोशल पर उसने प्रचण्ड हमला किया। मैं युद्ध का मनसा इष्ट और अनिष्ट परीक्षाम देखता रहा। कभी विजय आवरती की होती, कभी मेरी। अन्त में प्रसेनजित ने हार मान ली और न केवल काशी फिर मेरे अधिकार में आई बल्कि अजातशत्रु ने प्रसेनजित की कन्या याजिरा का पाणिग्रहण भी किया।

प्रसेनजित स्वयं अपने राज्य में दुखी न था। उसके पुत्र विक्रान्त के विद्रोह ने उसे दुर्बल कर दिया था। पुत्र के विद्रोह में उसका मन्त्री दीर्घधारायण भी सम्मत था और दोनों के पड़वन्ध ने पिता को सर्वथा दुखी और कमजोर कर दिया। इनके अतिरिक्त आवरती के जंगलों में अंगुलिमाल ने जो उपद्रव कर रक्ता था, वह उस राज्य को ध्वस्त करने में कुछ कम सिद्ध न हुआ। मैं अपने गौरव से दिन दिन सन्तुष्ट होता जा रहा था। पर अकस्मिन् की बढ़ती हुई सीमाओं मेरे लिये कुछ कम अन्वेषों की बात न थी। प्रसेनजित से तो छुटकारा हो गया था। विशेष कर जब पुत्र के गद्दी हड़प लेने से यह गरीब राजा मदद के लिये मेरी ओर बढ़ा और भय तथा भूल से कलान्त उसने मेरे ही सिंहासन पर अपना दम तोड़ दिया। प्रभावशाली तक्षशिला के उस स्नातक और सुसंस्कृत बुद्धिमान प्रसेनजित को अपने द्वार की भूमि चूमते मैं कुछ कम दुखी न हुआ, परन्तु राजनीति को अपना अखाड़ा बनाने वाले राजाओं और राजधानियों का उसमें गिरने वाले व्यक्तियों का कब मोह रहा!

अवन्ती को सीमायें बढ़ती जा रही थीं। उनसे मुझे भी डर था और जब चरह प्रद्योत महासेन ने उजैनी में बैठे ही बैठे यान्त्रिक हाथी के सहारे कामुक उदयन को बन्दीकर कौशाम्बी पर अधिकार कर लिया, तब तो अजातशत्रु के हृदय में शंका और डर हुई और यद्यपि उदयन-प्रद्योत की कन्या वासवदत्ता को हर कर कौशाम्बी फिर लौटा अजातशत्रु को उज्जैनी के दर से मेरी प्राचीरों मजबूत करनी ही पड़ी। अजातशत्रु का गौरव मेरा गौरव था, उसके अनौचित्य पर मैंने आँख नहीं बहाये परन्तु उसके बाद ही यद्यपि मगध दिनों-दिन बढ़ता गया, मेरी मृत्यु की घड़ियाँ धीरे-धीरे पास आने लगीं। अजातशत्रु के बाद मेरी शक्ति का बड़ा धक्का लगा क्योंकि यद्यपि उसका पुत्र दर्शक और पौत्र उदायी हमसे सम्पर्क बनाये रहें मुझ राजगृह का गौरव शोभता सें मैदानों में गंगा शोण के कोण में नये सड़े होते पाटलिपुत्र के भवन कंगूरों की ओर बह चला।

पाटलि के लाल फूलों के गाँव में तथागत ने अनेक प्रवचन दिये थे। वहीं माभियों की आजादी दबाकर उदायी भट्ट ने एक नई राजधानी का निर्माण आरम्भ किया। पुराने भला किनको भाते हैं ! मेरा कलेवर यद्यपि तन्मूच नया था परन्तु जोर्ण गिरित्रज के सम्पर्क से निश्चय जीर्ण का आभास देता था। उसका नवीकरण नितान्त आवश्यक था परन्तु उससे कहीं आवश्यक उस नये केन्द्र की थी जो मध्यदेश के मैदानों में फैलती मगध की सीमाओं का नेतृत्व कर सकता। पाटलिपुत्र उसी की पूर्ति के लिये उठ खड़ा हुआ और मेरा गौरव सहस्रगुना बढ़कर उसके प्रासादों में पैठा।

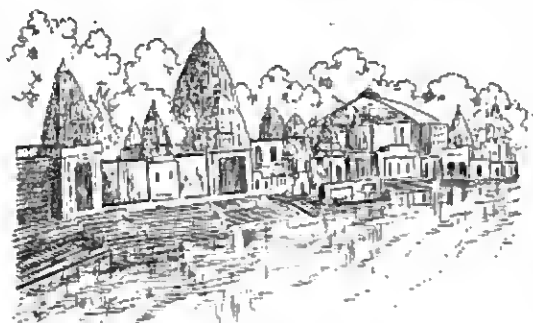
अब मैं चौरान हो चला था परन्तु कुछ ही काल बाद एक बार फिर एक सामरिक ने मेरी ओर दृष्टि फेंकी। अमात्य शिशुनाग ने सहला हथक कुल का नाश कर लिया और मगध के बढ़ते साम्राज्य पर अभि-

कार कर लिया। काशी पर तो उसने एक प्रान्तीय शासक नियुक्त किया और राजधानी उसने फिर मेरी प्राचीरों के पीछे मुरखित की। फिर भी उसका यह व्यापार दीनक की उस अंतिम लौ की तरह था जो प्रायः मृत्तु का सूचक होती है। वस्तुतः मेरा वैभव फिर न लौटा और आगे मेरी कहानी दुःख दर्द की है, ईर्ष्या और ईर्ष्य की। उत्तर दिशा में मेरा प्रतिद्वन्दी पाटलिपुत्र नित्य नये उत्कर्षों के कदम उठाता गया और नित्य उठते कदमों के नीचे भारत के प्रान्त के प्रान्त कुचलते गये। समय समय पर उसके विरुद्ध जनता के आचरण हुए परन्तु उसने अपने शक्तिमान इस्तिपदों से उन विद्रोहों को कुचल ही डाला। पाटलिपुत्र का आचरण स्वेच्छाचारी निरंकुश विजेता का आचरण रहा है और मैं दूर से उसके रक्त-रंजित व्यापार देखता रहा हूँ।

जब विदेशी ग्रीक दिमित ने पाटलिपुत्र में विजय हुंकार के साथ प्रवेश किया तब मुझे कुछ टाटस बँधा। मेरी ईर्ष्या वृत्ति को कुछ सन्तोष मिला, जब सोमशर्मेन पाटलिपुत्र से भाग मेरे पहाड़ियों के पीछे गया के महाकान्तार में उतर गया तब मैंने ध्यंग की हँसी हँसी, जब लोहितगुह अमलात ने पाटलिपुत्र की सड़कों पर जनता के क्रन्दन के साथ रक्त का ताण्डव किया तब मैं भी मुस्करा पड़ा यह जानता हुआ कि यह अनुचित है। पर निश्चय ईर्ष्या उचित-अनुचित नहीं जानती।

धीरे धीरे छठवीं सदी से उस महा विद्यापीठ का उत्कर्ष प्रारम्भ हुआ जो नालंद में मेरी हो छाया में खड़ा हुआ। यद्यपि राजनीति का वैभव अब मुझसे दूर हो चुका था। यह सांस्कृतिक गौरव मेरी प्रसन्नता का विशेष कारण हुआ। गुप्तों के डाले बीज ने बढ़कर हर्ष के समय में और कुछ पीछे विशाल वट वृक्ष का रूप धारण किया। अनन्त दिशाओं से भारत और विदेश के कोने कोने से विद्वार्थी और आचार्य इस विशिष्ट बिहार के शरणार्थी हुए। मेरी भग्न प्राचीरों को उन्होंने उत्तुङ्गता जिज्ञासा

और भद्रा के साथ देखा मैं भी पुलकित हुआ परन्तु मेरा यह सांस्कृतिक वैभव ही बहुत दिनों जीवित न रह सका। उसको जीवित रखने में मैंने भी अनेक उपाय किये थे। बंगाल के देवपाल ने उस विद्यापीठ को समृद्ध करने के लिये जब मेरी ओर देखा तब मैंने अपने चार गाँव ठेके प्रदान किये परन्तु उस वनोले शस्त्रियार को क्या पता था कि मेरा रंग रंग नालंद के प्रकाश से आलोकित है। उसने उसके ग्रन्थागार में आग लगा दी और ब्राह्मणों को तलवार के घाट उतार दिया। आचार्यों ने दक्षिण भारत और तिब्बत में शरण ली। नालंद वीरान हो गया और अब नालंद और मैं दोनों ही अपने भ्रम इतिहास को लिये अन्तरमुख हो आँधि पड़े हैं। दोनों एक दूसरे को देख सन्तोष लाभ करते हैं। मेरी हृष्या अब अनित्य है क्योंकि यद्यपि पाटलिपुत्र पटने के नाम से आज भी बिहार की राजधानी है, फिर भी सन्तोष है कि मगध के उस साधारण साम्राज्य की राजधानी का गौरव फिर लौट कर उसके प्रासादों में न बसा। यह भी सन्तोष की बात है कि मुझे जो देखता है, मेरे विगत गौरव की बात सोचता है पर पाटलिपुत्र को जो देखता है उसकी दुर्गन्धयुक्त गलियों के बाद फिर कुछ नहीं सोचता। मैं अपनी अन्य परित्यक्त परिस्थिति से परितुष्ट हूँ।



उज्जयिनी

मैं भी प्राचीन हूँ। काशी, कांची, अयोध्या के साथ भारत की सात प्राचीन नगरियों में मेरी भी गणना है। मैं अवन्ती से उज्जयिनी कब और कैसे बनी, यह मुझे याद नहीं। परन्तु इतना कहूँगी कि भारत में यद्यपि नगर एक से एक हैं परन्तु जितनी उथल-पुथल मेरी स्थिति में हुई है, जितना बदलता हुआ जमाना मैंने देखा है, उतना शायद ही किसी और ने देखा हो।

मुझे देशी विदेशी दोनों स्वामियों ने भोगा है। मेरे आँगन में राज्य और गणतन्त्र दोनों लड़े हुये हैं। देशी विदेशी प्रभुओं ने आपस में चाहे जितने बंग किये हों, मेरे कलेवर को उन्होंने बराबर बढ़ाया है और उसे बढ़ा कर मेरी 'विशाला' संज्ञा सार्यक की है। प्रद्योत और नन्द, मौर्य और शुंग, मालवा और शक, वाकाटक और गुप्त, हूण

और राष्ट्रकूट, प्रतिहार और परमार सब ने सदियों के दौरान में मेरे प्रासादों में अरना आवास बनाया है, सब ने अपनी शक्ति का आधार मेरी समृद्धि को बनाया है।

मैं कितनी प्राचीन हूँ, यह मैं नहीं कह सकती, परन्तु ईसा से प्रायः सात सौ वर्ष पहले, प्रायः तभी जब पश्चिम में रोम की नींव पड़ी थी मेरी शक्ति भी खुल कर फैल चली। निश्चय यह मेरा आरम्भ न था, आरम्भ तो सूर्य अतीत में कब का हो गया था, वह वस्तुतः मेरा वह शक्तिम काल था जब मेरे प्रसर का आलस्य क्षितिज पर उठ चला था। सातवीं सदी ईस्वी पूर्व में प्रद्योतों का कुल प्रतिष्ठित हुआ और धीरे-धीरे वह अपनी शक्ति का संचय करने लगा। मगध का साम्राज्य निश्चय पुराना था परन्तु जब शैबुनागों ने महाभारत काल के बार्हाद्रथों का अन्त कर गिरिज्य से गौरव छीन अपनी नई राजधानी राजगढ़ को दी तब मेरा राजकुल भी अपने साम्राज्य का स्वप्न देखने लगा था और तभी से मेरे इतिहास के अध्याय काल ने जो जिसने आरम्भ किये वे आज भी मेरे आँखों के सामने हैं। मैं प्रद्योतों का धीरे-धीरे उठना देख रही हूँ और देख रही हूँ उत्तरी भारत के उन प्रख्यात राजकुलों की पंक्ति में उसका लड़ा हाना जो राजगढ़, भावस्ती और कौशाम्बी में कब के प्रतिष्ठित हो चुके थे। राजगढ़ के शैबुनाग, कौशल के इक्ष्वाकु और कौशाम्बी के वत्स इतिहास में काफी प्रसिद्ध हो गए हैं। उन्हीं की भेणी में प्रद्योतों का राजकुल जयभुद्र के जीवनकाल में जा लड़ा हुआ तब वस्तुतः शक्तिवद् बढ़ न था बल्कि उत्तर भारत के ही राजकुल ही शक्तिवद् थे।

तब मेरा प्रभु चण्डप्रद्योत महासेन अपनी कठोरता और सैन्य शक्ति दोनों के कारण विशेष प्रसिद्ध हुआ। आस पास की भूमि पर उसने पूरा अधिकार कर लिया और अब वह उत्तर की भी जीतने के स्वप्न देखने लगा। उत्तर का जीतना कुछ आसान न था, परन्तु आशा इससे हो

आई थी कि तीनों राजकुल सदा आपस में टकरा रहे थे। कौशल उत्तर में था अधिक दूर, प्रद्योत ने इसलिए पहले कौशाम्बी और मगध के साथ निरट लेने का निश्चय किया। उसकी प्रसर नीति से उसकी उत्तरी सीमा वत्स की दक्षिणी सीमा के जंगलों से जा लगी थी। यद्वासी प्रकृत्य शत्रु होते हैं इससे मेरे और कौशाम्बी के संग्रन्ध में क्षोभ होना स्वाभाविक और अनिवार्य था। एक एक क्षण युद्ध का अन्देश लगा रहता था और दोनों राज्यों की सेनाएँ बराबर एक दूसरे पर टूट जाने को सज्ज रहती थी। पर वत्स के राजा उदयन को जीतना कुछ खेज न था। यद्यपि विलासी के रूप में वह प्रसिद्ध था, वीणावादन में परम निपुण उदयन के हाथ जिस प्रकार उसको घोषा के तारों पर अबाध गति से दौड़ते थे उसी प्रकार उनमें निरन्तर शस्त्र संचालन की भी अद्भुत क्षमता थी। हार कर मेरे स्वामी ने छल का प्रयोग निश्चित किया और कृत्रिम हाथों के जरिये वत्स के उदयन को कैद कर लिया। कौशाम्बी पर कुछ महीनों के लिये मेरा अधिकार हो गया और मेरी शक्ति से विम्बिसार के पुत्र मगधराज अजातशत्रु को इतनी शंका हुई कि उसने पकड़ा कर अपनी राजधानी की प्राचीरें मुहड़ कर लीं, परन्तु प्रद्योत के हाथ कैते थे और वत्स पर पूरा अधिकार जमा लेने के पहले मगध की ओर बढ़ना उसने मुनातिब न समझा। उदयन को उसने अपनी कन्या वासवदत्ता को वीणावादन में निपुण करने के लिए शिक्षक नियुक्त किया परन्तु वत्स राजा वासवदत्ता को ले भागा और कौशाम्बी सहसा सिर स्वतन्त्र हो गई। उदयन के उत्कट शौर्य से प्रभावित हो कर प्रद्योत ने वत्स की ओर से अपना हाथ खींच लिया।

परन्तु मेरा और कौशाम्बी का संघर्ष चलता रहा। कभी वह जीती, कभी मैं और अन्त में मैंने उसे दबोच लिया। पालक ने उस पर अधिकार कर लिया, यद्यपि घर की लड़ाई मेरे यहाँ भी कुछ मामूली न थी।

गोपाल पुत्र आर्यक ने पालक से मुझे छोने लिया यद्यपि वह स्वयं मुझे भोग न सका। प्रद्योतों का अन्तिम राजा अथन्तिवर्द्धन था जिसे महा-पद्मनन्द की सर्वसंप्राप्तक चोट सहनी पड़ी और मैं नन्दों की चेरी हो गई।

नन्दों का चाणक्य की मदद से सर्वनाश कर चन्द्रगुप्त मौर्य ने जब मगध का साम्राज्य प्रान्तों की नित्य की जीत से दिन-दिन बढ़ना शुरू किया तब मैं विशेष प्रकार से पाटलिपुत्र की आभिता होकर भी प्रसिद्ध हुई। मगध का साम्राज्य इतना फैल गया था कि एक राजधानी से उसका शासन ईसा पूर्व चौथी सदी में सम्भव न था और उसके लिये उसे अनेक शासन केन्द्र स्थापित करने पड़े। पश्चिमी प्रान्तों का जिसमें गुजरात सौराष्ट्र तक शामिल थे, शासन केन्द्र मैं बनी। बिन्दुसार के समय जब इन केन्द्रों के राजकुल के कुमार प्रान्तों पर शासन करने लगे तब मेरे माताद में उस अशोक ने निवास किया जिसका नाम संसार के प्रतीक सम राजाओं में गिना जाने वाला था। तब उसका कुशल शासन राज-कुमारों के लिये दृष्टान्त बन गया। तक्षशिला में उसका बड़ा भाई सुसीम शासक था और जब वहाँ के दुर्घर्ष जातिवों ने विद्रोह किया और उसे सुसीम सम्भाल न सका, तब बिन्दुसार ने उसके दमन के लिये मेरे शासक अशोक को ही वहाँ भेजा। अशोक ने विद्रोह शान्त कर दिया और मेरी ख्याति तक्षशिला के ऊपर प्रतिष्ठित हुई। मेरी ही भाँति मौर्यों के तब दो और शासन केन्द्र थे, उत्तर में तक्षशिला और दक्षिण में सुवर्ण-गिरि जिनसे मेरी स्वर्दा होती रहती थी। अशोक जब राजा हुआ तब भी वह मुझे भुला न सका और उसके उत्तराधिकारी सम्प्रति ने तो मुझे प्रायः अपनी राजधानी ही बना ली।

वास्तव में मेरी स्थिति कुछ ऐसी थी कि मुझे भुलाया जा ही नहीं सकता था। राजनीति तो मेरी प्रवृत्ति थी ही परन्तु उससे बढ़कर मेरी अर्थनीति थी जो सदा राजनीति का आधार रहा करती है और रहती

आई है। मैं उस समय एशिया की आर्थिक दृष्टि से राजधानी थी, मेरी समृद्धि का मुकाबला तब का कोई नगर, पाटलिपुत्र तक नहीं कर सकता था। मैं उस काल के संसार की सबसे बड़ी मण्डो थी। वाणिज्य का केन्द्र इतना बड़ा दूसरा न था। चीन और द्वीप समूहों से साम्रलिति से होकर आने वाला सारा वाणिज्य मेरे ही बाजारों में दूटता था। रोम, निभ, बाबुल और अरब की ओर से कल्याणों शूरपारक और भृगुकच्छ से होकर आने वाला सारा विजारती सामान मेरी ही सड़कों पर उतरता था। इसी प्रकार उत्तरापथ और मध्यएशिया के सारे स्थल मार्ग मेरे ही आँगन में समाप्त होते थे। प्रशस्त वणिक्पथ मेरे आधार से उठकर कौशाम्बी की राह एक ओर मधुरा तक्षशिला की ओर जाते थे, दूसरी ओर काशी पाटलिपुत्र की ओर। तीसरी ओर कलिंगपत्तन साम्रलिति की ओर और चौथी ओर पश्चिम के समुद्र तट की ओर। मैं इन वणिक् पथों की निस्सीम स्वामिनी थी। अशोक का पाटलिपुत्र का निरन्तर मेरी ओर आँख लगाए रखना स्वाभाविक हो या।

अशोक के बाद मौर्यों का साम्राज्य जो झिल्ला तो झिल्ले प्रान्तों पर अधिकार के लिए देश के छोटे बड़े राजाओं में संघर्ष छिड़ गया। परन्तु उसकी बात न कह इससे पहले मैं उस राजनीति की क्षण भर कहानी कहूँगी जिसके परिणामस्वरूप मेरा अचन्ती नाम बदल कर मालवा हो गया।

पंचात्र अति प्राचीन काल से गणतन्त्रों की आधारभूमि रहा है। उन्हें एक बार ईरानी सम्राट दारु ने पराभूत कर दिया था फिर ग्रीक विजेता सिकन्दर ने और फिर अन्ततः चन्द्रगुप्त मौर्य ने अपने साम्राज्यवादी नहत्याकाण्ड की खोट से छिन्न-भिन्न कर दिया था। उन्हीं गणतन्त्रों में मालव, क्षुद्रकों के गणतन्त्र भी प्रतिष्ठित थे। मालवों ने जो ईरिया और तलवार दोनों एक साथ धारण करते थे, सिकन्दर की राह अपने चपे-चपे जनीन पर रोकी थी। सिकन्दर का हमला तो उन्होंने बर्दाश्त कर

लिया परन्तु चन्द्रगुप्त मौर्य का विधान उनकी वर्द्धित और परम्परा से बाहर था। वे उसे सह न सके। उन्होंने अपना रावी तट का आधार छोड़ कर राजपूताने के काइलण्ड में चला जाना निश्चित किया। पूर्वी राजपूताने की राह वे दक्षिण की ओर चले। इसी बीच एक और बटना घटी जिसका प्रभाव न केवल मध्यएशिया वरन् सारे भारत पर पड़ना था। जातियों के परस्पर टकरा जाने से दूट कर शक नामक जाति अपने आधार से उठ सिन्ध देश में बस गई थी। इसी काल वह अवन्ती में आ-असी और उसने इस प्रदेश को जीत कर मेरे नगर में एक नए विदेशी राजकुल का प्रारम्भ किया। अभी कुछ ही दिनों उनकी इस देश में आए हुआ था कि उन पर मालवों की भिजली गिरी। मालव स्वयं राजपूताने की राह अवन्ती की ओर बढ़ते आ रहे थे। अपने मुखिया विक्रमादित्य के नेतृत्व में उन्होंने शकों पर आक्रमण किया और उन्हें हराकर अवन्ती से उखाड़ फेंका। मालवों ने स्वयं इस देश में बस कर उसका नामकरण सिर से किया। अब नै उनके नाम से मालवा कही जाने लगी। मालवों ने नुके एक नया संवत् भी दिया, मालव संवत् जो शकों के ऊपर उनकी विजय का स्मारक था। ईसा से प्रायः ५७ वर्ष पूर्व उस मालव संवत् का प्रारम्भ हुआ जो प्रायः आठ सौ वर्ष बाद मालवों के उस मुखिया विक्रमादित्य की विजय से संबंधित होने के कारण विक्रम संवत् कहलाने लगा। मालवों का गणतन्त्र मालवा में प्रतिष्ठित हुआ तो सही पर जम न सका और यद्यपि वे कुछ काल उसके स्वामी बने रहे, उनके हाथ से बाद की तरह बढ़ती आने वाली शकों की धाराओं ने शक्ति धीन ली। अब तक भारत में प्रायः एक साथ ही शकों के पाँच राजकुल प्रतिष्ठित हो चुके थे—सिन्ध में, तक्षशिला में, मयुरा में, महाराष्ट्र में और अब मुक्त उज्जयिनी में। मौर्यों के बाद शुंगों के आरम्भ ने पहले मगध को बाज्रवी मीकों ने रौंद डाला था। शुंग जो उनके बाद बहाँ सम्राट के रूप

में प्रतिष्ठित हुए, मेरे ही पड़ोसी विदिशा के रहने वाले थे और सेनापति पुष्यमित्र के बेटे अग्निमित्र ने विदिशा से ही विर्धन को जीता था। शुंगों के बाद कण्व आए थे और उनके बाद आन्ध्र सातवाहन। परन्तु सभी शकों के नेता लांछितान् अम्लान ने मगध के प्रान्तों को कुचल कर बिखेर दिया। उसी काल में शकों की दूरी धारा ने मुझे आज्ञावित कर, मेरे नगर में यसानोतिक का राजकुल स्थापित किया।

यसानोतिक का शक राजकुल उज्जयिनी के क्षत्रप राजकुल के नाम से प्रसिद्ध हुआ। इस कुल के गौरव का प्रतिष्ठाता यसानोतिक का पुत्र चटन था। चटन का सम्बन्ध मथुरा के शक राजकुल से भी था। चटन ने मेरे नगर के आधार से अपने राज्य का विशेष विस्तार किया और मालवा की शक्ति पश्चिमी भारत के प्रसिद्ध राजकुलों में गिनी जाने लगी। चटन का पुत्र जयदामन हुआ परन्तु उसकी शक्ति विशेष समाप्त नहीं हुई और इस कुल की समृद्धि बलुतः उसके पुत्र रुद्रदामन ने बढ़ाई।

रुद्रदामन इस कुल का सर्वश्रेष्ठ रूपति था और गौतमी पुत्र भी-सातकर्णों ने मेरे जिन प्रान्तों पर कब्जा कर लिया था उनको तो उसने छीन ही लिया, उनके अतिरिक्त आन्ध्रों के अन्य प्रान्त भी उसने स्वायत्त कर लिए। उस काल आन्ध्रों का राजा वाशिष्ठि पुत्र भी पुलमावि था जिसने रुद्रदामन की कन्या को ब्याहा था। परन्तु वैवाहिक सम्बन्ध राजनीतिक प्रसर में मिले ही बाधक होते हैं और शकराज को अपने ब्राह्मण जामाता के अनेक भूखण्ड छीनते जरा भी संकोच न हुआ। मेरी सीमाएँ बढ़ चलीं। सातवाहनों के उत्तरी सूबों के अतिरिक्त गुजरात, सीराष्ट्र, कनाड और राजपूताने के अनेक भाग भी मेरी सत्ता में शामिल हो गए। रुद्रदामन ने न केवल इन्हीं देशों को अपने हाथ में किया बल्कि उसने दक्षिणियों को भी परास्त किया।

उसके शासन काल में एक प्रसिद्ध बात यह हुई कि चन्द्रगुप्त मौर्य के समय में खुद्री गिरनार पर्वत की सुंदरान भूल के बन्ध टूट गए। उनकी रुद्रदामन के सौराष्ट्र शासक कुलेय पुत्र नुबिशात्र ने फिर से मरम्मत कराई और इस निमित्त उसने प्रजा पर किसी प्रकार का कर न लगाया।

इसी काल विशेषतः मैं भारतीय ज्योतिष का केन्द्र बनी। ताराओं की गति-विधि का निरीक्षण मेरे ही आधार से होने लगा। पंचाङ्गों का निर्माण भी मेरे ही नगर का, विशिष्ट माना जाने लगा। और ज्योतिष के क्षेत्र में ग्रीक और रोमक विदेशी प्रभावों को भी तब के हिन्दुओं ने अपने शास्त्र में स्थान दिया। ग्रीक ज्योतिष के अनेक सिद्धान्त, पारिभाषिक शब्द और राष्ट्र चक्र आदि भारतीय ज्योतिष में मेरे ही नगर में स्वीकृत हुए। राशि चक्र तो वास्तव में ग्रीकों का भी नहीं था। उन्होंने उसे बाबुली व्यवस्था से लिया था। इसी प्रकार होडाचक्र जो जन्मचक्र के अर्थ में प्रयुक्त होता है, उसी ग्रीक दिशा से मुझे मिला। यद्यपि उसका आरम्भ भी ग्रीकों में न हुआ था, मिश्रियों में हुआ था जिनसे सूर्य के लिए ग्रीकों ने पहले पहल होरास शब्द सीखा। शक होने के नाते विदेशी ज्ञान को स्वीकार करने में रुद्रदामन या उसके पूर्वजों और वंशधरों में ब्राह्मणों की भाँति संकोच न था। यह विशेष प्रशंसा की बात है कि जिन मेरे शक स्वामियों को ब्राह्मणों ने श्लेष्म और घृणित समझा उन्होंने ही उनकी संस्कृति भाषा की प्रगति में अपना अग्रतिम योग दिया। आश्चर्य की बात है कि जहाँ ब्राह्मण सातवाहनों ने अपने लेख प्राकृत में खुदवाए, श्लेष्म शकों ने शुद्ध संस्कृत में और रुद्रदामन का द्वितीय शती ईस्वी के मध्य में लिखा गिरनार वाला लेख तो संस्कृत गद्य की पहली शुद्ध निखरी हुई शैली प्रस्तुत करता है। मुकुन्द वास और दण्डी की वाक्य परम्परा को

अनेकार्थ में उस गिरनार की शैली से सीखना है। रुद्रदामन का यह सांस्कृतिक योग सदा भारतीय संस्कृति के विद्यार्थियों को उपकृत करेगा।

रुद्रदामन के बाद मेरे शक राजकुल में दुर्धल नृपतियों का शासन हुआ और एक के बाद एक कमजोर नृपति मेरे स्वामी होने लगे। इसी काल मेरे पश्चिमी जगत में आभीरों की आँधी आई और मेरे प्रान्त तितर-बितर हो गए। रुद्रदामन की अर्जित पृथ्वी की रक्षा करने या भोगने वाला न रहा। जब आभीरों का उत्थान मेरी दिशा में हुआ प्रायः सभी मगध और अन्तर्बंद में उस नई शक्ति का जन्म हुआ जिसे भावी भारत की राजनीति का नेतृत्व दीर्घ काल तक करना था और जिसकी बढ़ती हुई शक्ति मेरे ऊपर भी शीघ्र ही हावी होनी थी, गुप्त सम्राटों की।

मेरे राजकुल का अन्तिम नृपति रुद्रसिंह तृतीय हुआ। अपने निकट के पूर्वजों से कहीं अधिक उसमें शक्ति थी और कुछ माया में उसने अपने कुल की विगत शक्ति लौटा ली। उसकी महत्वाकांक्षा इतनी बढ़ी कि उसने मगध पर भी अधिकार करने का स्वप्न देखना शुरू किया और कम से कम कुछ काल के लिए मगध राज को शक्ति कर ही दिया। वास्तव में मगध के स्वर्ण पर वह राहुवनकर बूढ़ा और यदि तरुण चन्द्रगुप्त (विक्रमादित्य) ने उसे मार न डाला होता तो वह निश्चय समुद्रगुप्त की दिग्विजय पर स्वाधी पोत देता। फिर भी जो कुछ उसने किया उसने गुप्तों के सम्मान में कम बढ़ा न लगाया। शक-मुरण्डों शाहीशाहानुशाहियों और अन्य विदेशी राजपूत शक्तियों को संगठित कर वह सहसा मधुरा की ओर से अन्तर्बंद के पश्चिमी द्वार पर जा खड़ा हुआ। समुद्रगुप्त शीघ्र ही मर चुका था और कदापि उसने अपनी पृथ्वी की रक्षा के लिए अपने कनिष्ठ पुत्र अश्वगुप्त को चुना या प्रभु उसके मरने पर बड़े होने के अधिकार से उसका बड़ा बेटा रामगुप्त

मगध की गद्दी पर बैठा। रामगुप्त कमजोर और कायर था जिसमें अपने पिता की जीती पृथ्वी को संभाल सकने की ही शक्ति न थी, शकों के आक्रमण से वह इतना आतंकित हो उठा कि उसने उनके मनमानी सन्धि की शर्तें चुपचाप मान लीं। अपनी आजादी और राज्य के बदले जो मूल्य देना उसने स्वीकार किया, वह कायरता का अप्रतिम दृष्टान्त है। उसकी पत्नी भुवदेवी अपने सौन्दर्य के लिए विख्यात है। रुद्रसिंह ने उसको भी सन्धि की शर्तों के अनुकूल भाँगा और उसके पति रामगुप्त ने उसे शकराज के हवाले कर देना स्वीकार कर लिया। भुवदेवी ने जब यह सुना तब वह अत्यन्त उद्धिग्न हो युवराज चन्द्रगुप्त के पास पहुँची और उससे उसने अपनी लाज की रक्षा की प्रार्थना की। तदनुषंग चन्द्रगुप्त को वैसे भी वह अपमान सहना था और उसने शकराज से बदला लेने का उपाय सोच लिया। भुवदेवी के घेरे में वह एक छोटी रत्नक सेना लिए शकों के स्कन्धावार में पहुँचा और वहाँ उसने रुद्रसिंह को मार डाला। शकों में भगदड़ मच गई और गुप्त वंश की लाज बची। चन्द्रगुप्त ने भुवदेवी और मगध की गद्दी दोनों पर अधिकार कर लिया। रुद्रसिंह मर तो गया परन्तु शकों की प्रभुता मालवा और मेरे नगर में बनी रही। वह प्रभुता फिर भी कुछ ही दिनों टहर सकी। चन्द्रगुप्त द्वितीय जो अब मगध की गद्दी पर था और जिसने अपने कायर भाता रामगुप्त का नाम तिरकों अभिलेखों तथा गुप्त वंशावली से भी मिटा दिया था जागरूक और दूरदर्शी द्रपति था। महत्वाकांक्षा भी उसमें पिता की ही भाँति कूट-कूट कर भरी थी और उसने राहु स्वरूप शकों को सतरे की दूरी से सदा के लिए निकाल देने का व्रत किया। मावला और मगध के बीच बाकायक ब्राह्मणों का राज्य था। उनके राजपुत्र से अपनी पुत्री प्रभावती गुप्ता को न्याह शकाटक को मित्र बना उनके राज्य ने अपनी सेना का मार्ग बना, शकों

मैं आ दूटा और शीघ्र उन्हें कुचल डाला। चन्द्रगुप्त की संहारक नीति साधारण न थी। प्रतिद्वन्द्वी को हराकर छोड़ देना उसकी नीति न थी और उसने शत्रुओं को मालवा से बाहर निकाल दिया। उसकी इस नीति के कारण ही उसने शकारि विक्रमादित्य का विरुद्ध मिला। मालवा, गुजरात, सौराष्ट्र सभी अब मगध साम्राज्य में समा गए और पश्चिमी समुद्रतट पर विदेशों से होने वाले वाणिज्य का लाभ अब मगध को होने लगा। मैं स्वयं संसार के वाणिज्य का प्रमुख केन्द्र थी और मेरी समृद्धि अब पाटलिपुत्र की समृद्धि हुई।

मेरी महत्ता मगध सम्राट ने भी मानी और मुझे विशेष आदर दिया। मुझे अपने साम्राज्य की उसने दूसरी दक्षिणी राजधानी बनाई और यद्यपि पाटलिपुत्र उसका राजनीतिक केन्द्र था, साम्राज्य का व्यापारी और सांस्कृतिक केन्द्र मैं ही थी। अनेक बार उसने मेरे प्रासादों में अनेक दर्शार किए। अनेक बार उसके नवस्नन यहाँ पवारे। गुप्त काल के उस स्वर्ण युग की अनेक ऊँचाइयाँ मेरे ही नगर में उस काल के इतिहास ने खू लीं। कालिदास मुझसे थोड़ी ही दूर पर रहता था और उसने अलका की ओर जो अपना मेघदूत भेजा तो मेरी नगरी का महत्त्व वह न भुला सका और वह यद्यपि मेरा रास्ता अलका जाने वाले मेघ के लिए कुछ देड़ा पड़ता था उसने फिर भी मेरी ओर भेजा। उसने कहा भी तू उज्जयिनी स्वर्ग का पृथ्वी पर उतपा हुआ क्षण है, वहाँ महाकाल के प्राचीन मन्दिर में खँवर लिए नर्तकियाँ सदा अनेक बुँधरुओं से मन्दिर का वातावरण निनादित रखती हैं, वहाँ के ऊँचे भवन विभाम के आवास हैं, शिक्षा के तट पर कोविदबृद्ध उदयन की कथा कहते हैं—उज्जयिनी की चपलांगी कामिनियों के कटाक्ष से बंचित रहा उसका जीवन निरर्थक है।

हूणों की अनेकोंनेक घाराओं ने जय गुप्तों की शक्ति तोड़ दी और उनके साम्राज्य के प्रान्त भिखार दिए, तब मैं भी उससे दूर जा पड़ी और

मेरे ऊपर भी हूणों का अधिकार हो गया। उनके नेता तोरमाण ने मालवा पर अधिकार कर लिया। परन्तु शीघ्र, यशोधर्मन् ने उसके पुत्र मिहिरकुल को मालवा से निकाल दशापुर (मन्दसौर) में अपनी प्रशस्ति के वाइक स्तम्भ को खड़ा किया। लौहिय से समुद्र तक की भूमि के राजा उसके चरण छूने लगे।

हूणों की चोट से मगध का गुप्त कुल जब जर्जर हो गया तब उसका एक शाखा मेरे नगर में आ बसी और उसने मालवा के एक भाग पर अधिकार कर लिया। मेरी नगरी फिर यशोधर्मन् के बाद स्वदेशी नृपतियों द्वारा शासित होने लगी और देवगुप्त ने तां जो गौड़ के नृपति शशांक से मैत्री की तो कन्नौज के राजाओं की जान के लाले पड़ गए। उसने हर्ष के बड़े भाई राजवर्द्धन को मरवा डाला और मौखरियों के अन्तिम राजा को मार कर कुछ काल के लिए कन्नौज पर अधिकार कर लिया यद्यपि वह हर्ष की बड़ती ताकत से नष्ट हो गया। मैं फिर भी अपनी आजादी बनाए रख सकी।

अब एक नई शक्ति ने भारत में प्रसिद्धि पाई। वह शक्ति गुर्जर प्रतिहारों की थी। देश में तीन प्रबल शक्तियाँ पाल, राष्ट्रकूट और प्रतिहार थे। प्रतिहार मारवाड़ में मन्दौर के आधार से उठे थे और उनके नृपति कत्तराज ने मुझ पर अधिकार कर लिया। कत्तराज को राष्ट्रकूट नृपति को चोट से भागना पड़ा और मैं राष्ट्रकूटों के अधिकार में आई। इस काल का मेरा इतिहास छीनाभरटी का इतिहास है और मैं कभी राष्ट्रकूटों, कभी प्रतिहारों के अधिकार में आती-जाती रही। कत्तराज के पुत्र नागभट्ट द्वितीय ने अब कन्नौज को जीत उसे अपनी राजधानी बनाई तब फिर एक बार मैं प्रतिहारों के कब्जे में आ गई। शीघ्र राष्ट्रकूटों ने मुझे छीन लिया। नागभट्ट के पुत्र मिहिरभोज ने एक बार सहसा मुझपर आक्रमण किया और मेरे परवर्ती प्रदेश को रौंद कर मुझे भी, लूटा।

महेन्द्रपाल प्रथम महीपाल, महेन्द्रपाल द्वितीय आदि फिर फिर मुक्त पर अधिकार करते रहे यद्यपि उन्हें बराबर राष्ट्रकूटों से मेरे लिए लोहा लेना पड़ा। इस छोटी भावटी में मेरी जो दुर्गति हुई उसका अनुमान आसानी से लगाया जा सकता है।

दसवीं सदी के आरम्भ में एक नया राजकुल मेरी नगरी में प्रतिष्ठित हुआ। वह था उन परमारों का, जिनके वंशपर वाक्पति राजमुंज और भोज विजयलोक हिन्दू संस्कृति के रक्षक और उसके निर्माता हो गए हैं। इस राजकुल के उठने के समय मेरी नगरी में प्रतिहारों और राष्ट्रकूटों के प्रतिनिधि शासक रहा करते थे। कृष्णराज उपेन्द्र ने एकाएक बाहरी शक्ति को उखाड़ मालवा में स्वतंत्र परमार वंश की सत्ता स्थापित की। मैं फिर स्वतंत्र राजवानी हुई और मेरी शक्ति को पुनः प्रतिष्ठा ब्रियकहर्ष ने की। उसने राष्ट्रकूटों का पराभव हो न किया वरन् लोदुग का मार राष्ट्रकूटों की राजधानी मान्यसेत पर अधिकार कर लिया।

उसी ब्रियकहर्ष का पुत्र यशस्वी मुंज था। मुंज अपने साहस, अपनी साहित्य प्रियता और उदारता के लिए इतिहास में प्रसिद्ध हो गया है। उसका सम्पर्क मुझे अपने भाग्योदय का प्रतीत हुआ और निश्चय वह मेरा भाग्योदय भी था : जिस प्रकार प्रद्योतों के समय में प्रकाश के मार्ग पर आरुढ़ हुई थी, जिस प्रकार शकों के समय मैंने साम्राज्य निर्माण किया था, उसी प्रकार परमारों के आधिपत्य में मैंने उत्कर्ष की चोटी छू चली। मुंज पृथ्वीवल्लभ कहलाता था। निःसन्देह वह उज्जयिनी बल्लभ था। चालुक्यों को तो उसने कुचल कर रख दिया। उन्हें उसने अनेक बार हराया, परन्तु छठी बार जब यह अपने मन्त्री की सलाह की अवहेलना कर गोंदावरी लाघ चालुक्यों के राज्य में घुसा और घुबता चला गया तब चालुक्य नरेश तैलप द्वितीय ने उसे पकड़ कर कैद कर लिया। मुंज हाथी से कुचलवा दिया गया और मैं अनाथा हो गई। मुंज ने

अनेक साहित्यिकों को मेरी नगरी में आश्रय दिया था। पद्मगुप्त, धनञ्जय, धनिक, सब उसकी कीर्ति के उपासक थे।

उसके बाद मेरी गद्दी पर कुछ काल के लिए मुंज का छोटा भाई सिन्धुराज बैठा, जिसे सिन्धुल भी कहते थे। इसी सिन्धुराज के यशोगान के लिए पद्मगुप्त ने 'नवसाहस्रक चरित' लिखा। सिन्धुल कुछ ही काल जीवित रहा और उसके बाद उसका पुत्र राजा भोज मेरी गद्दी पर बैठा।

राजा भोज अपने समय के भारत का सबसे प्रसिद्ध और शक्तिमान नृपति था। उसने प्रायः साठ वर्ष राज्य किया और इस दौरान में उसने छैः छैः राजकुलों से संपर्क कर समय समय पर उन्हें पराभूत किया। चालुक्यों से बैर पुराना था और चालुक्य राज को परास्त कर उसकी राजधानी को लूट उसने अपने चचा भोज का बदला लिया। ऐसा नहीं कि भोज हारा न हो। वह हारा भी और अनेक बार हारा परन्तु उसकी विशेषता इस बात में थी कि हार कर भी उसने कभी अपने को हारा हुआ न माना और बार बार उसने लौटकर गद्दी पर अधिकार कर लिया। विक्रमादित्य, जैसिंह, सोमेश्वर ने उसको पराजित किया और मात्रवा को अनेक बार रौंद दिया पर भोज धारा से उज्जयिनी, उज्जयिनी से धारा भागता रहा और फिर उसने मेरे राज्य पर अधिकार किया। त्रिपुरी के कलचुरियों, ग्वालियर के कच्छपपातों, अन्हिलवाड़ के चालुक्यों और कल्याणी के चालुक्यों को उसने अनेक बार हराया। उसका लम्बा जीवन एक साथ शत्रु और शास्त्र की उचाकना में बीता। तब वह उन वीरियों ग्रन्थों को लिखने का समय पाता था जो उसके कृतीत्व के स्मारक हैं। समझ में नहीं आता परन्तु इसमें सन्देह नहीं कि शक्ति, लक्ष्मी और सरस्वती तीनों ने समान रूप से उसको बरसाया।

भारत पर इन्हीं दिनों महमूद गज़नवी के आक्रमण होने लगे थे।

पहली बार जब हिन्दू राजाओं ने सम्मिलित रूप से उसका सामना किया था तब उनमें भोज का भी योग था और उसकी सेना भी महमूद से हारी थी। परन्तु समझ में नहीं आता, इतने साहसी, वीर और बुद्धिमान नृपति ने महमूद को हराने का उद्योग क्यों न किया? भोज के से अद्भुत राजा को भी घरेलू युद्धों में कैसे रह कर विदेशी विजेता को और ते मुँह फेर लेना निश्चय मेरी प्रसन्नता का कारण न हो सकता था। मैंने अनेक बार अपने आप से उल्लाहना के रूप में कहा—भोज का शौर्य अपनी को ही विपन्न करने में चरितार्थ होता है। जब महमूद के भय से भाग कर अहिलवाड़ के नृपति भीम प्रथम ने अन्यत्र शरण ली और सोमनाथ को विदेशी द्वारा पददलित तथा नष्ट होते सुना तब मैंने अपने स्वामी और भारतीय संस्कृति के नूतिमान प्रतीक भोज की ओर देखा। तब उसकी उदासीन मुद्रा देख मैं फफक कर रो पड़ी और मेरी स्तानि सथा क्षांभ का अन्दाज लगाया जा सकता है। जब भीम के सिन्धु के मुसलमानों के विरुद्ध आक्रमण करने, अपने राजधानी छांड घाटर चले जाने के बाद मैंने अपने स्वामी के जैन सेनापति कुलचन्द्र को अहिलवाड़ को लूटते देखा, नहीं कह सकती वह भोज के पराक्रम का दृष्टान्त था या जैन अहिंसा का आचरण!

जो हो, मैं भोज के कृत्यों से बहुत प्रसन्न न थी और मुझे बार बार गुंज के बीच और व्यक्तित्व को याद आने लगी। मेरी विरक्ति से लीभ कर भोज ने तब धारा नगरी को अपनी राजधानी बनाया। धारा शक्ति और समृद्धि में मुझसे बढ़ चली। उसके प्राङ्गण में मन्दिर और भवन खड़े होने लगे, सर और सरोवर खुदने लगे परन्तु मेरी कीर्ति इस नव-निर्माण से नहीं मिट सकती थी, न मिट सकी। अनेक बार अपनी राजनीतिक हार से भाग कर भोज को मेरी ही प्राचीरों के पीछे शरण लेनी पड़ी। अनेक बार मैंने मालवा का नेतृत्व किया। अन्त में लक्ष्मी-

कर्ण और भीम दोनों ने अपने कुलों के पहले पराभव का बदला मेरे स्वामी भोज से लिया। अपनी सेनाएँ एकत्र कर उन्होंने दो ओर से मालवा पर हमला किया और दोनों मोर्चों को भोज ने संभाला। किस विद्युत् गति से यह एक से दूसरे मोर्चों पर दौड़ पड़ता, किस साहस से यह कभी एक दूसरे की रक्षा करता यह जब मैं याद करती हूँ तब उसे सराह उठतो हूँ और गर्व से मेरा मस्तक ऊँचा हो जाता है। परन्तु वृद्धावस्था में अपने क्षीण शक्ति के साथ भोज दो प्रतिष्ठित राज्यों की सम्मिलित सेनाओं का सामना अकेला न कर सका और जब वह पश्चिमी मोर्चे से पूर्वी मोर्चे की ओर जा रहा था, तब राह में ही युद्ध की थकान से भोज की मृत्यु हो गई।

राजा भोज ने भारतीय साहित्य और साहित्यिकों के संरक्षा क्षेत्र में अपना साकांक्ष लावा। उसके दरबार में नित्य अगणित मेवाबी काव्यकार आते रहे। उनको नित्य लालों की संख्या में स्पर्श सुनाएँ, हाथी, घोड़े, गाँव, भोज दान करता रहा। देश भर में उसकी क्वालि छा गई कि वह कभी किसी मंगते को विमुक्त नहीं करता और मुँह मांगा दान देता है। श्लोक के एक एक चरण पर, उसके शब्द शब्द पर उसने लक्ष लक्ष मुवर्षा दिए थे। और जब अब इन इतने संबंध में उसको अपने समकालीन अप्रतिम विजेता महमूद गजनवी से तुलना करते हैं तब गर्व से हमारा ललाट चमक उठता है। एक फिरदौसी को अपने दिए वचनों के अनुसार भारत के लूटे, अछूते अनन्त धन के बावजूद भी वह समुष्टि न कर सका। फिरदौसी के सामने नगण्य कितने ही संस्कृत कवियों ने उसकी आशा से दुगुनी सन्मति भोज से पाई। फारा फिरदौसी भोज का कवि होता।

परन्तु इस विवेकहीन साहित्यिक औदार्य और अनवरत युद्धों पर लर्च का परिणाम बड़ी हुआ जो होना था और शीघ्र भोज के मरते,

ही कोप तो रिक़ हो ही चुका था, मालवा की रही सही शक्ति भी लुप्त हो गई। यद्यपि चालुक्य राज ने परमार नृपति को फिर से मेरी गद्दी पर बिठा दिया, मेरी शक्ति दिन पर दिन क्षीण होती गई और मैं आस-पास के उठते हुए राजकुलों की महत्वाकांक्षा का शिकार हो गई फिर मेरे ऊपर छोना भरती शुरू हुई। फिर मैं शक्तिमान का लोट लोट दामन पकड़ने लगी। धीरे धीरे हिन्दू सत्ता भी ज़ूथ हो गई और चौदहवीं सदी के शुरू में जब अलाउद्दीन के सेनापति मलिक काफ़ूर ने मालवा को रौंदा और मुझे लूट लिया तब मेरी प्राचीनों से हिन्दू सत्ता सदा के लिए उठ गई।

परमारों के मेरे नगर में प्रतिष्ठित होने के पूर्व ही मेरी शक्ति राज-नीतिक रूप से बंधने लगी थी। कुछ तो मण्डपिका (माण्डू) ने ले ली थी, कुछ भोज के समय में धारा ने ले ली। फिर भी मेरी प्राचीनता और अतीत का गौरव जनता की दृष्टि में इतना ऊँचा था कि वस्तुतः मेरी शक्ति कभी टूटी नहीं। यह सही है कि मुसलमानों के समय मालवा की राजधानी मेरे आँगन से उठकर माण्डू चली गई और मालवा पर नवाबों का अधिकार हो गया, परन्तु मेरा राजनीति के क्षेत्र में फिर भी मालवा में प्रभाव बना ही रहा। नवाबों के कुल एक के बाद दूसरे आए और उन्होंने मालवा को शक्तिमान बनाया। मैंने उसे देखा और यद्यपि मैं स्वयं उनकी राजधानी न थी पर अपने देश का उत्कर्ष मुझे निश्चय अच्छा लगा और निःसन्देह नवाबों के बाहर अपना दूसरा घर भी न बनाया। उनकी नीति भी निश्चय प्रजाशोपक नीति थी। अपने ऐश और विलास में वे भी प्रजा की गाँदी कमाई स्वाहा करते थे परन्तु भोज का औशर्य अनुभव कर लेने के बाद मुझे नवाबों के इस आचरण से विशेष चोभ न हुआ।

मालवा की गुजरात और मेवाड़ के स्वामियों से अक्सर मुठभेड़ हो

जाया करती थी। मेरे सुल्तान भी कुछ कम महत्वाकांक्षी न थे, और यदि गुजरात के सुल्तान ने उनके कुछ प्रान्त छीने तो मेरे सुल्तानों ने भी गुजरात की राजनीति पर काफी प्रभाव डाला। हाँ गुजरात और मालवा को सम्मिलित सेना का जब मेवाड़ के राणा कुम्भ से मार खानी पड़ी तब निश्चय दोनों के मुँह कालिल पुत गई थी। राणा ने चित्तौड़ में इस विजय के उपलक्ष्य कीर्ति स्तम्भ सजा किया। धीरे-धीरे मालवा की शक्ति फिर प्रचण्ड हुई और मेदिनीराय के मन्त्रित्व में उसका आकार-प्रकार भी बढ़ा। बाबर के भारत में आने के पहले सांगा ने मालवा को भी विहोत कर दिया। परन्तु शक्ति मेवाड़ के हाथ आकर भी निकल गई। दो दो बार दिल्ली के सुल्तान इब्राहीम लोदी को हरा कर भी दिल्ली के तख्त पर राणा ने अधिकार क्यों न किया, यह अबूझ पहेली है। विशेषकर जब हम यह देखते हैं कि जमुना से गुजरात तक और मालवा से मारवाड़ तक की भूमि उसके सामने खिड़ मुक़ाती थी। जतहपुर सीकरी की हार ने राणा का सर्वनाश कर दिया और मैं भी बाबर की सल्तनत का सूत्रा बनी। हुमायूँ के समय मैंने निश्चय फिर स्वतंत्र होने की कोशिश की और जब शेरशाह ने उसे निकाल बाहर किया तब मैं एक बार फिर स्वतंत्रता का स्वप्न देखने लगी पर स्वयं शेरशाह ने मुझे अपनी पकड़ से बाहर न जाने दिया। यद्यपि उस सुल्तान का शक्तिमान और मेवाड़ी शासन मुझे सर्वथा प्रतिकूल न जान पड़ा। शेरशाह के मरते ही माण्डू का अकगान राजकुल फिर प्रचल हो गया।

दिल्ली सल्तनत पर तैमूरिया खानदान के सबसे बड़े सुल्तान अकबर का जब कच्चा हुआ तब पानीपत के मैदान में फिर एक बार हिन्दुस्तान की किस्मत का फैसला हुआ। अकगानों की सम्मिलित सेना का हेमचन्द्र (हिमू) नई तटवीजों और उम्मीदों के साथ मैदान में उतरा था और कुछ अवसर न था कि उसकी जीत से भारत की राजनीति बदल जाती। परन्तु

नतीजा कुछ और हुआ और अकबर जम कर दिल्ली के तख्त पर बैठा। तब उसके दो प्रबल प्रतिद्वन्द्वी देश मैं थे, एक उसके दादा के दुरमन राणा सांगा का पोता प्रताप मेवाड़ में, दूसरा बाजबहादुर मालवा में। बाजबहादुर माण्डू का नयाब था और उसका उत्कर्ष मैं अभिरुचि से देखती थी। मालवा जीतने के लिए जब अकबर ने धाय भाई को भेजा तब बाजबहादुर बड़ी धोखा से लड़ा और जब शाही फौज के सामने उसकी मुट्ठी भर सेना न उठर सकी तब वह राजगढ़ से बढ़कर आजादी का सनभ मालवा छोड़ मेवाड़ चला गया जहाँ समान धर्मा प्रताप अकबर से लोहा ले रहा था। तब मैंने देखा बाजबहादुर की प्रियली हिन्दू वीरगना कवयित्री रूपमती का वह साहस जिसने माहम अन्नगा के बेटे को विवर्ण कर दिया। अकबर का सेनापति जब उसके रूप पर मुग्ध हो माण्डू को नष्ट न करने के बदले उसे मांगा तब उसने उसका प्रस्ताव स्वीकार करते हुए अपने महलों में आमन्त्रित किया। परन्तु जब सेनापति ने उसके कमरे में प्रवेश किया, तब उसे सुन्दर कपड़े और गहने पहने मरी पड़ी पाया। वह चकित रह गया। उसकी माँ माहमअन्नगा जानती थी कि अकबर इस अनौचित्य को सह न सकेगा और इसलिए कि माण्डू के अन्तःपुर की कोई नारी उसके पुत्र का वह दुष्चरण अकबर तक न पहुँचा दे, उसने मालवा के उस हरम में आग लगा दी। मुझे माण्डू के जलते महलों की लपटें आज भी याद हैं, आज भी उनमें जलती रानियों और उनकी बांदियों की चीख सुन पड़ती है।

उसके बाद का मेरा इतिहास फिर ऊषद-सागड़ और असम है। मेरी स्थिति निरन्तर बिगड़ती गई और मैं तैमूर की सल्तनत में समा गई पर मेरे ही मैदान में उसके सुल्तानों और दक्कन की रियासतों की घोटें भी मैंने देखीं, फिर भराठों की मैंने खुद सही और जब धीरे-धीरे मेरी हस्ती मिट गई तब भी जीवित मैं क्षिप्रा के जल की भाँति चली जा रही हूँ और मेरा अतीत मूर्तमान हो मेरे सामने जब तब उठ आता है।



कौशाम्बी

नगर दूसरे भी है, रहे हैं, भारत में भी, शहर भी जिनका इतिहास गौरव और शक्ति का है परन्तु जैसा रोमांचक इतिहास मेरा है वैसा किसी और का नहीं। प्रयाग से प्रायः ३८ मील पश्चिम यमुना तट पर मीलों कोस के आस पास जो भग्नावशेष आकाश की ओर आँख किये नित्य उमड़ते और किलोन होते अपनी कीर्ति कथा देल रहे हैं, वे नेरे हैं। मीलों तक फैले हुये धीरे भग्न परकोटे उस भू प्रसार का परियेष्टन करते हैं जहाँ नीति, साहित्य और दर्शन ने साक्षात् निवास किया था। मेरी मिट्टी में आज भी उन नरनारियों की काया जुली मिलती है भारतीय साहित्य ने जिनका नामोल्लेख गर्व और रोमांच के साथ किया है।

मैं कौशाम्बी हूँ, उदयन की कौशाम्बी, कौशाम्य की बसाई पर वस्तुतः उदयन की ही। उदयन का नाम भारतीय रोमांचक साहित्य में व्यापक और अमर है और उसके साथ ही उसकी और वरुण की प्यारी

मुक्तकौशाम्बी का नाम भी अमिट है। माना यमुना का जल-प्रवाह उसी प्रकार आज भी प्राचीन गति से मेरा स्पर्श करता रहता जा रहा है, माना कि अब मैं उस प्रकार जीवित नहीं कि यमुना के उस प्रवाह के साथ पूर्व के देशों को अपने सन्देश भेज सकूँ, पर निश्चय मेरी मिट्टी में जो विभूतियाँ साँई हैं उनका स्पर्श कर यमुना स्वयं पवित्र होती है और मेरी पावन रज राह के नगरों को पवित्र करने के लिये बहाले जाती है।

मैं प्राचीना हूँ, मिश्रिज को भीति प्राचीन। शतपथ और गोपद ब्राह्मण ने मेरा यश गाया है और एतरेय ने मेरे उस जन वस्ती का जिनहाने दूर पूर्व में मेरी नौब डाली। काशी का प्रवर्द्धन राजन्य ही नहीं श्रुति भी था। भर्ग और वत्स उनके दो पुत्र हुये। भर्गों ने मेरे उत्तर-वर्ती पड़ोसी प्रदेश में अपने गणतन्त्र का विस्तार किया परन्तु वत्स ने मुझे अपनी राजनीतिक क्रियाशीलता का केन्द्र बनाया, मुक्तकौशाम्बी को। मुझे भर्गों का जनसत्ताक शासन न भाया और मैं अपने राजसत्ताक प्रभुओं की प्रिया बनी।

मेरी स्थिति यमुना के तट पर ऐसी थी जो पूर्व पश्चिम, उत्तर-दक्षिण का केन्द्र था। उत्तर तक्षशिला की ओर से, दक्षिण उज्जयिनी और शूरपारक जाने वाला वलिक पथ और मगध से हस्तिनापुर का राजमार्ग मेरी ही नगरी में एक दूसरे को काटते थे। एक ओर वैशाली, राजगिरि, पाटलिपुत्र, काशी और प्रयाग, और दूसरी ओर हरद्वार, मथुरा, कान्यकुब्ज, अहिछत्र और काशिरथ का वाणिज्य मेरे नगर में बस पड़ने को उत्सुक रहता था। भावस्ती, कपिलवस्तु, साकेत आदि के मार्ग भी मेरे ही आधार से फूटते थे। फिर जलमार्ग से पंचनद और अन्तर्वेद से जाने वाला सारा वाणिज्य मेरी ही राह सहजाति और वहाँ से समुद्र के रास्ते बर्मा और चीन की ओर जाता था। उत्तर से दक्षिण और दक्षिण से उत्तर जाने वाली सेनाएँ मेरे ही राजमार्ग से होकर

निकलती थीं। मेरे ही केन्द्र से अवंती ने शूरसेन को और मगध ने अवंती को अपनी राजधानी का अंग बना रखा।

मैं पहले कह चुकी हूँ कि बत्सों ने मेरी बुनियाद डाली और एक लम्बे काल तक लगातार उनके उत्कर्ष का इतिहास मेरी नगरी में लिखा जाने लगा। परन्तु मेरा विशेष उत्कर्ष महाभारत युद्ध के बाद हुआ। जनमेजय के शासन काल के बाद हस्तिनापुर पर ईतिषा बरसती गई और एक दिन गंगा की बाढ़ ने उस प्राचीन नगर को सर्वथा आप्लावित कर डाला तब निचक्षु ने हस्तिनापुर छोड़ मेरी शरण ली। पौरव कुशुओं के राजवंश की यह शाला जब मेरी नगरी में आई तब भी मैं काफी प्राचीन थी और मेरा नये रूप से शृंगार आवश्यक था। निचक्षु के भरतकुल ने निश्चय मेरा अंग मण्डन किया और मुझमें नई शक्ति प्रतिष्ठित की। पंचाल का जनपद मेरे ही पीछे था और पंचाल अनेक प्रकार से जाग्रत और सचेत था। परन्तु कुरु कुल की इस वरुणी शाला ने जो मुझे नई शक्ति प्रदान की उससे मैंने अहिंसा और काम्पित्य के प्रताप को सर्वथा प्रसन्न लिया।

निचक्षु से प्रायः बीस पीढ़ों बाद सहस्रान्तिक और शतान्तिक परंतप हुये। उन्हीं दिनों भर्गों का जनपद मेरी बढ़ती हुई पूर्वी सीमाओं में खो गया। भर्गों का प्रसार अपने गणतन्त्र की सीमाओं को 'मिर्जापुर' से काफी पूर्व खींच ले गया था। शमशुमारगिरि जहाँ आज खुनार का किला है उनकी राजधानी थी। मैं पहले कह चुकी हूँ कि उनका गणतन्त्र मुझे प्रिय न था और लोकवादिता के उनके नारे मेरे राजसत्ताक सिद्धान्तों पर चोट करते थे। मैं जानती थी उनका परिहास मैं सह न सकूँगी और पड़ोसी पर आक्रमण का दोष मुझे शिरोधार्य करना होगा। खो करना ही पड़ा। वास्तव में प्रसर की नीति पड़ोसी को विनाश से ही आरम्भ होती है और प्रसर की नीति राजसत्ताक शासन ही अपना

सकता है। राज्यों का प्रसार दूसरों के विलोपन से होता है। अराजक शासन का दूसरों की सन्भावना से आखिर एक दिन मुझे भगों के विरुद्ध अभियान करना ही पड़ा। उनका क्रयक जनपद मेरी शिक्षित और शस्त्र विनीत सेनाओं का सामना न कर सका और मैं विजयी हुई। भगों की राजधानी शमशुमारगिरि मेरे प्रान्तीय शासक की राजधानी हुई। शतानीक परंतप, उदयन का पिता था।

उदयन का जन्म उसी दिन हुआ जिस दिन गौतम बुद्ध का, उसी ईसा पूर्व की छठी शती में। वसन्त का समागम था। दिशाएँ हँस रही थीं, तब फल्लवित और लताएँ फूलों से सज रही थीं, जब द्धितित्र से उठते हुए बाल रवि के साथ ही उदयन का जन्म हुआ। उसका नाम सूर्योदय से ही सार्यक हुआ ! उसी उदयन के नाम के साथ मेरा नित्य संबंध है और यद्यपि अनेक राजा उसके पहले मेरे स्वामी हुए थे, अनेक उसके बाद मेरे स्वामी हुए। परन्तु राजवन्ती मैं उदयन से ही हुई। मेरा यद विश्वास है कि जितना गौरव मुझे राजाओं की उदयनपूर्व परम्परा ने दिया उससे कहीं अधिक गौरव मुझे एकमात्र उदयन के सम्पर्क से मिला। उदयन का इतिहास मेरा इतिहास है, मेरा इतिहास उदयन का। यदि मुझे अपने तारे जीवन की अवधि उदयन के सम्पर्क की एक घड़ी से बदल लेनी हो तो मैं बड़ी प्रसन्नता से बदल लूँगी।

उदयन और मेरी कथा से भारतीय साहित्य भरा पड़ा है। यद्यपि उज्जयिनी ने एक बार मुझ पर अधिकार कर लिया था, परन्तु मेरे स्वामी का प्रभाव कुछ इतना गहरा था कि उज्जयिनी के विरुद्ध उसी की कथा कहते थे। कालिदास ने अपने मेघदूत में, हर्ष ने अपनी प्रियदर्शिका में, मुद्गन्धु ने अपनी वासवदत्ता में, और अनेक कवि, नाटककारों ने अपनी कृतियों में उदयन और मेरा यशगान किया। कालिदास के पूर्ववर्ती भास ने अपने अनेक नाटकों में मेरा रोमांचक इतिहास बार-बार पढ़ा।

स्वप्न वासवदत्ता, प्रतिभायोगन्धरायण, प्रतिभा नाटक सब में मेरी कथा अनुप्राणित हुई। एक ही नाटककार अपनी अनेक कृतियों के वस्तु तन्तु में मेरी कथा ही बुनता है। इसमें कुछ ग्रास राज है।

परन्तु यह साहित्य का जाल है। इसकी बात यहीं छोड़ कर मैं अपनी गति की कथा कहूँगी। उस काल की मेरी और मध्यभारत की स्थिति समझने के लिए पहले मेरे पड़ोस की राजनीतिक स्थिति समझ लेना नितान्त आवश्यक होगा। बुद्ध पूर्व का भारत प्रधानतः जनपदों का भारत था। सोलह महाजनपद जिनमें राज्य और गणतन्त्र दोनों शामिल थे देश में एक सिरे से दूसरे सिरे तक फैले हुए थे। उनमें से गन्धार और कम्बोजों के जनपद दूर पश्चिम में थे और अंगो, मागधों के दूर पूर्व में। मैं भी उन्हीं सोलह जनपदों में से एक थी। कुरुपंचाल मेरे पश्चिमी पड़ोसी थे और कोशल, काशी, पूर्वी। धीरे-धीरे राज्यों ने जो अपनी प्रसर की नीति अपनाई तो छोटे-मोटे राज्य और गणतन्त्र उनकी चोट के सामने ठहर न सके। भगों का अस्तित्व मैंने मिटा दिया, कोशल ने काशी का।

कालान्तर में, प्रायः सौ वर्ष बाद, बुद्ध के जीवन काल में गणतन्त्रों के अतिरिक्त चार पड़ोसी राज्य विशेष प्रतिष्ठित हुए—मगध का हर्षक शैबुनाग राजकुल राजगृह में, कोशल का राजकुल भावस्ती में, अवंती का उज्जयिनी में और भरती का मेरी नगरी कोशाम्बी में। इन चारों का परस्पर संघर्ष विशेषकर उन प्रसर के दिनों में स्वभाविक था। पहले तो जब तक इन राज्यों के पड़ोस में गणतन्त्र कायम थे तब तक ये विशेषरूप से एक दूसरे के विरुद्ध न बढ़े। परन्तु जब उनको बारी-बारी से इन्होंने हड़प लिया तब इनकी अपनी प्राचीन परस्पर टकरा गई। इनका एक दूसरे के विरुद्ध युद्ध में उतर पड़ना अनिवार्य था। कभी-कभी जब एक राजकुल किसी गणतन्त्र को अपना सभ्य और पुरस्कार समझता

था उसे दूसरे के स्वायत्त कर लेने पर वह उस विजेता राजकुल में उलझ पड़ता। इसी राजनीतिक परिस्थिति में मैं भी औरों के साथ संघर्ष के लिए कटिबद्ध हुई। मेरी सीमायें तब प्रायः तीनों राजकुलों से मिलती थीं। काशी जो पहले ब्रह्मदत्त राजकुल की राजधानी थी और जिसे कोशल के प्रसेनजित के पिता महाकोशल ने हड़प लिया था, मेरी पूर्वी पड़ोसी थी। परन्तु यद्यपि इस पर कानूनी अधिकार कोशल का था प्रसेनजित ने मगध के बिम्बिसार के साथ अपनी बहिन कोशलदेवी के विवाह के अवसर पर उसे भगिनी के बौलुक में बहनोई का दे डाला था और कर के प्रहण में काशी मगध के अधीन हो गई थी। इस प्रकार वह नगरी मगध और कोशल दोनों के प्रभाव में थी और इसी कारण दोनों राज्य मेरे पड़ोसी भी थे। काशी के रूर में दोनों की सीमायें मेरी पूर्वी सीमा से मिलती थीं। उधर उत्तर में भी स्वतन्त्र रूप से मेरी और कोशल की सीमायें समान थीं। काशी के बिल्कुल पास गंगा पार दक्षिण में शमशुमारगिरि पर जो मेरे पूर्वी प्रान्तीय शासक की राजधानी थी उससे मगध मेरी ओर बहुत स्नेह से कभी न देख पाता था और उसने भी, जब उदयन ने खरने पुत्र बोधी को शासक बना कर शमशुमारगिरि भेजा तब काशी में अपना प्रान्तीय शासक नियुक्त किया जिसका कर प्रहण के अतिरिक्त दूसरा कार्य मेरी गति-विधि पर दृष्टि रखनी थी। हम दोनों एक दूसरे पर अदेरी की चुस्ती से नजर डाले बैठे रहे।

पहले मैं उदयन की रानियों का जिक्र करूँगी जो मेरे और उदयन के इतिहास के लिए आसाधारण कामग्री प्रस्तुत करती है। उदयन का जीवन नितान्त विलासी था इसमें सन्देह नहीं। उसकी विलासिता भारतीय साहित्य में निष्क्रिय विलासी जीवन का प्रतीक बन गई है। यद्यपि उदयन का जीवन विलास के अतिरिक्त सर्वथा अकर्मठ न था परन्तु उसके जीवन का वह अवलंब अवश्य था। जिस प्रकार प्राचीन काल में

दुःखन्त विलासिता का प्रतीक हो गया है, जिस प्रकार उसके विलासाधिक्य से प्रजा की बहु-बेटियों का जीवन खतरे में पड़ गया था उसी प्रकार उदयन का जीवन भी जब तब प्रजा के त्रास का कारण हो जाता था। परन्तु उसकी बात फिर कहूँगी। अभी केवल उसके अनेक विवाहों की ओर निर्देश करना समीचीन होगा।

उदयन ने अनेक और विवाह किए थे। उसके विवाहों का कम निमित्त करना तो कठिन है परन्तु यथासाध्य उसका विवरण दे रही हूँ। उसके विवाह ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य तीनों वर्णों में हुए थे। इस प्रकार के विवाह उस काल अज्ञान नहीं माने जाते थे और इस तरह के असंख्य विवाहों की संतति भी सदा औरत ही मानी जाती थी। स्वयं विविशार ने अपना एक विवाह ब्राह्मण कन्या से किया था। उदयन ने भी एक विवाह ब्राह्मण कन्या ही से किया। वह माकन्दिका थी, कुरुक्षेत्र के एक ब्राह्मण की असामान्य सुन्दरी कन्या। अनेक राजन्स्य और धनी श्रेष्ठिकुमार उसके कर के लिए लालायित थे। परन्तु इस ब्राह्मण के विचार में उनमें से कोई इस योग्य न था कि उसकी कन्या माकन्दिका को घर सके। कहते हैं एक बार बुढ़ जब उधर से लौट रहे थे ब्राह्मण उनसे मिला और उसने कन्या के सौन्दर्य का बखान कर तपागत से उसे स्वीकार करने की प्रार्थना की। तपागत ने तत्काल सौन्दर्य की अनित्यता पर एक प्रवचन दे ब्राह्मण को विदा कर दिया। तब तक उदयन की सौन्दर्योपासना देशव्यापी हो चुकी थी और ब्राह्मण ने अपनी कन्या को उसके समझ ला खड़ा किया। उदयन उसका रूप देख चकित रह गया और तत्काल उठने उसका पाणिग्रहण किया। पाँच सौ नर्त-कियाँ उसकी सेवा में उसने नियुक्त कीं और कुछ काल उसके साथ उसने विलास में बिताया। मेरे भगवद्भक्त का पश्चिमी द्वार माकन्दिका के उस उपवन की राह सोलता था जहाँ उदयन ने राजकार्य मंत्रीवर

योगन्धरायण पर छोड़ काम सेवन किया था। माकन्दिका ब्राह्मण धर्म के प्रति अपनी भीरुता और बौद्धधर्म के विरुद्ध अपनी दुरभिसन्धियों के लिए विख्यात है। उदयन की सद्धर्म के प्रति उदासीनता और वैमनस्य का एक कारण उसको उत्कट विलापिता के अतिरिक्त माकन्दिका का यह ब्राह्मण दृष्टिकोण भी था।

उदयन की दूसरी पत्नी श्यामावती कौशाम्बी की ही थी। वस्तुतः रहने वाली तो वह अन्त्यश्रम की थी, धनाढ्य सेठ की कन्या। परन्तु देश में अकाल पड़ने के कारण वह मेरे नगर में आ गई थी। मेरे नगर में तीन प्रमुख सेठ थे, घोषित, कुम्भकुट्ट, और.....। घोषित ने उसे असहाय पाकर अपनी कन्या बना ली थी। एक दिन प्रातःकाल वातायन से बाहर देखते उदयन की दृष्टि उस अप्रतिम रूप पर पड़ी तब वह मुग्ध रह गया। अपने चेहरे-बिड़ों को उसने उसका पता लगाने के लिए भेजा। घोषित ने जब कन्या के प्रति राजा का प्रसाद सुना तब स्वयं तब प्रकार से मण्डित कर उसे लेकर राजप्रसाद में पहुँचा। उदयन ने श्यामावती को पत्नी बना लिया। श्यामावती बौद्धधर्म के प्रति उसनी ही आकृष्ट थी, माकन्दिका जितनी उससे विरक्त। उसने बराबर बुद्ध और उनके शिष्य पिंडाल भरद्वाज के उपदेश सुने और उदयन तथा उसका पुत्र बोधिकुमार जो सद्धर्म की ओर आकृष्ट हुए, वह इसी श्यामावती का फल था।

उदयन ने दो और विवाह किए, दोनों क्षत्रिय कुल में, एक मगध अजातशत्रु की कन्या और दर्शक की भगिनी पद्मावती से, दूसरा अजन्ती के चण्डप्रद्योत महासेन की कन्या वासवदत्ता से। पद्मावती के साथ उसका विवाह सम्भवतः राजनीतिक लाभ की आशा से हुआ। अजन्ती की महत्वाकांक्षिणी प्रवृत्ति सदा से मेरी शंका का कारण रही है और उदयन ने यह मुनासिब समझा कि चण्डप्रद्योत के विरुद्ध वह उस

अज्ञातशत्रु से वैवाहिक सम्बन्ध स्थापित कर ले जो स्वयं प्रद्योत का शत्रु था और जो उसके प्रसर से स्वयं शक्ति रहता था। अज्ञातशत्रु विभिन्न-सार का पुत्र था। विभिन्नसार और बुद्ध दोनों प्रायः उदयन की ही आयु के थे। बुद्ध और उदयन तो एक ही दिन उत्पन्न हुए थे और बुद्ध अज्ञातशत्रु के शासन काल के आठवें वर्ष मरे जिससे प्रकट है कि उदयन और अज्ञातशत्रु की आयु में भी काफी अन्तर था। मगधराज की कन्या पद्मावती तो आयु में उदयन से अत्यन्त छोटी हुई। परन्तु राजनीतिक विवादों में जिस बात पर सबसे कम ध्यान दिया जाता था, वह थी आयु। उदयन को आयु के इस वैषम्य पर कोई आपत्ति न हुई और उसने चालिका के साथ अपना विवाह कर लिया। वैसे भी आश्रुत्य विलासी जीवन बिताने वाले उदयन में आयु का विशेष प्रश्न न था; जिसने भ्रमर की भाँति निरन्तर रस-शोषण ही अपने जीवन का इतिवृत्त माना हो उसे आयु का बन्धन कहाँ तक अवरोध कर सकता है।

उदयन का चौथा विवाह जैसा पहले कह चुकी हूँ उज्जयिनी की वासवदत्ता से हुआ और सम्भवतः युवावस्था में ही। वासवदत्ता के साथ उसका विवाह अत्यन्त रोमांचक ढंग से हुआ। उसकी अनन्त अनन्त कथाएँ बहुत काल पीछे तक भारत के गाँवों में कही जाती रहीं, उसके साहित्य में लिखी जाती रहीं। मेरे इतिहास का उस घटना से गहरा संबंध है क्योंकि एक बार मेरी नगरी उसी कारण प्रद्योतों का शिकार बन गई थी।

उदयन में विलास के अतिरिक्त दो कमजोरियाँ और थी—एक बीष्णावादन, दूसरी गजग्रहण। बीष्णावादन विलास का ही एक उद्दीपक अंग है। उसका उदयन का गुणतालिका में होना स्वाभाविक ही है परन्तु शायियों का पकड़ना भी उसका एक व्यसन हो गया था। और शायी पकड़ता भी वह बीष्णा बजा कर ही था। जब उसके वादन से

गज प्रमत्त और विवश हो जाता तब बह पकड़ लिया जाता। जिस वीणा को उदयन हाथी पकड़ने के काम में लाता उसका नाम हस्ति-कान्त था और जिसे वह अरना मन बहलाता, अपने विलास का उद्दीप्त करता उसका नाम घोषवती या घोषा था। हाथियों को पकड़ने वाली उसकी कमजोरी की ख्याति देश भर में थी और उज्जयिनी के नृपति को भी उसका शान था। अण्डप्रद्योत महासेन असामान्य शक्ति का नरेश था। उसके नाम से ही उसकी सेना की महाकामता और उसकी प्रकृति की नभंकरता सिद्ध है। परन्तु उदयन के शौर्य पर उन दोनों में से कोई जब विजय न पा सके तब प्रद्योत ने एक नई युक्ति सोची, उदयन की पहली कमजोरी से लाभ उठाने की। उसने बल्ल और अश्वन्ती की सीमा के घने घन में एक काला विशाल हाथी लकड़ी का बना कर छोड़ दिया। उसका संचालन यन्त्र से होता था और उसमें साठ सैनिक छिप सकते थे। उल्लेख घन में भेज दोनो ओर के जंगलों में अपने सैनिक छिपा प्रद्योत ने चर द्वारा उदयन को कहला भेजा कि यल्ल के महाकान्तार में एक विशाल वृक्ष पुसा है। राजा अपने आद्यविक अनुचरों के साथ हस्तिकान्त ले जा पुसा। कुछ काल बाद अनुचर तो पीछे छूट गए परन्तु उदयन घने वन में घुसता गया। अन्त में धुंधले प्रकाश में उसने पेड़ों के नीचे वृक्ष की सँड़ से गुंजलक भरते खड़े देखा। हस्तिकान्त के तारों पर उसकी उँगलियाँ स्वाभाविक जा पड़ी और उनसे निस्तृत स्वर वातावरण को मत्त करने लगा। उस स्वर को गज ने भी सुना और उसके पग एक ही स्थल पर बार बार गिर अपनी मादकता को सूचित करने लगे। परन्तु उदयन ने न जाना कि कृत्रिम हस्ति उसका शत्रु होकर आया है, बचक बैरी है और शीघ्र उसके आगे बढ़ते ही उसने अपना उदर खोल दिया। प्रद्योत के सैनिकों ने उदयन को बाँध लिया। उदयन उज्जयिनी का बन्दी हो गया और कुछ काल

तक प्रद्योत की कारा में बन्द रहा। उसका मन्त्री योगन्धरायण उसकी रायियों से प्रण कर चुका था कि शीघ्र वह उदयन को कारा से मुक्त कर वत्स को लौटा लाएगा। परित्राजक के मेध में मन्त्री प्रवर ने प्रद्योत के हृदय में श्रवण के लिए भद्रा उत्पन्न की और कन्या को वीणावादन में प्रवीण तथा गजग्रहण के मन्त्र में दीक्षित करने के लिए उदयन को वासवदत्ता का गुरु बनाना उसने प्रद्योत से स्वीकार करा लिया। परन्तु प्रद्योत शंकित था। उसे पहले यह व्यापार न भाया फिर भी उसने सोचा हाथियों के पकड़ने का मन्त्र मिल जाने पर सम्भवतः वह अपनी गजसेना को संख्या बढ़ा सके और उस वत्स का पराभव कर सके जिसकी सेना में हाथियों की संख्या विशेष थी।

उदयन को वासवदत्ता के शिक्षण के लिए उसने निशुक्त तो कर लिया परन्तु दोनों को एक दूसरे से अनभिज्ञ रखने की उसने एक तद्वीर की। शिक्षण पदों के पीछे से होता था। एक ओर उदयन बैठा दूसरी ओर वासवदत्ता। परन्तु उदयन से कहा गया कि पदों के पीछे कुरुपादाती बैठी है और वासवदत्ता को बताया गया कि उसका शिक्षक वामन है। परन्तु जब वीणा का नाद धीरे-धीरे उठ कोष्ठ से उठ कर दिगन्त में व्याप्त होने लगता, तब वासवदत्ता के मन में प्रबल शंका आ उपस्थित होती। उसे देखने की इच्छा उसके मन में प्रबल हो उठती। परन्तु वह भिता की आज्ञा से लाचार थी। चुप हो बैठी। एक दिन जब कुछ अन्यमनस्क होने के कारण वासवदत्ता ने पाठ में गलती की तब उसे उदयन ने कुपाच्य कहकर भिक्कारा। उस कुपाच्य में उसकी कुरुपता का संकेत था। क्षुब्ध होकर उत्तर में वासवदत्ता ने भी उदयन को घीना कहा। फिर एकाएक दोनों ने जां पदां हटाया, एक दूसरे को देख चकित रह गए। फिर एक रात जब प्रद्योत उज्जयिनी के बाह्य उपवन में विनोद के लिए गया हुआ था, तब योगन्धरायण की सहायता से एक

विशाल गज पर चढ़ उदयन और बासवदत्ता बस्त्र की ओर भाग चले। प्रद्योत ने जब यह सुना तो उन्हें पकड़ने के लिए सैनिक दौड़ाए तब गज पर पीछे बैठ उदयन के अनुचर ने स्वर्ण की नकुली खोल दी। सिकके भनभन कर नीचे गिरे, सैनिक उन्हें उठाने में ध्वस्त हुए और मेरा स्वामी उदयन अपनी हरी नव प्रिया को लिए मेरी प्राचीरों के पीछे आ पहुँचा। इस पलायन को मेरे कलाकारों ने मृत्तिका कलस पर मूर्त किया। तब से सदियों पीछे तक लगातार उस पलायन के चित्र मिट्टी और पत्थर पर मेरे नगर में बनते रहे, वह कथा निरन्तर साहित्य में कही जाती रही।

उदयन ने बासवदत्ता का राजधानी में पहुँच पाणिग्रहण किया और उससे उसे बोधी नाम का पुत्र उत्पन्न हुआ। यही बोधी बुद्ध का शिष्य था और यही मेरे नगर में सद्धर्म के प्रचार के लिए प्रयत्नशील हुआ। बासवदत्ता के साथ विवाद हो जाने पर चण्डप्रद्योत का रोष मेरे प्रति कुछ कम हो गया और उसने बजाय मेरी ओर अपनी शक्ति का प्रदर्शन करने के मगध की ओर किया। अजातशत्रु को अपनी राजधानी राजगृह की प्राचीरों दृढ़तर करानी पड़ी।

उदयन के ये चार विवाह तो शास्त्र सम्मत हुए परन्तु उसका अनौरस सम्बन्ध असंख्य नारियों से था। एक विवाह सम्भवतः और उसका हुआ था, परन्तु उसका रूप अर्धवैर होने के कारण वह विवाह नहीं समझा जाता। अंग के राजा की विग्नितार ने एक बार गद्दी छीन ली थी। अपने प्रभाव और शौर्य से उदयन ने उसे शीघ्र बचाव कर गद्दी लौटा दी। इसके बदले उसने उपकुल राजा की कन्या को दया था। परन्तु जैसा ऊपर कह चुकी हूँ, उदयन के अनौरस सम्बन्धों की संख्या गणनातीत थी। मेरे प्रासादों में विशेषकर बहिर्उपवनों में जब वह बिलात के लिए आता, और वह अक्सर नित्य आते थे, तब उसके

चतुर्दिक कामिनियों की बड़ी संख्या होती। कामिनियाँ उसके बच्चे से चिपटी रहतीं, उसकी कोशिनियों से लड़की रहतीं और वह व्यसन से दुर्मंद पुरुष नितान्त उन्मुख हो उठता। उसके परिवारिक, परिचारिकाँ, चेट-विट निरन्तर अभुक्त व्यसन की खोज में घूमते रहते, सौन्दर्य की अभिप्राप्ति उनके लाभ का कारण बनती, उदयन के उद्दीपन और व्यसन का प्रमाण। नागरिकों के 'शुद्धान्त' दूधित हो उठे। माण्डलिकों के 'अवरोध' सर्वथा अवाधन, पिताओं का उदयन भय बन गया, पतियों का शत्रु, पतिप्रताएँ और सतियाँ उसके स्मरण का कीट अपने हृदय का 'रक्षक' बनाती। इस प्रकार उदयन का कामरन्जन होता। क्या आश्चर्य कि उसकी अरोति से दुर्विनीति और व्यसन से वृत्तों की संयम परम्परा विनष्ट हो जाय !

उदयन के विज्ञात और बहुविवाह के कारण यत्न का जनपद स्वतरे में पड़ गया। उसकी शक्ति धीरे-धीरे क्षीय होने लगी। राजकार्य अधिकतर मन्त्री के हाथ में पड़े रहने के कारण दिन-दिन उदयन से दूर होते गए और वह अपनी प्रजा के प्रति उदासीन होता गया। राजनीति के क्षीय पड़ते ही पड़ोसी शत्रुओं ने खिर उठाया और यदि उदयन का कभी-कभी सचेत हो उठने वाला व्यक्तिगत पराक्रम रास्ते में न आ जाता तो मेरी क्या गति होती, मैं नहीं कह सकती। इतना मुझे स्पष्ट याद है कि अनेक बार उसकी बहुयलियों में पारस्परिक अनबन हो जाने के कारण उसके राजप्रासाद के अन्तःपुर विषन्न हो उठे थे। माकन्दिका और श्यामावती में तो वह रोष इतना बढ़ा कि माकन्दिका ने श्यामावती के प्रासाद में आग लगवा दी जिसमें वह अपने पाँच सौ नर्तकियों के साथ जल मरी। नर्तकियों की याद आते मुझे उदयन के उन अपरिमित अवरोधों की बात याद आती है, जिनमें सर्वत्र नारी राज्य हो गया था। विशिष्ट रानियों के अपने-अपने प्रासाद थे, अपनी-

अपनी नर्तकियाँ, अपनी-अपनी अनुचरियाँ। माकन्दिका, श्यामावती, पद्मावती और वात्सवदत्ता चारों की अनुचरियों के अतिरिक्त, पाँच-पाँच सौ नर्तकियाँ थीं जो अपने नृत्य से उनका मनोरंजन करतीं। अनेक बार इन नर्तकियों में से चुनी हुई उदयन का राग रंजन करतीं। इनके अतिरिक्त रानियाँ की अनेक तलियाँ, अनेक प्रसादिकाएँ और दासियाँ थीं। हजारों नारियाँ से भरा उदयन का यह अवरोध अन्तःपुरों के इतिहास में असाधारण था।

यह तो हुई उदयन के विजय की बात जिसमें उसने अपने पराये का अन्तर न डाला। प्रजा से अपहृत धन जिसे उसने पानी की तरह बहाया और जिस च्येय में सुरा और सुन्दरी की मात्रा में उसने कभी कोई सीमा न ली थी। परन्तु उदयन पुरुषार्थ से सर्वथा विहीन न था। नीतिमत्ता तो उसमें थी ही और उस नीतिमत्ता के फलस्वरूप ही उसने उस काल के शक्तिमान दो राजकुलों से अरुणा वैवाहिक संबंध स्थापित कर लिया था, परन्तु व्यक्तिगत पराक्रम को भी जैसा ऊपर कह चुकी हूँ, उसमें कमी न थी। अंग के राजा की सहायता तो उसने की ही थी, अनेक बार मलासेन प्रयात को चण्ड पौरुष भी उसके सामने समाहित हो जाता। इसके अतिरिक्त एक बार उसने कलिंग विजय करने के भी स्वप्न देखे थे और यद्यपि कलिंग की विजय वह न कर सका उस दिशा में उसके भय से एक बार आतंक जरूर छा गया था। बुद्ध के साथ उसका पहला सम्पर्क भी वस्तुतः उसके शौर्य प्रदर्शन से ही हुआ था। जब वह अभिनयान के लिए प्रसूत सेना का मैदान में निरीक्षण कर रहा था तभी तथागत त्रिचीवर पहने उधर से निकले। उनका दर्शन उदयन को अशुभ जान पड़ा। भ्रमण विरक्ति का प्रतीक है, बुद्ध प्रवृत्ति का और त्रिचीवर धारी भ्रमण का अभिनयान के अवसर पर दर्शन निश्चय उसे पराभव का सूचक जान पड़ा। उसने बाण छोड़ भी दिया जो अपना लक्ष्य चुक

गया परन्तु पलस्वरूप प्रवाहित तथागत के उपदेश कचन अपने लक्ष से न चूके। तथागत ने अकारण रक्तपात और दूसरों की आजादी छीनने के उपक्रम को अनुचित कहा और जिन शब्दों में उन्होंने अपना यह सान्त्विक उपदेश कहा, उनका उद्घोष आज भी मेरे कानों में गूँज रहा है।

बुद्ध के उपदेश से उदयन स्तम्भित तो तत्काल हो गया, परन्तु उसे सद्धर्म में दीक्षित यस्तुतः बुद्ध के शिष्य पिण्डोल भरद्वाज ने किया। पिण्डोल भरद्वाज मेरे ही नगर का ब्राह्मण नागरिक था। अनेक बार अन्य विद्यापीठों से आकृष्ट होकर मेरे नागरिक बाहर जाते थे। अति प्राचीन काल में इसी प्रकार प्रांति कौत्सविन्दि भी मेरे नगर से बाहर गया था और उसने ज्ञान जिज्ञासा में अपना नाम विख्यात किया। पिण्डोल भी उसीकी भाँति शानार्जन के लिए बल से बाहर गया था और राजगृह में तथागत के प्रवचन सुन संघ में दीक्षित हो गया था।

उदयन कामप्रिय होने के कारण स्वानाविक ही विरक्त और सद्धर्म का शत्रु था। अनेक बार उसने भ्रमणों को अकारण कष्ट पहुँचाया था। एक बार तो उसके क्रोध से भाग कर एक भ्रमण ने भावस्ती में शरण ली। पिण्डोल भरद्वाज को ही उसने कुछ कम बट्ट न दिया। एक बार वह उदयन में विलास करते समय जब वह सो गया और वास के कानन में प्रवचन करते पिण्डोल को सुनने जब उसकी पत्नी श्यामावती अपनी अनुचरियों के साथ चली गई थी, तब उसने उस महाभ्रमण के शरीर पर असंख्य माटे बाँध दिये थे। फिर भी धीरे-धीरे उदयन का आकर्षण बुद्ध के उपदेशों की ओर हुआ और उसने संघ की सेवा की।

संघ के प्रति अपनी उदारता और मेरी नगरी में सद्धर्म के प्रचार के लिए घोषित, कुक्कुट आदि तत्कालीन सेठ भी प्रसिद्ध हो गए हैं। उन्होंने अपने-अपने नाम पर संघ के ठहरने के लिए आवास बनवाए और उदयन लगवाए और उन्हें संघ की दान कर दिया। उदयन की

की मृत्यु के बाद शोषी ने भी देश में बौद्ध-धर्म का प्रचुर प्रचार किया। शमशुनारगिरि पर उसने कौकनद नाम का एक सुन्दर महल बनवाया था। उन्हे बुद्ध के चरणरज से पवित्र करने के लिए उसने संघ और तयागत को आमन्त्रित किया।

उदयन की कहानी निश्चय मेरे उत्कर्ष की कहानी है, परन्तु निःसन्देह मेरा इतिहास उस बोध्यावादक विलासी नृपति तक सीमित नहीं। इसमें सन्देह नहीं कि उदयन के बाद मेरी राजनीति पर्याप्त दुर्बल पड़ गई और प्रद्योतों ने मुझे तत्काल जीत भी लिया। दो-तीन राजाश्रों ने भरतकुल की मानमर्यादा किसी प्रकार मेरी नगरी में संचित रखी। परन्तु अचन्ती के पालक ने शीघ्र ध्वजून के उस यशस्वी भरतकुल का अन्त कर दिया जिसका निचधु ने मेरी धरा पर आरम्भ किया था। फिर भी यद्यपि शीघ्र मेरी स्वतन्त्रता नन्दों की साम्राज्य-सीमा में समा गई, उसका अस्तित्व बना रहा और हजार वर्ष तक मैं किसी न किसी रूप में साँस लेती रही।

महापद्मनन्द के सर्वसत्त्वान्तक नीति ने मेरी स्वतन्त्रता की स्थिति गिरा दी और चन्द्रगुप्त मौर्य ने जब नन्दों का अन्त किया तब मैं मौर्य साम्राज्य की भी बेरो बनी। परन्तु मेरी स्थिति अन्य नगरियों की भाँति फिर भी दयनीय न थी। मौर्यों के शासन का तब भी मैं एक केन्द्र थी और मेरे कौशाम्बी प्रान्त का शासन मेरी नगरी में ही स्थित एक महानाथ के हाथ में थी। अशोक ने बौद्ध धर्म का सेवक होकर संघ भेदकों के विरुद्ध जब अपना आदेश शासन के रूप में घोषित किया तब वह घोषणा स्तम्भ पर उत्कीर्ण हो मेरे ही प्राङ्गण में लकी हुई। पीछे जब मेरी स्थिति और भी ख़ाँवाडोल हो गई तब वह स्तम्भ प्रयाग की शोभा बढ़ाने लगा। ईस्वी पूर्व दूसरी शती में पुष्यमित्र शुंग ने जब ग्रीक मेनान्दर का पराभव कर संघों की वंचकता से खिन्न हो जलन्धर तक के बौद्ध विहार जला डाले तब उसकी लगाई लपटों में मेरे बिहार भी भस्म हुये थे।

शास्त्री के ग्रीक दिमित्रिय की पूर्वी सेना के अध्यक्ष उसके जामाता मेनान्द्र ने जब मगध में प्रवेश किया था, तब मेरे ही भग्न प्रासादों में यमुना के तट पर उसने डेरा डाला था और कुछ काल बाद मुझसे थोड़ी ही दूर पर पुण्यमित्र द्वारा यह पराभूत भी हुआ था। वह कहानी मुझे भली भाँति याद है। भली भाँति याद है और न केवल यह इसलिए कि विदेशी विजयवाहिनी ने देश में प्रवेश किया था, बल्कि इसलिए भी कि उसी के दस्तखत जो देशव्यापी उथल-पुथल हुई उससे मैं स्वतन्त्र हो गई।

शुंगों के बाद कण्व आए। कण्वों के बाद आन्ध्र-सातवाहन और तक्षक और कुषाण। शुंगों के पिछले राजा कमजोर हुए और पश्चिमी प्रान्तों पर उनकी पकड़ ढीली होते ही मैं स्वतन्त्र हो गई और मैंने अपनी नगरी के आधार से आस-पास की भूमि पर एक स्वतन्त्र राज्य की प्रतिष्ठा की। कण्व तो कमजोर थे ही, आन्ध्र-सातवाहन भी दक्षिण की राजनीति में विशेष फँसे रहने के कारण उत्तर के प्रांतों पर अधिक ध्यान न दे सके और मेरी आजादी बनी रही। शकों का खूनी नेता लोहितस्र अगलात जब मध्यदेश से पश्चिमी प्रान्तों को शौदता इस ओर से निकला तो मेरी भी वही गति हुई जो औरों की हुई—पार्थिव नष्ट हो गए, प्रान्त बिलर गए, वर्षाभिन धर्म नष्ट हो गया—परन्तु मैंने तब रक्षा 'वैतसीधृति' से की—वंत की नीति से जो आँधी आने पर सिर झुका लेता है और उसके निकल जाने पर पूर्ववत् उठ खड़ा होता है। इन दो सौ वर्षों में मेरा शासन मित्रकुल के स्वतन्त्र नृगतियों के हाथ में रहा जिन्होंने मेरी सीमाओं में अपने नाम के सिक्के चलवाए, अभिलेख शोधित किए, धान दान दिए। कनिष्क ने जब पाटलिपुत्र से अश्वघोष को सहसा भरपट लिया था तब उसको सेनाओं के समक्ष भी मैंने वही वैतसी नीति अपनाई। कुषाणों के कमजोर हाथों से बाकायकों और नागों ने राजदण्ड छोल लिया, उनकी चांटों से

विशेष कर नागों के भावों से कुवाणों की पूर्वी राजधानी मथुरा तक न बची। तब फिर मैं अपनी स्वतन्त्रता खो बैठी और मारी हुई गैद की तरह कभी बाकाइकों के हाथ से नागों के हाथ आती, कभी नागों के हाथ से कुवाणों के हाथ। अन्त में नागों ने पञ्चावती से उठ कर कान्तिपुर से मथुरा तक की पृथ्वी अपने हाथ में कर ली और अश्वमेधों के यजन के बाद अनेक बार काशी तट पर भागीरथी में 'अश्वभूय'-स्नान किए। काशी का दशस्वमेध घाट मेरे ही नाग स्वामियों की कीर्ति कथा को अमर करता है। नागों के सम्पर्क से भी मैं काशी पूली-गली और यद्यपि मैं उनकी एकमात्र राजधानी न हो सकी, निःसन्देह मेरी नगरी उनका एक विशिष्ट केन्द्र फिर भी बनी रही। एक एक अश्वमेध कर अनेक राजाओं ने अपने को धन्य माना और ऊँचे स्तम्भों पर अपनी प्रशस्ति खुदवाई है परन्तु मेरे स्वामियों ने खड्ग से जो अपनी कीर्ति कथा लिखी, वह शौर्य के क्षेत्र में प्रतीक बन गई। उन्होंने एक नहीं, दस-दस अश्वमेध किए।

परन्तु नागराजा भी अपनी शक्ति सर्वथा के लिए कायम न रख सके। कौन रख सका है! मगध में इस काल के कुछ ही पहले तीसरी सदी ईस्वी के आरम्भ में ही एक शक्ति उठ खली थी। वास्तव में उनका आरम्भ प्रयाग के गंगावती प्रदेश और साकेत से ही हुआ था, परन्तु मेरी सीमाएँ फिर भी अछूती रही थीं। चन्द्रगुप्त प्रथम ने लिच्छवियों के साथ जब अपना विवाह संबंध किया, तभी मुझे अपनी राजनीतिक स्वतंत्रता के संबंध में भय उपस्थित हो खला था और वह भय उचित ही था। चन्द्रगुप्त के बेटे समुद्रगुप्त ने साम्राज्य निर्माण पर कमर कसी। दिग्विजय और अश्वमेध किया, आर्यावर्त के राजाओं को उत्साह पैंका, गणराज्यों को नष्ट भ्रष्ट कर दिया, आरविक राज्यों को संव्रस्त कर दिया, दक्षिणपथ के राजाओं की लक्ष्मी छोन ली, अन्तों को कर, उपहार आदि देने को

मजबूर किया—मैं भी उसी के बढ़ते साम्राज्य में समा गई। आर्यावर्त के राजाओं को उलाड़ पैकने की समुद्रगुप्त ने शाय ली थी। मैं आर्यावर्त में उसकी पहली परिचामी पड़ोसिन थी।

परन्तु मिटते मिटते भी मैंने अपनी शक्ति का परिचय दिया। तब नाग राजाओं के कम से कम तीन स्वतंत्र राजकुल थे—अश्वत, नागसेन और गणपतिनाग। तीनों ने एक साथ उस आजादी के दुश्मन साम्राज्यलालुप समुद्रगुप्त को यमुना के किनारे मेरे ही प्राङ्गण में सम्मिलित शक्ति से राह रोकी। युद्ध जमकर हुआ। यमुना की धारा रक्त से लाल हो गई। भूमि लहू से सिक्त। अन्त में संध्या होते होते सूर्य के साथ ही नागों की शक्ति भी अस्त हो गई। परन्तु अपनी खांती आजादी की रक्षा में तीनों नृपति उस एक दिन के युद्ध में ही सेत आए। समुद्रगुप्त ने अपनी प्रशस्ति में बड़े गर्व से लिखवाया कि तीनों नाग राजाओं का उसने एक ही दिन के युद्ध में वध किया। निश्चय यह तस्वीर में शेर पर चढ़े आदमी की बात थी। काश मैं उस युद्ध का रक्तरंजित इतिहास अपने दरबारी-अनुचर कवि से लिखवा सकती ! और मैं लिखवाती कि स्वतंत्रता की रक्षा में नागराजों ने प्राण तक का मूल्य अधिक न समझा और वे बलि हो गए।

और समुद्रगुप्त की यह रक्तरंजित प्रशस्ति अशोक के इस चिरस्मरणीय पृथ उपदेश को बह्न करने वाले स्तम्भ पर खुदी जिसमें उसने शान्ति और दया के संवाद खुदवाए थे। अब से मेरा इतिहास फिर दीन हो चला। गुप्तों के साम्राज्य में मैं यद्यपि प्रान्तीय शासन का केन्द्र हुई फिर भी दासता तो दासता ही है। आजादी खांकर मैं सुली न रह सकी। पाँचवीं सदी के प्रायः तृतीय चरण तक मैं गुप्तों के अधिकार में रही। स्कन्दगुप्त ने हूणों की प्रचण्ड आँधी से देश की रक्षा के लिए जो तप किया उसे भी मैंने देखा। परन्तु वह आँधी साधारण न थी। रोमन

साम्राज्य की उसने कमर तोड़ दी थी, मध्यएशिया के अनन्त राज्य उसकी चोट से नष्ट भ्रष्ट हो मिट्टी में मिल गए थे। उस आँधी को रोकना स्कन्द गुप्त के से सामरिक अथवा लड़खड़ाते गुप्त साम्राज्य के दश की बात न थी। शफारि चन्द्रगुप्त विक्रमादित्य के बाद ही जिस विलास ने कुमार गुप्त के रूप में मगध की गद्दी का आरोहण किया था, वह वस्तुतः गुप्त साम्राज्य के लिए बिर का घूँट था। कुमारगुप्त ने विलास में मेरे उदयन को अपना इष्टान्त बनाया परन्तु उसमें न तो उदयन का शौर्य था न उसकी बुद्धिमत्ता थी, न उसकी शिष्टता थी।

गुप्त साम्राज्य दूषणों की अनवरत चाँटों से लड़खड़ा कर गिर पड़ा और यद्यपि बालादित्य ने यशोवर्धन के सहयोग में स्कन्दगुप्त के बाद दूषणों का पराभव किया वह उनकी गति न रोक सका। दूषणों ने जनपद उजाड़ डाले। मैं भी एक बार फिर उनकी चाँट से उजड़ गई। परन्तु यह चाँट सबकी समान चाँट थी, मैंने भी उसे सुरक्षा सह लिया।

दूषणों के पहले मेरा एक सांस्कृतिक जीवन था। कला से मण्डित, संगीत से निनादित, दर्शन से जागरूक। दर्शन की दिशा में तो गुप्त काल में मैंने विशेष उन्नति की। बालादित्य समुद्रगुप्त का गुरु, प्रकाशक बौद्ध दार्शनिक बसुबन्धु जो बाद में अयोध्या में रहने लगा था पहले अपना चिन्तन उसने मेरे ही नगर में आरम्भ किया था और यद्यपि वह विशेषतः गुप्तों की उस दूसरी राजधानी अयोध्या में ही रहता था वहाँ के शोरगुल से भाग अक्सर वह मेरे प्रशान्त घोषिताराम में जमुना के किनारे प्रायः शरण लेता था। बसुबन्धु के भाई असंग ने भी अपने विख्यात बौद्ध विचार योगाचार के सूत्र यहीं प्रथित किए। इस नए सम्प्रदाय ने बौद्धों के दार्शनिक चिन्तन क्षेत्र में तत्काल अपना स्थान बना दिया और आने वाली सदियों में उसका निरन्तर प्रभाव बढ़ता गया। उस योगाचार का आरंभ जैसा पहले कह चुकी हूँ मेरे घोषिताराम में ही हुआ, उस घोषिता-

राम में जिसे चौथी सदी ईस्वी के अन्त में काश्याने ने देखा था और फिर सातवीं सदी में हेनर्यांग ने देखा। परन्तु दृष्टों ने दर्शन चिन्तन की वह शृंगला तोड़ दी थी, कला के वे मण्डन-सावन बिखेर दिए। प्रदत्त-पुष्कर का निनाद बन्द कर दिया था।

दृष्टों के बाद मौलरियों ने कन्नौज पर कब्जा कर लिया था और उसके साथ ही मैं भी उनके अधिकार में आई। कन्नौज के मौलरियों और मगध के विछले गुप्तों में दिनरात कशमकश चलती रही और अन्त में गौड़ और मालवा के सम्मिलित योग ने मौलरी कुल का अन्त कर दिया तब कन्नौज का स्वामी यानेश्वर का राजा हर्षवर्धन हुआ। हर्षवर्धन के शासन काल में मेरी विशेष उन्नति न हुई और मैं चुपचाप अपने अतीत के आँकड़े सँभालती आई थी पड़ी रही। हर्ष की मृत्यु के बाद देश में फिर उथल-पुथल मची और शक्ति का एक नया स्वरूप राजपूताने की मरुभूमि में खड़ा हो चला। अनेक जातियाँ, देशी-विदेशी संघर्ष और सम्मिश्रण से उठ खड़ी हुई थीं, जिनका देश की राजनीति और संस्कृति पर गहरा प्रभाव पड़ना अनिवार्य था।

मेरा संबंध कन्नौज के साम्र अथ कुछ रथाई सा हो चला था और जैसे जैसे उस नगर के भाग्य पलटते वैसे ही वैसे मेरे भी पलटने लगे। हम दोनों का स्वामिनी-चेरी का संबंध हो गया था और मैं अब स्वामिनी के दुःख से दुःखी और सुख से सुखी होने लगी। आठवीं सदी में कन्नौज में एक नई शक्ति ने जन्म लिया, और यद्यपि वह वहाँ फिर स्थाई न हो सकी। उसने मध्यदेश की राजनीति पर प्रभाव काफी डाला। अज्ञात कुल वाला यशोधर्मन् जिसने वहाँ अपनी शक्ति का साका चलाया विशेष प्रतापी हुआ और मैं भी अपने स्वामी का यशोगान करने लगी। यशोधर्मन् का नाम संस्कृत साहित्य में भी स्मरणीय हो गया क्योंकि उसका सम्पर्क प्रसिद्ध नाटककार भवभूति से था। भवभूति ने मनस्विता

और मर्यादा को जो छाप अपने नाटकों पर छोड़ी है वह साहित्य में अनुपम है। उल्लर रामचरित और मालतीमाधव उच्चकोटि की रचनाएँ हैं विशेषकर मालतीमाधव जिसका मनस्वी उद्गार कठिन परिस्थितियों में पड़े अनेक साहित्यिकों का शक्ति सम्बल हो गया है। समालोचकों की चोट से व्यथित भवभूति जब इस बात से दुःखी हुआ कि उसकी कृतियों से मनन नहीं है तब भी उसने धीरता न छोई और उसने लिखा—
“उनके लिए यह प्रयत्न नहीं जो समझ पाते वरन् उनके लिए है जो आगे आएँगे क्योंकि काल की अवधि नहीं और पृथ्वी विपुल है। कभी तो आखिर समानधर्मा उत्पन्न होकर उन्हें सनभेंगे—“उत्तस्यते ममत्वं कोऽपि समानधर्मा कालो ह्यं निरवधि विपुला च पृथ्वी। भवभूति भारतीय साहित्याकाश का वह नक्षत्र है जो दार्जी सूरक्षा में रहकर भी अपना व्यक्तित्व न भूला।

राजनीति वह शिला है, जिससे सारी संस्कृति, सारी भावुकता टकरा कर चूर चूर हो जाती है। यशोधर्मा के शासन काल में ही कज्जो के जुरे दिन देखने पड़े। काश्मीर के दिग्विजयी ललितादित्य मुक्तापीड ने कज्जो पर आक्रमण कर उसे जीत लिया फिर यशोधर्मा और भवभूति दोनों ही लुप्त हो गए। शीघ्र फिर भी इसी कज्जो में आयुधों का राजकुल प्रतिष्ठित हुआ परन्तु इस कुल के तीनों वपति बज्रायुध, इन्द्रायुध, चक्रायुध दुर्बल थे और उनके होते भी उनकी राजनीति का चक्र औरों ने प्रवर्तित किया। धर्मपाल ने बज्रायुध को गद्दी से उतार इन्द्रायुध को बिठाया। नागभट्ट ने इन्द्रायुध से गद्दी छीन चक्रायुध को दे दी। इसी उथल पुथल में कज्जो के मुस्कराते खेतों पर राष्ट्रकूट टिड्डीदल की भाँति दूट पड़े। राष्ट्रकूट नृपति ने अपने कलचुरी सामन्त की सहायता से प्रयाग तक का प्रदेश लूट लूटा और धर्मपाल को दोआब छोड़ बंगाल भागने पर मजबूर किया। इस लूट में मेरी भी कुछ कम अभोगति न हुई,

क्योंकि दक्षिण से आनेवाला मार्ग मेरी नगरी से ही होकर गुजरता था और राष्ट्रकूटों की सेनाएँ दोनों ओर से इधर से ही गई थीं।

फिर मैं गुर्जर प्रतिहारों के अधिकार में आई और जब नागभट्ट द्वितीय ने उस उथल-पुथल में कबीज में अपने कुल की राजनीतिक परम्परा धारण की तब मैं उसके प्रान्त का शासन केन्द्र बनी। प्रतिहारों का अधिकार कबीज पर प्रायः दो सौ वर्षों तक बना रहा और मैं लगातार उनके अधिकार में कुलवती बलती रही। यद्यपि उनके पिछले नृपतियों के दुर्बल सत्ता के फलस्वरूप मुझे अनेक बार अपमानित भी होना पड़ा। नागभट्ट, मिहिरभोज, महेंद्रपाल प्रथम, महीपाल, महेंद्रपाल द्वितीय भारी भारी से मेरे स्वामी हुए और यद्यपि धीरे-धीरे उनकी शक्ति चन्देल राजकुल क्षीण करता गया फिर भी मेरी स्थिति में विशेष अन्तर न पड़ा और यद्यपि मैं स्वयं राजधानी न थी, मेरा प्रभाव था, मेरी प्रतिष्ठा थी।

त्रिलोचन पाल के समय मेरी स्थिति फिर बिगड़ चली। यद्यपि वह विशेषतः मेरे कारण नहीं कबीज के दुर्भाग्य से। ग्यारहवीं सदी का प्रथम चरण था। धन बिगड़ और लुटेरा महमूद गजनवी इस्लाम के नाम पर हिन्दुस्तान पर चोट करने लगा था। इस्लाम के झण्डे के नीचे तब मध्य एशिया के खंखार डाँकू और नंगे भी खड़े थे। शाहियों पर, जो कभी शक कुपाण थे और अब ब्राह्मण-क्षत्रिय होकर जिन्होंने सदियों भरत के सिंहद्वार की रक्षा की थी, मुदुस्तिगीन और उसके बेटे महमूद ने भयंकर चोटें कीं। जयपाल और आनन्दपाल दूट गए, शाही उखड़ गए और महमूद प्रतिवर्ष मध्यदेश के खलिहानों और मन्दिरों पर दूटने लगा। त्रिलोचन पाल ने कभी मेरी नगरी में दर्वार कर गाँव दान किए थे, अभिलेख लिखवाए थे, अब उसे बिकट महमूद का सामना करना पड़ा। महमूद के विरुद्ध मैदान में तो वह जरूर

उत्तरा परन्तु अफगानों के हमले से घबराकर यह भागा। महमूद ने कन्नौज को लूटा और उसके मन्दिरों के कलश कँगूर अमीन पर डाल दिए। मेरे कलश कँगूरे भी अछूते न बचे और इस्लाम की सेनाओं ने उनको भी तहस-बहस कर डाला। मैं फिर लूट गई।

त्रिलोचन पाल का भागना चन्देलों को असह्य हो गया था और यद्यपि वे स्वयं महमूद का सामना न कर सके थे, उनके राजा गण्ड ने अपने सुथराज विशांवर को कन्नौज भेज त्रिलोचनपाल को मरवा डाला और उसके बेटे राज्यपाल को गद्दी दी। महमूद ने जब यह सुना तब यह फिर लौटा और राज्यपाल को मार उसने चन्देलों की भी खबर ली। मेरी स्थिति कन्नौज की राजनीति की ही भाँति डोंवाडोल होती और घनती दिग्दृष्टी रही। प्रतिहारों का अन्तिम राजा यशपाल था जिसने त्रिलोचनपाल की ही भाँति मेरी नगरी में दरबार किया और मुझ पर अपना अधिकार बनाए रहा। उसके साथ ही कन्नौज से प्रतिहारों की सत्ता उठ गई और कुछ काल के लिए उस साहित्यिक वातावरण की भी, जिसमें भवभूति और राजशेखर फले फूले थे प्रतिहारों के बाद कन्नौज की स्थिति अत्यन्त दयनीय हो गई। चारों ओर की शक्तियों की लूट खसोट से यह तिलमिला उठा। पाल और राष्ट्रकूट, चन्देल और कलचुरी बारी बारी से उसे लूटते रहे और मैं भी उसी की भाँति चोट पर चोट सहती रही।

इस उथल पुथल का अन्त उस चन्द्रसेन ने किया जिम्ने कन्नौज के नए गढ़वाल राजकुल की नींव डाली। उसने अनेक देश जीते और आस पास के सारे प्रदेश अपने हाथ में कर लिए। कन्नौज में नई शक्तिजन चली और उसके साथ ही मैं भी कान्तिमती हुई। गोविन्द चन्द इस कुल में विशेष कर्मठ हुआ। युवराज की ही स्थिति

मैं उसने मसूद तृतीय के भेजे हाजिब की सेना को हराकर तितर बितर कर दिया था और अब जब यह गद्दी पर बैठा तब उसने गया तक के प्रदेश जोत काशी को अपनी दूसरी राजधानी बनाया। दक्षिण के चालुक्य, गुजरात और कश्मीर के राजा उसका लोहा मानते और उससे मित्रता का दम भरते थे। मेरा गौरव फिर उस महाकाय वृषति ने यमुना के किनारे प्रतिष्ठित किया, परन्तु उसके पोते जयचन्द के जीवन-काल में फिर कन्नौज की लक्ष्मी ने पलटा खाया और साथ ही मैंने भी।

गोर के सूखे पहाड़ों में एक नए पठान राजकुल ने प्रतिष्ठा पाई थी और उसके सुल्तान शहाबुद्दीन गंगरी ने हिन्दुस्तान के लहलहाते मैदानों को जीतने का कौल किया। पहली बार का उसका हमला व्यर्थ गया। दिल्ली के चौहान राजा पृथ्वीराज ने अन्य हिन्दू राजाओं की मदद से उसे धूल चटा दी। उस जीत में कन्नौज का भी हाथ था। परन्तु जब तक शहाबुद्दीन फिर से सेना तैयार कर हिन्दुस्तान लौटा, जनाना बदल गया था। परस्पर ईर्ष्या और फूट ने हिन्दुस्तान की राजनीति को काया पलट दी थी और उस स्थिति को ढँकाडोल करने में पृथ्वीराज का विशेष हाथ था। जयचन्द सम्राट्पदीय राजा था। अनेक देश उसने जीते थे और अपनी जीतों के उपलब्ध में उसने अश्वमेध भी किया था। उज्जयिनी से गुजरात तक के राजा उसका लोहा मानते थे। दिल्ली अभी हाल तक कन्नौज की चेरी रहो थी और थोड़े ही दिन पहले बीसलदेव ने उसे जयचन्द के पिता से छान लिया था। चौहानों को जयचन्द अपना माएडलिक मानता था और उसका ऐसा करना कुछ बेजा भी न था। पृथ्वीराज वीर अक्षय्य था पर विलासी भी असाधारण था। देश में उसके अनेक युद्धों का कारण उसकी अग्र-स्थिति बिलासिता थी। आज उसने इस राजकुल की बेटी छीनी, कल

उसकी। वही पृथ्वीराज की राजनीति थी। जयचन्द की बेटी संकुत्रा के हरण में उसे कन्ध, कैमास के से धीरों की बलि देनी पड़ी, परन्तु अपनी कामवासना की अभिवृत्ति के लिए उस चौहान गुरुति ने कभी कोई मूल्य न समझा। नतीजा यह हुआ कि शहाबुद्दीन की दूसरी चोट ने उसके पौरव पर दाग लगा दिया। 'सरसुती' के किनारे जब वह हाथी से उतर कर पोंढ़े पर भागा जा रहा था, पठानों ने उसे पकड़ कर 'जहन्नुम' रसीद कर दिया। निश्चय जयचन्द ने अपनी उसकी मदद न की थी, पर मैं पूछती हूँ कौन रिता अपनी बेटी भगा ले जाने वाले जबरदस्ती बने दामाद के लिए अपना खून बहाएगा ?

कन्नौज पर वृषरे ही साल गोरी आ धमका और मुझे इस बात के कहते गर्व होता है कि जयचन्द ने पृथ्वीराज की भाँति उसे पीठ न दिखाई और वह अस्ती वर्ष के युद्धों में अपनी मुट्ठी भर जवानों के साथ मुझसे थोड़ी ही दूर पर चन्दावर के मैदान में आ उतरा। जिस बहादुरी का उसने वहाँ प्रदर्शन किया उसकी प्रशंसा मुसलमान तवारिख नवीसों ने मुक्तकण्ठ से की। मैं अपनी डाँवाबोल, शक्ति स्थिति से उत्कण्ठित हो उस युद्ध के मैदान की ओर देखती रही क्योंकि उसी के परिणाम पर मेरा वृष भला भी निर्भर था। यद्यपि उस परिणाम को मैं पहले से ही जानती थी। जयचन्द की सेना के बाँके लड़ाकों का रक्त यमुना की धारा में बहकर मेरे तट पर भी पहुँचा और मेरी प्राचीन नगरी भी उसके पावन स्पर्श से पवित्र हुई। तब के बाद इधर के प्रदेशों पर भी मुसलमान कानिज हुए।

अभी सौ वर्ष पहले तक मैं जागती सोती फिर भी जीती रही हूँ पर धीरे धीरे मेरी संज्ञा मेरे नगर के भवनों के साथ ही सो चुकी है, सदा के लिए समाधिस्थ हो चुकी है। मीलों तक फैले मेरे परकोटे उस प्राचीन

इतिहास की कहानी कहते हैं जिनके जाने माने मेरे कर्मठ राजाओं और विरक्त दार्शनिकों ने बुने थे। उन परकोटों के पीछे की धूल में, उन राजाओं और रानियों की रज भी भिली है, जो भारतीय इतिहास में विलास के प्रतीक बन गए। वस्तुओं की अम्लान मिश्र, भरतों की कान्तिमती लक्ष्मी में आज कोसम और मद्रा के टीलों में दूनी चुपचाप यमुना के प्रवाह को देख रही हैं, जिसकी उदासीनता में कभी कोई अन्तर न पड़ा।



वैशाली

मैं वैशाली हूँ—जनशक्ति का गढ़। जो लोग उत्तर बिहार के तिरहुत प्रदेश में मुजफ्फरपुर के जिले में बसाढ़ गाँव देखते हैं, उनको इस बात का गुमान तक नहीं कि उसकी मिट्टी में वे विभूतियाँ सोई हैं जिन्होंने कभी मानवता का नैतृत्व किया था, राजवत्ता के जो आजीवन विद्रोह रहे और जिन्होंने अमृत्यु जनशक्त को पीछे कर राजाओं की महत्वाकांक्षाओं से सदियों लोहा लिया।

जन-स्वातन्त्र्य की शास्वत प्रहरी मुझ वैशाली ने जनसत्ता का पाया हजार वर्षों तक नैतृत्व किया और जनसत्ता राष्ट्रों की उस शृंखला में अग्रणी रही जिसमें पाया के मल्ल, पिप्पलिवन के मौरिय, रामप्राने के कोलिय और कपिलवस्तु के शाक्य इतिहास में विलयात हो गए हैं। इन गणतन्त्रों ने समय समय पर भारतीय इतिहास को उसकी असाधारण

ऊँचाइयों दी हैं—मैंने वर्तमान महावीर को विष्णुलिवन में चन्द्रगुप्त मौर्य और कपिलवस्तु में तथागत बुद्ध को बसाद के भग्नावशेष उन दिनों की याद दिलाते हैं जब मैं समाधिस्थ हुई थी, परन्तु तब से पूर्व का इतिहास कुछ ऐसा है जहाँ सदियों तक राजनीतिक प्रयत्न केन्द्रित रहे हैं। मेरा आरंभ प्रायः नवीं सदी इसवी पूर्व का है। नवीं सदी इसवी पूर्व में मेरे पड़ोस की वह नगरी कीर्तिमती थी जिसका वैभव मैंने शीघ्र छीन लिया, उस मिथिला का जो विदेहों की राजधानी थी और जिसके अवशेष अब भी हिमालय की तराई में जनकपुर में सोये पड़े हैं।

ऐसा नहीं कि मेरा आरंभ सर्वथा तभी हुआ हो, पर इसमें सन्देह नहीं कि तब और तब के पहले, बहुत पहले, भी मैं सर्वथा अनजानी न थी, पर हाँ, मिथिला के सामने अकिंचन, उसकी चेरी अवश्य थी। जैसे तो मैं तब भी निर्बीज न थी जब इस भू-भाग पर आर्यों का उत्पन्न था, जब इस देश के प्राकृत निवासी अपने अराजक सत्ता के अनुकूल सुखी जीवन बिताते थे। वस्तुतः यही कारण है कि मैं सदियों के दौरान में अपनी जन सत्ता प्रवृत्ति की परंपरा कायम रख सकी। मैंने पूर्व में कोशल, काशी और मगध में आर्यों के पहले बसले गढ़ते देखे थे, मैंने कोशल में इक्ष्वाकुओं को अपना आधार स्थापित करते देखा, मल्लदत्तों को काशी में और मगध में बह्मिद्यों को। फिर कोशल की ओर से जन सत्ता जनपदों को बाँध सदानीरा को पार कर अपने विस्तृत आँगन में आर्यों को मैंने उतरते देखा। तब वे इधर के रहने वालों को 'अनाला', 'मृगवाचा', 'अदेवयु', 'अयल्लवन', 'जात्य', आदि कहते थे और इधर के रहने वाले उनको गाली सनभ गाली का उत्तर गाली से देते थे। कभी आर्यों ने अंगों-मगधों को अपावन देश कहा था। अपनी व्याधियों को मन्त्र द्वारा उधर भेजने के उपक्रम किए थे, परन्तु शीघ्र लाभ की भावना से प्रेरित हो उन्होंने उसी अपावन पूर्व में अपने बीसियों केन्द्र स्थापित

किए, स्थान विशेष की महत्ता किस प्रकार अर्थ और पात्र पर केन्द्रित है यह मैंने तभी देखा। काशी, अयोध्या, गिरिव्रज और चम्पा में धीरे धीरे इनकी स्थावनियाँ और फिर विस्तृत समृद्ध राज्यों की राजधानियाँ स्थापित हुईं।

उन्हीं दिनों विदेहों का कुल भी मिथिला में स्थापित हुआ। विदेहों के एक के बाद एक दो कुल कालान्तर में प्रतिष्ठित हुए जिनको उठते, पनपते, समृद्ध होते और अन्त में विध्वस्त होते मैंने देखा। तब जैसा मैं पहले कह चुकी हूँ, अकिंचन यी मिथिला की चेरी परन्तु इसीलिए मिथिला के आँगन में घटने वाली घटनाएँ भी मैं निरन्तर देखती रही। पहला कुल उन विदेहों का था जिन्होंने आरंभ में जनौ या कञ्चीलाब्दी का अपना जीवन बिताया था। इक्ष्वाकुओं के अयोध्या में प्रतिष्ठित हो जाने के काफी बाद क्षत्रियों का विदेह नामक पहला प्रख्यात और लड़ाका कञ्चीला सदानीरा को पार कर इधर के मैदानों में उतरा था और उसने आसपास की सारी भूमि पर अपनी विजय के झण्डे लड़े किये। उनमें सबसे प्रतापी सीरध्वज जनक का कुल था। पहले तो वह कुल भी अन्य कञ्चीलों की भाँति एक कञ्चीला मात्र था। विदेह उस कञ्चीले का नाम था और उसका प्रमुख कुल जो सीरध्वज वा या केवलमात्र उसका मुखिया था। परन्तु शीघ्र नये देश में पहुँच कर नयी समृद्धि कीर्ति, ख्याति और शक्ति अर्जित कर उस कुल ने जनमात्र की सीमायें, स्वीकार न कीं। पात ऐसे जन भी न थे जो इस जन की व्यापक सत्ता के अनुसरदायी निरंकुश शासन के विरुद्ध आवाज उठाने या कशमकश करते। फिर ऐसा करना संभव इसलिए भी न था कि स्वयं आयों में अपनी विजयों के फलस्वरूप अथवा अनेक जनरद राज्य कायम हो चुके थे—सतलज के कांटे में भरतों का, कुरुक्षेत्र में कुरुओं का, पंचाल में पंचालों का, जो दोनों भरतों की ही शाखा थे, और कोशल में

एवमाकुओं का। जनता ने इस बढ़ते हुए रोग का निदान करते ही पहले उसके उपचार का प्रयत्न किया, परन्तु शीघ्र उसके असाध्य होते ही यह चुप हो बैठ रही। जन प्रभुति का इस प्रकार हाथ पर हाथ धर बैठ रहना ही राजसत्ताक प्रभुति को प्रभय देता है और वही हुआ। सीरध्वज के पितामह ने विदेशों में प्रमुख कुल का अग्रणी होने के कारण पहले तो विदेश नाम गोत्र के अर्थ में स्वीकार किया फिर धीरे धीरे उसके पिता ने उसे अपना विरुद्ध बना डाला। सीरध्वज का पिता और स्वयं वह अब विदेशों के केवल अग्रणी न थे बल्कि उनके राजा भी थे। बदलते हुए इतिहास के साथ बदलती हुई इस शक्ति काया को मैंने देखा परन्तु ऐसा लगा कि यह कान्ति आगों नहीं विदेशियों—विजातीयों की है। और मुझे चुप ही रहना चाहिए, मैं चुप ही रहा।

सीरध्वज जनक ने अपनी कृपाति और गौरव बढ़ाने के लिए आर्य जगत के प्रमुख राजकुल अयोध्या के एवमाकुओं से अपना वैवाहिक सम्बन्ध स्थापित किया और इस अर्थ उसने एक बड़ा-घटाटोरा खड़ा किया। एक विशाल धनुष सामने रख उसने अपनी कन्या जानकी का स्वयंवर किया जिसमें दूर दूर के राजा निमन्त्रित हुए। जानकी कौन थी, यह चाहे एवमाकुओं का जाना न हो पर मैं उसे जानती हूँ। जानकी सीता थी। जोती हुई भूमि की हराई से निकली सीता जो वस्तुतः जनक की कन्या न थी इस पृथ्वी की कन्या थी, मिथिला की कन्या और आगे लिखे जाने वाले महाकाव्यों में चाहे जिस प्रकार सीता का सम्बन्ध जनक के कुल से जोड़ा गया हो। सफेद को काला करने वाले काव्यकार भी इस बात से इनकार न कर सके कि पतिव्रता मिथिला की भूमि की जागी थी। जो हरे दशरथ जनक राम ने उस धनुष को प्रत्यक्षा चढ़ाई। उस धनुष की प्रत्यक्षा चढ़ा कर सीता की व्याधा, जिसे जनक ने आमाता के शक्ति-दान के रूप में स्वयंवर के प्राङ्गण में रखा था।

सीरम्बज जनक का वह राजकुल दो सदियों में अनन्त की गोद में साँ गया। उसका अन्त होते ही विदेहों में एक नई जायति हुई और उस जायति में मेरे गणमुखियों का भी प्रचुर योग था। विदेहों ने देखा कि जनक के राजकुल ने न केवल विदेहों की जन सत्ताक प्रकृतियों कुचल कर उसके स्थान पर राजसत्ता की प्रतिष्ठा की परन्तु अपने नाम के अनुकूल राजधानी का नाम भी उन्होंने बदल दिया—उसे जनकपुर कहा। विदेहों ने जो अपना अराजकतन्त्र कायम किया उसमें सीरम्बज की राजधानी का नाम बदल कर उन्होंने फिर मिलाया रखा और उस आधार से वे अपने प्राचीन जन परम्परा के अनुसार राजनीतिक आचरण करने लगे।

दो सदियों और भीती। विदेहों का प्रकर्ष यश फैला। परन्तु धीरे-धीरे फिर शक्ति को एकत्र करते हुए एक नवीन राजकुल ने उस पर फिर कुटाराघात किया। इस कुल का नाम भी जनक कुल ही था और महाराजात्वा की इसकी प्रवृत्ति भी अधिकतर उस नाम के संयोग से ही हुई। परन्तु चूँकि जनसत्ता नष्ट हो जाने पर भी उसकी याद जनता में सर्वत्र थी, इसलिए वह राजकुल अपने को विदेहों से सर्वथा अलग न कर सका, और उसके अग्रणी राजा जनक ने अपने को 'जनकविदेह' कहा। इससे उसने जनता का वह भय दूर करने का प्रयत्न किया, जिसकी सीरम्बज के इतिहास की याद से उसमें संचार हो सकता था। इस विदेह जनक का कुल शारीरिक शक्ति से नहीं, मानसिक शक्ति से विख्यात हुआ था। इसी कारण विदेहों की संगठित मेधा के रूप में इस कुल ने विदेहों का जन नाम भी अपने साथ जुड़ा रहने दिया।

जनक विदेह का राजकुल नवीं सदी में विशेष प्रकार से ब्राह्मणों के विरुद्ध उठने वाले क्षत्रिय विद्रोह का परिणाम था। कम से कम इसकी ख्याति और सत्ता तो इसी सकल संघर्ष के कारण जमी। जमाना

उपनिषदों के ज्ञान-संभार का था। जनपद राज्यों के साथ-साथ उपनिषद ज्ञान के केन्द्र भी स्थान-स्थान पर स्थापित हो चुके थे। पंचाथ के केंद्र में अश्वपति, पंचाल में प्रबाहण जयवलि, काशी में अजातशत्रु और विदेहों में जनक अब ज्ञान के आचार्य थे। ब्राह्मणों के हाथ से मेधा का नेतृत्व छिनकर अब क्षत्रियों के हाथ में आ गया था। अश्वपति ने जिसे अपने राज्य में चौर और 'वैरिणों' न होने का अभिमान था, ब्राह्मणों में अग्रणी आरुणि को 'समित पाणिभ्यः' का ब्राह्मणोचित दर्पण-आदेश दिया था, प्रबाहण जयवलि ने विद्वानों के पञ्चाल परिषद का प्रधान के रूप में संचालन किया था, अजातशत्रु ने दण्डियात्मक को आत्मा सम्बन्धी प्रश्न से निरुत्तर कर दिया था और जनक विदेह ने आरुणि के पुत्र स्वतकेतु आहूयेय और उसके अप्रतिम गुरु भार्गव यज्ञ-वल्क्य को अग्निहोत्र के पाठ पढ़ाये थे। जैसा बराबर होता आया है, विजय अर्थ की जीत के लिए की गई। अर्थ और राजनीति एक ही शरीर के दो जानु बनकर बैठी और उनका संचालन अब राजा करने लगा। राजा को अब यह दृष्ट न था कि वह संसारक युद्धों में मृत्यु का सामना करे और प्रदेश का जीत-जान के मूल्य जीते। उस भूखण्ड को दक्षिण में ऋत्विज के हवाले कर दे। रघु ने कभी साम्राज्य जीत सर्वजित यश में उसे अपने पुरोहित को दे-डाला था और स्वयं स्वर्ग का अर्ध मिट्टी के पात्र में दिया था। वह स्थिति अब उसके क्षत्रिय वंशधरों की स्वीकार न थी। उन्होंने अपने जनपद राज्य कायम कर उनकी समृद्धि के नीचे सुख और आराम का जीवन बिताना चाहा। सुख और शान्ति में, समृद्धि और बाहुल्य में अब उदर की आवश्यकताएँ मन को आकुल नहीं करतीं तब मन में दानव का प्रवेश होता है और वह कल्पना के नित्य नये संसार गढ़ने लगता है। दर्शन का आरम्भ उसी अनाकुल प्रज्ञा की निष्क्रिय स्थिति में होता है और निःसन्देह उपनिषदों

के ज्ञान ने दर्शन की परम्परा प्रारम्भ की। 'आत्मा', तृष्णा और लिप्ता की वह श्रमादि और अनन्त भ्रंशला की बीजकड़ी थी, जिसने जीवन का तन्तु डुलाइ के ताने की तरह आगे को खींचा। यह जीवन जो प्रसन्न, सुन्दर, जीव्य है उसका अन्त न हो, उसकी परम्परा इस शरीर के बाद भी बनी रहे, यही इस तृष्णा का अर्थ था जिसके शमन के लिए क्या क्षत्रिय-बौद्ध, क्या ब्राह्मण-हिन्दू दर्शन ने आवाज उठाई। इस प्रकार के सुखी और जीव्य जीवन की पुनरावृत्ति का स्वप्न उपनिषद्-कालीन जनपदों का क्षत्रिय राजा ही देख सकता था और उसे उसने देखा—अश्वपति ने केकय में, प्रवाहण ने पंचाल में, अजातशत्रु ने काशी में, जनक ने बिदेह में !

मैं सुनता हूँ यह अद्भुत आध्यात्मिक राज सत्ताक ताना-बाना कुछ काल देखती रही। मैंने पास से, कारी पास से पढ़ोस लें, ही उच्चक उच्चक कर भिखिला में होने वाले उस तपाकणित ज्ञान समारोह को देखा जिसमें जनक ने मध्यस्थ का शासन ग्रहण किया था और जिसमें याशवल्क्य ने दुनिया के शानियों को अपना पराभव करने की चुनौती दी थी। दर्शारी याशवल्क्य के पीछे जनक की पार्थिव शक्ति का साधन था। कोई उसके सामने कहाँ तक ठहर सकता। गाँवों यदि कुछ देर ठहरी तो इसलिए कि उसका सम्बन्ध सम्भवतः पंचाल के राजकुल से था। परन्तु उसके प्रश्नों के उत्तर—उनका क्या हुआ ? याशवल्क्य ने कहा था—“ब्राह्मणादिनि, बन्द कर अपने प्रभ वरना सिर गिर जायगा।” सिर गिर जाने का भय निश्चय बड़ा था। सम्भवतः उससे कहीं बड़ा जो कलौज में पश्चात् काल में हर्ष से हेलसांग के मुकाबले ब्राह्मणों को हो गया। गाँवों के साथ जो व्यवहार मेरे देखते ही याशवल्क्य का हुआ, वह नारी के प्रति उस शानी का होना उचित ही था, जिसने जीवन भर दूसरों को निष्पृह हो इन्द्रियों के विषयों से ऊपर उठने का उपदेश

किया परन्तु स्वयं जिसकी तृप्ति एक नारी से न हो सकी और जिसे मैथिली और कात्यायनी दो पत्नियों रखनी पड़ीं !

शाहबल्क्य का यह व्यक्तिगत आचरण अपने संरक्षक जनक विदेह के आचरण से भिन्न न था। जनक विष्णुले काल के साहित्य में 'विदेह'—जीवन मुक्त, देह के रहते उससे विरहित—कहा गया है, यद्यपि उस विदेहता का राज मैं जानती हूँ। क्या खूब कि जन-विदेहों के नाम पर उनके नेता के रूप में शक्ति संचय करने वाले जनक का उपनाम विदेह दार्शनिक विरुद मान लिया गया ! उसी साहित्य ने यह भी कहा कि मुमुक्षु जनक का एक पाँव सिंहासन पर रहता था, दूसरा धन में अर्थात् वह सर्वथा त्यागी था। दूर से अर्थ का अनर्थ करने वाले चाहे जो लिखें, परन्तु जहाँ तक मैंने देखा, जनक का एक पाँव क्या पाँव का आभास भी कभी धन की ओर न झुका। मैंने उसको निरंतर सिंहासन पर, उसके नीचे की स्वर्ण पाद पीठी पर, जमें पाया। हाँ, त्याग उसमें अवश्य था। यदि त्याग न होता तो उस धन का संचय राजप्राप्ताद में क्योंकर होता, जिसके फलस्वरूप स्वर्ण के पत्तर ली गायों की दोनों सांगों पर जड़े गये थे जिन्हें जनक का दर्दारी दार्शनिक शाहबल्क्य अपनी विजय के पुरस्कार स्वरूप हाँक ले गया था ! और त्याग का यह रूप ऐसा था कि इसमें धन जो एक त्यागी के यहाँ संचित था, उठकर उसके संबंधित दूसरे त्यागी के पास बह गया, जिससे एक को यशःकाया बढ़ी, दूसरे की पार्थिव अन्तिमति हुई !

जनक विदेह और उसका आत्मदर्शन फिर भी बहुत काल न चल सके। शीघ्र उसका कुल उस विजय में खो गया जिसमें मिथिला के विदेहों के साथ ही मेरे नागरिकों का भी प्रचुर हाथ था। सातवीं सदी ईसवी पूर्व में विदेहों ने फिर एक बार अपनी राजनीति की काया पलट दी। राजसत्ता की कुचलकर उन्होंने प्रजासत्ता शासन का आरम्भ

किया। अब तक मेरी स्थिति प्रबल हो चली थी। जनक विदेह के शासन काल में हो यद्यपि मैं नाम मात्र का उसकी हुकूमत में थी मेरे आँगन में बुँचायती बैठकों की बुनियाद पड़ गई थी परन्तु अपनी स्थिति सर्वथा स्वतंत्र करने के लिए पार्श्ववर्ती विदेहों के राजकुल का नाश आवश्यक था। उसके नष्ट होते ही न केवल मैं स्वतंत्र हो गई बल्कि मेरी सत्ता सर्वथा सर्वप्रमान्य सिद्ध हुई। बार बार नष्ट हो जाने के कारण, बार-बार राज सत्ता के प्रतिष्ठित हो जाने के कारण विदेहों में डर समा गया था और अब यद्यपि उन्होंने अपनी मिथिला में भी अपने जन का स्वतंत्र 'सन्ध्यागार' कायम किया और उसे रखा फिर भी उन्होंने मेरे ही विशाल गण का मित्र और अंग हो जाना मुनासिब समझा।

हमरु मुझे भी अपनी नई उठती हुई स्वतंत्र स्थिति के प्रति एक नया डर उठ खड़ा हुआ था। गंगा पार यद्यपि अहित्रियों के प्राचीन राजकुल का अंत हो गया था वहाँ एक नये राजकुल ने नयी शक्ति के साथ अपनी प्रतिष्ठा की थी। इसी प्रकार कोशल का राजवंश भी नित्य नये प्रदेश जीतने लगा था। ऐसा लगा कि कहीं इन राजवंशों की प्रसरणीति मेरे विरुद्ध भी न बरती जाय और मैंने विदेहों का वह सुभाष मान लिया। आठ गणतन्त्र मेरे आस-पास की भूमि पर शासन करते थे उनमें विदेह क्षत्रिक, वज्जी, लिच्छवि विशेष शक्तिमान और प्रख्यात थे। लिच्छवियों का तो मैं ही केन्द्र थी। आठो गणों ने राजशक्तियों के विरुद्ध उनकी आशंका से शांति पाने के लिए अपना एक विशाल संघ बनाया जिसका नाम वज्जी संघ रखा गया। उसकी राजधानी मैं बनी; जो गौरव और वैभव मुझे इस काल इस सातवीं ईसवी छठी पूर्व की इन सदियों की सन्धि पर मिला ऐसा फिर कभी न मिला।

वज्जी संघ की राजधानी होने के पूर्व, ऐसा मैं पहले कह चुकी हूँ, मैं लिच्छवियों की राजधानी थी और बाद भी सम्मिलित अधिवेशनों

के अतिरिक्त मैं भिरुतर उन्हीं की राजधानी धनी रही। उनके सात हजार सात सौ सात राजकुल अपने प्रतिनिधि भेज कर अपने प्रान्त का शासन करते थे। इन ७७०७ प्रतिनिधियों को 'राजुक' कहते थे। उन्हें मेरी पुष्करणी में स्नान करने का अधिकार था और उस स्नान से पवित्र होकर मेरे सन्धागार में बैठने का। मेरी सन्धागार की बैठकें जन सत्ता और जन न्याय का प्रतीक थीं। बुद्ध ने कहा और सही कहा कि लिच्छवियों की बैठक देवसभा की बैठक है।

मेरे सन्धागार में जनता का कार्यक्रम सर्वथा न्यायपूर्वक होता था। गणपूरक उन आसनों पर जिन्हें आसन प्रसायक प्रस्तुत करता था राजुकों को यथा स्थान बिठाता था और राजा तथा उत्तराभा के बैठ जाने पर प्रस्तावों की परम्परा चल पड़ती थी, प्रस्ताव को 'कम्भवाचा' कहते थे। उसका विहापन 'शुति' कहलाती थी और उसका रखना 'प्रतिष्ठा'। प्रतिष्ठा रखने के बाद तीन बार उसे रखने वाला अपने प्रस्ताव को दोहराता था, यदि राजुक नूक रहते तब प्रस्ताव पास समझा जाता वरना किसी के विरोध करते ही उस पर शङ्क गुरु हो जाती, फिर यदि बाँट की नोश्त आती तो लकड़ी को रंग विरंगी शलाकाओं के जरिये 'छन्द' या बाँट लिया जाता। जिस संख्या में दृष्टिकोण उपस्थित होते उसी संख्या में शलाकाएँ भी रंग दी जातीं और अन्त में बहुमत से निर्णय होता। यही उस सन्धागार के अधिवेशनों की कार्य प्रणाली थी।

मेरी शक्ति इतनी प्रचल थी कि सैनिक विम्विसार को तो हिम्मत ही न हुई कि वह मेरी ओर रुत करे और यदि उसने किया भी तो केवल मैत्री का। अंग पर आक्रमण कर उसने उसे अपने राज्य में मिला लिया। सोलह जनपदों में से एक इस प्रकार सदा के लिए खो गया परन्तु मेरी ओर मगध राज ने केवल मैत्री का हाथ बढ़ाया। सोलह जनपदों में मैं गणतन्त्रों के इस जनपद की स्वामिनी का छेड़ने का मगध

राज को साहस न हुआ। उसने जाना कि मेरा अनुकूल सम्पर्क उसकी गौरव वृद्धि का कारण होगा और उसने लिच्छवियों के विशिष्ट परिवार के स्वामी चेटक की कन्या चेल्लना के कर को पिता से माँगा और यह विवाह सम्पर्क स्थापित हुआ।

वज्जियों के न्याय-शासन की ख्याति भारत भर में थी और अनेक नवीन गणतन्त्रों ने उनके न्याय के अनुकूल ही अपने न्याय के रूप संवारे थे। मेरे सन्वागार में रहे विधान के अनुकूल ही अपराधी को दण्ड मिलता था, लिखित विधान के अनुकूल राजा की मौलिक प्रक्रिया के अनुकूल नहीं। हमारे पवेनि-योथक उन दण्डों की अनुक्रमणी रखते थे जिनके अनुकूल अभियुक्त अपराधी सिद्ध होने पर दण्ड पाता था। और यह दण्ड पाना भी कुछ खेल न था। न्याय के सात-सात पदाधिकारी अभियोग को सुनते थे—पहले विनिश्चय-महामात्र, फिर व्यवहारिक, सूत्रधार, अष्टकुलक, फिर सेनापति और अन्त में उपराजा और राजा। इनमें से प्रत्येक प्रमाण के अन्याय होने के कारण अभियुक्त को मुक्त कर सकता था। दिन-दिन मेरी शक्ति बढ़ती गई। दिन-दिन मेरी ख्याति दिगन्त में व्याप्त होती गई और दिन-दिन मैं मगध राज की महत्वाकांक्षा की राह में बुद्ध अवरोध का रूप धारण करती गई।

मेरे ही नगर के बाहर कुण्डग्राम में सातवीं सदी ईसवी पूर्व के विछले चरण में उस महामना का जन्म हुआ जो पहले जिन धिर मदावीर के नाम से विख्यात हुआ और जिसके सलाये अहिंसक जैन समुदाय ने दया और मानवता का प्रचार अपनी दीक्षा का मन्त्र बनाया। वर्तमान कुण्डग्राम के क्षात्रिक क्षत्रिय वंश के मुख्य सिद्धार्थ के पुत्र थे और लिच्छवियों में अग्रणी उस चेटक की भगिनी त्रिशला के तनय जिसकी कन्या चेल्लना मगध के राजा विन्दुसार को न्याही थी। वर्तमान ने युवावस्था में विवाह किया और उनका वैवाहिक जीवन भी

कुछ कम अभिवृत्ति का साधन न था परन्तु अपने चारों ओर जो दुःख की धाराएँ बहतीं उन्होंने देखीं तो उसके शमन के लिए बद्धमान सफल हुए। चारों ओर बन्धन ही बन्धन देख पड़े थे जिनसे स्वतंत्र होने की, बन्धनहीन निर्भङ्ग्य होने की उनकी कामना प्रबल हो उठी और वे क्लृप्तः प्रव्रजित हो गए। और बारह वर्ष तक निष्काम तप कर उन्होंने 'कैवल्य' प्राप्त की और निराडम्बर नितान्त नम्र हो वह पाये सत्य का उपदेश करने लगे। उपदेश क्षत्रियों की उसी विद्रोही परम्परा में भी जिसका उपनिषद्काल के क्षत्रियों ने और विशेषकर काशी के राजकुल के पार्श्व ने प्रायः डेढ़ सौ वर्ष पहले किया था और यह उपदेश जन भाषा में किये गये। उपनिषद् काल के क्षत्रिय नेताओं ने भी ब्राह्मण भाषा संस्कृत की ही प्रश्रय दिया था परन्तु महावीर ने पहली बार जनभाषा का प्रयोग किया और मिथिला मगध राज में उसी भाषा में अपने विचारों का प्रसार करते रहे। ब्राह्मणों के वर्णाश्रम धर्म पर जो उन्होंने कुठाराघात किया, उस नीति को और साथ ही उनकी भाषा सम्बन्धी नीति को शाक्य सिंह बुद्ध ने अपनाया।

मेरा गौरव दिन दिन बढ़ता गया। बुद्ध ने जब महाभिनिष्क्रमण किया तब मेरी ओर से ही अनेक बार मगध की ओर से वे आये गये। एक बार जब मेरे नगर की बारांगना अध्यापाली ने उन्हें और उनके संघ को भोजन के निमित्त आमन्त्रित किया तब अभिजात कुलीय लिच्छवि राजकुलों के निमन्त्रण को भी ठुकरा कर उन्होंने उसे स्वीकार किया और अध्यापाली ने राजकुलों के रथ से सटाकर अपना रथ हाँका। यह औरों के लिए क्षोभ की बात थी कि वारधनिता राष्ट्र ने प्रतिनिधियों के बराबर रथवाहन करे परन्तु वैशाली के नागरिकों के अधिकारों में कभी वैयर्थ्य न होने दिया और तथागत ने उसके इस आचरण से सन्तोष लाभ किया। यथासमय उन्होंने उसे सहाहा भी।

विश्विस्तार का पुत्र अजातशत्रु महत्वाकांक्षी था। उसके राज्य की मेरी यज्जियों से आराधना तो थी ही, उसके प्रसर में कंदक भी कुछ साधारण न थी और उसने मुझे 'निगल जाना' चाहा। गंगापार का हिमालय तक यह मेरा अनन्त विस्तार अराजक नीति के शासन में हो, यह अजातशत्रु कभी पसन्द न कर सका और उसने मुझे इधर लेने के अनेक प्रयत्न किये परन्तु उसके सारे प्रयत्न निष्फल हुए। एक बार जब महात्मा बुद्ध राजगृह में उपदेश कर रहे थे अजातशत्रु ने उनसे यज्जियों के उत्कर्ष का कारण और पराभव का उपाय पूछा। तब बुद्ध उस समय तो चुप हो रहे—निश्चय राजा की दूरनिसन्धि उन्हें खल गई और जनसत्ताक शक्ति की श्राव मानना उन्हें सख्त न हुई परन्तु कुछ काल बाद मेरी प्रशंसा में मगधराज के मन्त्री ने तथागत को यह कहते सुना—

“जब तक यज्जियों के संघ में एकता की शक्ति है, जब तक उनकी बैठकें गुप्त और अधिकाधिक होती हैं, जब तक प्राचीन परंपरा का उनमें आदर है, जब तक अपने वृद्धों के प्रति वे भद्रालु हैं, जब तक नारियों का वे आदर करते हैं, जब तक उनकी मन्त्रणा का भेद नहीं खुल पाता और जब तक उनमें संयम प्रचुर है, तब तक कोई वैशाली का पराभव नहीं कर सकता।”

मन्त्री ने मगध राज से जब तथागत के उद्गार कहे तब वह निरान्त अकर्मण्य हो रहा परन्तु अजातशत्रु जिसने शरीर होकर पिता की मृत्यु तक की अपेक्षा न कर उसका वध कर डाला था, निश्चय वह चुप न बैठा रह सकता था। उसने तथागत के उद्गार के अनुकूल ही आचरण प्रारंभ किया। गुनीध और वसाकर नामक अपने चर-मन्त्रियों को मेरे नगर में भेज उसने भेद की नीति अपनाई। दोनों ने पहले संघ के आठों गणों में, फिर लिच्छवियों के विशिष्टकुलों में परस्पर घूट बोनी

शुरू की। धीरे धीरे जब उसका अंकुर निकला तब उसमें विष का पुट दे दे कर अजातशत्रु ने ईर्ष्या और अनेकता के योग से सशक्त किया। सहा के गण एक दूसरे को सन्देह, शंका और भय की दृष्टि से देखने लगे, तभी मगध राज ने अपनी विशाल सेना प्रस्तुत की और उस सेना के आयुधगार में असंख्य विनायुध संचित किये परन्तु आखिर इस अनीति का सार्थक करने का कोई न कोई बहाना चाहिए, पर बहाना खोजने वाले को उसे पाते देर नहीं लगती और अजातशत्रु को बहाना मिल ही गया। विमाता चेल्लना की भूमि में रत्नों की एक खान मिली थी। अजातशत्रु ने उस पर अधिकार करने के उद्यम किये। अधिकार अकारण या परन्तु अजातशत्रु को तो बहाना चाहिए था। इसी बीच एक और घटना घटी। चेल्लना के पुत्र और अजातशत्रु के वैमात्र भ्राता हल्ल और वेहल्ल उसके अनाचार और अत्याचार से भागकर लिच्छवियों में शरण लेने मेरे नगर में आये। अजातशत्रु ने उन्हें राजप्रासाद के रत्न का पोर कह उनका पीछा किया। लिच्छवियों का उनकी रक्षा करना आवश्यक था। लोहा से लोहा टकरा गया। यथार्थ यन्त्रियों का संघ प्रायः टूट चुका था और वे एक दूसरे के विरुद्ध शक्ति हो चुके थे, परन्तु इस समान शत्रु का सामना करने के लिए वे एक साथ कटिबद्ध हुए।

समर भयंकर हुआ और दीर्घकाल तक। बलिदानों की कमी न रही परन्तु अजातशत्रु के चरों ने मेरे संघ में जो फूट की बेल बोई थी समय पर उसमें द्वेष के फल लगे और मेरा संघ विनष्ट हो गया। अजातशत्रु ने मेरे नगर और संघराज्य पर कब्जा कर लिया। हिमालय तक उसने अपने साम्राज्य की सीमा बढ़ा दी। मेरी स्वतंत्रता मेरे नागरिकों का अरिभित स्वातंत्र्य मगध की बढ़ती हुई सोनाओ में समा गया। मैं कुश्ठित अभागिनी सो अनेक पोछे मल्लों और कोलियों की ओर

लाकती रही परन्तु उनपर भी तभी कोशल की अधिरल चोटें पड़ रही थीं। शाक्यों का युग दाल था। प्रसेनजित के पुत्र विद्भुज ने कपिल-वस्तु को अग्नि को समर्पित कर दिया था। शाक्यों का संवागार जलकर भस्म हो चुका था और उनसे मुझे किसी प्रकार की सहायता की आशा न थी। मैंने उत्कर्ष देखा था, भैरव की लोटी चूमी थी। अब मैं अपने अबोधामी इतिहास का भी निर्माण करने लगी।

मैं आजादी का अनुभव थी। अब मैं नीचे की ओर गिर चली थी। यद्यपि मुझे सूर्यया नगण्य नहीं कहा जा सकता और मगध में गिरने उठने वाले राज्यों ने अनेक बार मेरी ओर देखा, अनेक बार उन्होंने मुझे सहायता के लिए आमन्त्रित किया। कुपायों के बाद जब पूर्व का अन्तरवेद स्वतंत्र हो चला और चन्द्र मगध के पुराने राजकुल का अभिभायक बना तब एक बार फिर मेरी मगध को याद आई। चन्द्रगुप्त ने पाटलिपुत्र की गद्दी हड़प ली थी परन्तु उसे डर था कि कहीं लिच्छवियों का विरोध उसकी महत्वाकांक्षा में दाग न लगा दे। भट उसने उस नीति का पल्ला पकड़ा, जिसका अंग को जीतते बच विवहार ने कभी पकड़ा था। लिच्छवियों के एक विभूत कुल की कन्या के कर का चन्द्रगुप्त प्रथम प्रार्थी हुआ। उनसे उसने विवाह सम्बन्ध स्थापित कर अपना गौरव बढ़ाया। इस घटना का उसने इतना महत्वपूर्ण समझा कि इसके स्मारक स्वरूप उसने अपना वह प्रख्यात सिक्का बलाया जिसमें एक ओर लिच्छवियों की कन्या कुमारदेवि को मुद्रिका प्रदान करती हुई उसकी आकृति खुदी और कुमारदेवि की आकृति के नीचे लिखवाया—‘श्री कुमारदेवी’, दूसरी ओर उसने लिखवाया ‘लिच्छवैयः’। निःसन्देह उठते राजकुल का मेरे साथ यह संबन्ध मुक्तिसंगत जान पड़ा करना कौन स्वतन्त्र राष्ट्र दूसरे का नाम अपने सिक्के पर लिखकर उसे अपने राज्य में चलाता है? इतना ही नहीं

कि चन्द्रगुप्त ने ही अपनी कत्नी के कुल का यश गाया हो वरन् उसके साम्राज्य विजयी पुत्र समुद्रगुप्त ने भी अपने को लिच्छवियों के सम्पर्क से समाहत और यशान्वित माना और उसने भी अपने सिक्कों पर इस सम्बन्ध के स्मारक स्वरूप विरुद्ध लिखाया—“लिच्छवि दीहित्रः ।”

समुद्रगुप्त की दिग्विजय और अश्वमेध के बाद मैं भी उसके विजित का अंग बन गई और उसके बेटे चन्द्रगुप्त विक्रमादित्य ने तो जो सपों व गणों के विरुद्ध अपनी मारकनीति का प्रसार किया उसमें तो बला मेरी स्थिति ही क्या हो सकती थी ? पर इतना जरूर है कि मैं सर्वथा मर न सकी और यद्यपि मेरी जनसत्ताक प्रभुता धीरे धीरे नष्ट हो गई मैं फिर भी विक्रमादित्य के साम्राज्य का एक विशिष्ट शासन केन्द्र मानी जाती रही । मेरे ही आधार से इधर के प्रान्तों का चन्द्रगुप्त के द्वितीय पुत्र गोविन्द गुप्त ने सम्राट प्रतिनिधि के अधिकार से शासन किया ।

परन्तु धीरे धीरे मेरा यह सुन्न भो जाता रहा और पशुतः मैं उस सुन्न से बंचित होकर ही अधिक सुली हूँ । वैशाली और लिच्छवियों के नाम कभी प्रजासत्ताक स्वतन्त्रता के पर्याय थे; कभी गणतन्त्रों ने राज्यों से आक्रान्त होकर उनकी ओर देखा था, तब उन्होंने अपना अभय हस्त उनकी पीठ पर रखा । परन्तु अब वह शक्ति उनमें न रही तब अच्छा है ये भी न रहें । अब वे नहीं हैं न वैशाली न उसके लिच्छवि ।



पाटलिपुत्र

मैंने क्या देखा, क्या न देखा ? कर्मठ की तलवार के रक्त, विन्दु और आर्त के आँसू दोनों मेरे वक्ष पर गिरे हैं। दोनों ने मुझे गोला किया है, और धरती की भाँति निष्काम मैंने उन्हें धारण किया है। मैंने जो देखा है वह उदात्त है, पावन है, अमानक है, धृष्ट है।

मेरी छाती पर विशाल साम्राज्यों के पाए रखे गए जिनके कँगूरों ने सूरज-चाँद के षोडशों की गति रोक ली है, पर उनके भूमिगत होने पर मैंने उनकी धूल उड़ती और अन्तरिक्ष में विलीन होती भी देखी है। दूर के विदेशी रितालों की गर्विली-विजयिनी आवाज आज भी मेरी स्मृति में दरार डाल देती है। आज भी उनकी पैनी चोटों से कराहने वालों की आवाज कानों को छेद देती है।

अब सुनिए मेरी कहानी। गंगा और शोण का वह मनोरम कोण

जहाँ दोनों ही नदी की लहरें एक दूसरे से टकरा-टकरा कर टूटती थीं, जहाँ उनके उत्थान-पतन बाध में कुहासा उठा देते थे, भाग उठ उठ कर भिखर जाती थी, तट को उज्ज्वल कर देती थी। वहीं पाटलि के लाल-लाल फूल दिगन्त तक फैले मेरे भावी लाल इतिहास की भूमिका लिखते थे, लाल कहानी का अंजल सजाते थे।

वहीं पाटलि गाँव अपने लाल कलेवर से मोंकियों और धीवरों का षड-परिवार लपेटे सदियों से खड़ा था। उसी गंगा शांण के कोण में पूर्व सागरगामी पोत लंगर डालते थे, वहीं लौटने वाले महाज पनाह लेते थे। वहीं अपनी हिंसिकाएँ लिए जल-यस्यु भी इन आने-जाने वाले जहाजों पर आक्रमण करने के लिए टुकड़े रहते थे।

वहीं अनेक बार वज्रिज्यों के देश से आते और राजगृह से जाते समय शाक्यसिंह बुद्ध ने गंगा पार किया था। अनेक बार इसी पाटलि ग्राम में बट की छाया में तथागत का राजगृह के भीमानों ने स्वागत किया था, उनके मर्मरसों प्रवचन मञ्जुषूओं के कन्धों से कन्धे मिलाकर सुने थे, फिर शाक्यसिंह को विदा किया था।

वैशाली के वज्रिज्यों के उत्कर्ष ने मगध की नींद हरान कर दी थी। अजातशत्रु के उत्तर 'प्रसर' में वज्रि-लिच्छवियों का गणतंत्र असाधारण अवरोध था। मैं ईसा पूर्व की उस छठी सदी में घुरचाप मागधों और वज्रिज्यों के पैंतरे देखता रहा। उनके दाँव-पेंच जब तब तलवारों की चोट में समाप्त होते थे।

मगध की प्रसरलिप्सा बढ़ चली पर वज्रिज्यों ने अपनी ढालों से गंगा तट पर चट्टान खड़ी कर दी। उन्होंने विदेह धनक का एकतंत्री राजतंत्र उलट कर अपने गणतंत्र की नींव डाली थी। उसे उन्होंने अपने परिवार और जागरूक जन चेतना से विकसित और शक्तिमान किया था। मगध के राजतंत्र से उन्होंने सफल लोहा लिया था। मागध विविध

को मैंने अंग को, आत्मसात करते देखा था पर वज्रियों को छेदना उनके लिए संभव न हो सका।

उनके घाँके जवान गंगाभार से अपने व्यापक गीत गाते जिनकी गूँज जल राशि के शिखरों पर डग भरती राजगृह के भवन-कलशों से टकराती, राजा के मन में चोब उतरान करती। अनेक बार बिदेइ सैनिकों ने गंगा पार कर मागध रक्षुधावारों को लूट लिया था। विभिन्न ने उनसे शत्रुता विच्छेदनक जानी और उनसे विवाह संकथन स्थापित कर लिया।

पर अजातशत्रु वज्रियों को लाँघ कर अपने राज्य की सीमा हिमालय की छाया तक ले जाना चाहता था। वज्रियों की गतिविधि देखते रहने के लिए उस प्राचीन पाटलि गाँव के अंबल में गंगा शोण के अर्ज-स्वित कोण में उसने मेरे दुर्ग की मटियाली प्राचीरें खड़ी कर दीं। उन्हीं मटियाली प्राचीरों में मेरी भावी महत्ता की आत्मा जगी।

उदायीभद्र को तलवार चमकाने की कुछ विशेष आकांक्षा न हुई। पर गंगा-शोण के कोण में विशाल नगर के निर्माण की उसकी इच्छा प्रबल बनी रही। धीरे धीरे मेरा आकार-प्रकार फैलने लगा। उदायी की आका की देर थी। राजगृह से सार्थवाह चल पड़े। कारवों की गति शीघ्र छिप्र हुई और देखते ही देखते राजगृह का पहाड़ी नगर बीरान हो गया। उसके राजमार्ग सूने हो गए।

सेठ-साहुकार राजा-मंत्री, सैनिक-सेवक सबने मेरी उठती प्राचीरों के पीछे डेरा डाला, पहले पट-मंडप और लकड़ी का फिर ईंट-चूना-पत्थर का।

शिल्पियों की लट-लट में गंगा-शोण की लहरों का नाद सो गया। पाटलि गाँव की धूमिल रेखा भी मिट चली। उसके आकार को आत्मसात कर मैं धीरे-धीरे अपना मस्तक उठा रहा था। राजगृह का वैभव, मिश्रज का ऐतिहासिक ऐश्वर्य लिए मागध का राजा मेरे द्वार आ खड़ा

हुआ—मेरे द्वार जिसके तोरण भी अभी अपूर्ण थे, नंगे, अपने नुकीले शिखरों से आकाश चूमते। अब मैं पाटलिपुत्र था, पाटलि पुत्रों से लाल कुसुमपुर।

धीरे-धीरे मेरे कलश-कंगूरे बादलों में छिप चले। समानान्तर राज-मार्ग और उन पर खड़ी भवन-मंशियों के बीच मगध-राज का यह महल खड़ा हुआ जिसने शूरा और एकमताना के महलों को लजा दिया, जिनको देख विदेशी झमक स्तब्ध रह गए।

उस राजमहल के निर्माण में मगध के राजाओं ने अतुल धन व्यय किया। अजातशत्रु ने पहले ही गंगा पार कर लिया था। मगधियों का गणतंत्र नष्ट-भ्रष्ट हो चला। उनकी विपुल स्तराशि अब मेरे चौखटों में आ गयी। यज्ञिज-नागरिकों ने अपनी अतुल धन-राशि की प्राण की भाँति रक्षा की थी। उनके लिए यह अभोग्य थी। उसका उपयोग वे वैयक्तिक विलास में न कर सकते थे। जनक-विदेह का धन अब केवल राष्ट्र की आवश्यकताओं में खर्च होता था। पर मगध-राज को पैनी तलवार ने उस प्राचीन गणतंत्र की नींव खोद दी। दुख के संचित धन-राशि मेरे देखते ही पहले मेरे निर्माण में फिर राज के गौरव के प्रदर्शन में स्वाहा होने लगी। मेरा सर्वांश उस अमानव निधि से सज रहा था। उसके स्पर्श से मैं पुलकित हो रहा था।

धीरे-धीरे काशी-अयोध्या का बैभव मैंने क्षोण कर दिया। मधुरा-अवन्तिका अवाक हो मुझे देखने लगीं। गौशाम्भो-शरद्वार मेरे ऐश्वर्य को न सह आत्मगत हो गए। द्वारका दूर पश्चिम में समुद्रतट पर कुदती रही। मैं गंगा शोण के कोण में अपना-विशाल-प्रलय शरीर फैलाता जा रहा था। भविष्य की कीर्ति के लिए मेरा संकल्प दृढ़ होता जा रहा था।

मगध पूर्व का पहला साम्राज्य था, मैं उसकी पहली विशाल राजधानी। मेरी परिधि बढ़ी, शक्ति बढ़ी। पूर्वी जनपद अब मेरी रीढ़ की

दक्षियाँ बन रहे थे। उनको आत्मसात करते ही मैं उन राज्यों की ओर बढ़ा जिसकी स्थिति मेरी परिधि के विस्तार में अवरोध थी।

तीन राज्य—कंस, कौसल, अजन्तो (मालवा)। मेरी ओर अजन्तो की चांटों से बरस दिल गया। कौशाब्धी का उदयन विलास की मूर्ति था। फिर भी उसकी तलवार, उसकी वीणा को गुँज में भाँचमक उठती थी पर उसके वंशधर कायर और प्रमादो हुए। मैंने उनकी दुर्बलता पर अट्टहास किया, उसे डकार बैठा। पहले उज्जैनी ने उसे आत्मसात किया फिर मैंने उज्जैनी को। कौसल से काशी मैंने पहले ही ले ली थी, अब उसकी राजधानी आक्खी की बारी थी। जब उज्जैनी को मैंने कुचल डाला तब आक्खी की क्या हस्ती थी।

इसी उज्जैनी के डर से कभी अजातशत्रु ने राजगृह की दक्षिण प्राचीरें छुट्ट करवाई थीं और यद्यपि कौसल के प्रसेनजित ने उत्तर के सिंहद्वार पर दम तोड़ा था, उज्जैनी के चरह प्रद्योत महासेन ने उस कमजोरी पर मुक्कद दिया था। पर आज जब मैंने उज्जैनी को आत्मसात किया तब न चरह था, न गोराल। और अराजक गुणों की शक्ति। कितने दिन मेरी विनीत सैन्य-शक्ति की टक्कर सह सकती थी? टूट गई, उसके टुकड़े चूर-चूर हो गए।

कौसल को मैंने शाक्यों के विरुद्ध ललकार दिया था। तपागव बुद्ध के महान शाक्य कपिलवस्तु के संपागार में राजतन्त्र का उपहास करते थे। मेरे इशारे से प्रसेनजित के नेटे विह्वलन ने कपिलवस्तु में इतना नर संहार किया कि यम के रोंगटे खड़े हो गए। शाक्यों से धूनकौसल ने कोलियों और मल्लों को कुचल डाला। मैंने स्वयं लिच्छवियों, वज्जियों को डकार लिया था। गण और संघ अपनी अराजकता खाँ बैठे। बंग से मथुरा तक, हिमालय से उज्जैनी तक का साम्राज्य मेरा था—यह भारत का पहला साम्राज्य जो पूर्व में

सूरज की भाँति उदित हुआ और अब आकाश की चोटी छूने बंद चला था ।

मैं उस साम्राज्य का केन्द्र था । संसार में तब दो बड़े साम्राज्य थे—पहला ईरानियों का, यशु तट से यूनान की सीमा तक; दूसरा मेरा, मगध का, यमुना से पूर्वी सागर तक । ईरानी दाग ने जब अपनी लम्बी भुजायें बढ़ा कर सिन्ध और पंजाब को अपने साम्राज्य का भीतरी प्रान्त बना लिया तब मैं अपने उदन के अनिश्चित स्वप्न देख रहा था ।

माना, मुझे बढ़कर सिन्धु तट पर ईरानियों से लोहा लेना था । पर क्यों ? भारत को अपने छत्र के नीचे लाए बिना यह सम्भव कैसे था ? पंजाबियों के गश् और संघ राज्य जो सीना ताने खड़े थे उनकी साम्राज्यवाद से चिढ़ो । मैं भी उनकी ओर से उदासीन था । पड़ोसी शाक्य कोलिय-मल्ल वज्जी मेरे लिए काफी थे, पंजाब के मालव क्षत्र के आरह-वृद्धी, यौधेय-कठ दूर के दुश्मन । विदेशी को तहस-नहस करते मैंने देख लिया ।

मैंने फिर देखा जो कभी न देखा था—क्षत्रिय-शूद्र संघर्ष । भारत में ब्राह्मण-क्षत्रिय संघा से लड़ते आए थे, उनके संघर्ष मेरे पहले भी हुए थे, उनकी कहानी मैंने सुनी थी । मेरे सामने भी हुए, उन्हें मैंने स्वप्न देखा, पर क्षत्रिय-शूद्रों का संघर्ष मैंने न सुना था न देखा पर अब शूद्र ब्राह्मणों की छाया में खड़े थे, ब्राह्मण उनकी पीठ पर थे ।

शूद्रों के प्रचल प्रतिनिधि महायज्ञनन्द ने इतिहास-प्रसिद्ध शैशुनागों का कुल मगध से उखाड़ फेंका । हर्षक शैशुनागों का वह कुल जिसने विन्धिसार और अजातशत्रु हुए थे, दर्याक और उदासीन, नन्दिबर्धन और महानन्दी । नन्दिबर्धन की सेनाओं ने मगध पार कर सुवर्ण रेखा लाँच कलिंग का राजमद खूर कर दिया था, विशाल जिनकी मूर्ति कलिंग की

राजधानी में प्रतिष्ठित थी। गर्भगृह के आधार से उलाह उसने उसे विजय-स्मारक के रूप में मेरी प्राचीरों के पीछे ला खड़ा किया।

महानन्दी की रानी को नार्ई के रूप का दास होते फिर मैंने देखा। नार्ई ने एक दिन मेरे देखते ही देखते मगध की रानी की सहायता से अपना छुरा राजा की गरदन पर फेर दिया। फिर तो उस भेरे राजकीय अवरोध में जिस विलास-सायङ्ग का समारोह हुआ उसकी कल्पना नहीं की जा सकती। कुलदर्प से मरे राजाओं का 'शुद्धान्त' अन्तःपुरीय अमर्यादा से निरान्त अगवन् घुसित हो उठा। महल के देवी-देवताओं ने विलास के नरगे कृत्यों से आँखें झुप लीं।

इसी विलास की देन थे महापद्मनन्द और उसके आठ पुत्र। मैंने उसे अपने सधर नार्ई पिता की संरक्षा में बढ़ते-पलते देखा। उसके बचपन में ही दूधुक नार्ई के शालानुर गाँव से वह पठान-ब्राह्मण आया जिसे पाणिनि कहते थे, जिसने अध्याध्यायी के सूत्र रचे, इसी भेरे ही नगर में। मुझे याद है, जब वह पहले पहल अपने उदीच्य वेश में, कुर्ता, सलवार और द्रापी (वाल्कट) पहने, गरदन तक कटे चालों पर उष्णीय बाँधे भेरे राजमार्ग पर उतरा तो दर्शकों की भीड़ लग गई थी। उसी पाणिनि के नए व्याकरण सूत्र शूद्र महापद्मनन्द ने रटे।

कात्यायन-वररुचि ने उसकी अवानी में उसे व्याकरण और शास्त्र में दीक्षित किया। महापद्मनन्द ब्राह्मण कात्यायन का अल्ल बना। मैंने बहुत कुछ देखा सुना था। अब मैंने इस अनदेखे, अनसुने इतिहास के लिए नेत्र-भोत्र खोल लिए।

धनी जनता को लूट कर, छोटे राज्यों का सहस-नहस कर उसने अनन्त धनराशि इकट्ठी कर, अनन्त सेना एकत्र की। कोश और सैन्य बल एकत्र कर उसने अपना 'महापद्म' नाम सार्थक किया। मैं बुराबा

सहमा-सहना उसका चरित देखता रहा। कराह और चीत्कार हवा में थी, आवाजें आर्तक से शोकिल थीं।

क्षत्रिय राज्यों को उसने समूल नष्ट कर 'सर्वज्ञान्तक' विरुद्ध भारण किया। उनके विनष्ट परिवार से अर्जित कोपराशि से मेरे कोटे भर गए। नहीं कह सकता किंतु अभिवृत्ति के साथ मैं धन के इस अनन्त आयात को देखता था। पर्वरोलित और रोम के गणकों का अंकगणन मेरे धन की अपारता सुन गुँगा हो गया। इन राजधानियों के वैभव पर मेरी नैषार्जित संपदा व्यंग करने लगी।

इसी काल ईसा पूर्व चौथी सदी में मगध में यह-फलह का आरम्भ हुआ, यह युद्ध का, जिसने मेरी राजनीति की काया पलट दी। धन और शक्ति मद से अन्धे महापद्मनन्द ने मन्त्री शकटार को सपरिवार बन्दी कर लिया, फिर उसके परिवार का अन्त भी कर दिया। अपनी उदासीन आँखों से मैंने यह नृशंस हत्या व्यापार देखा।

इसी बीच एक और घटना पड़ी। शाक्तों में मोरियों का एक प्रख्यात कुल था। उसका एक मात्र वंशधर चन्द्रगुप्त मौर्य मगधराज के यहाँ नौकरी करने के लिए आया। मैंने देखा उसकाल लाठ प्रशस्त था, उर्जस्थित उसका वृत्त, प्रलम्ब उसकी भुजायें। उसने अपने को अक्षत्रिय कहा और मगधराज लुभ गया। उसने न जाना, उसके कुन्तलकेश में नागों का डेरा था, उसके हृदय में महात्यागवादी थी, उसकी भुजाओं में साम्राज्य निर्माण का बल था, उसके कन्धों में उस साम्राज्य का भार सहन करने की सामर्थ्य थी। पर मैंने जाना, न सही समस्त, पर कम से कम भावी की भूमिका निश्चय मैंने जान ली और मैं अनागत के स्वागत और सहन के लिए कटिबद्ध हो गया।

चन्द्रगुप्त महाराज्यनन्द का प्रिय पात्र हो गया और नित्य सेना में उन्नति कर चला। फिर शीघ्र वह सेनापति के उस पद पर पहुँचा जहाँ

उसकी महात्वाकांक्षा का नन्द की महात्वाकांक्षा से टकरा जाता स्वाभाविक था। मैं यह पहले अस्पष्ट फिर स्पष्ट संघर्ष देखता रहा। पर चन्द्रगुप्त नन्द की धरातल तक न पहुँच सका। इसी समय उसके स्वयं होने का भेद खुल गया और नन्द के कोमल से बचने वह भागा, मगध की साम्राज्य सीमा के बाहर, दूर पंजाब और सीमा प्रान्त की ओर जहाँ नन्द का परम शत्रु ब्राह्मण चाणक्य नन्द वंश के उन्मूलन के साधन संघित कर रहा था।

चाणक्य! हाँ वह उच्चरित शब्द जिसकी ध्वनि में एक पूरी संस्कृति का संस्कार है, एक प्रतिष्ठित राजवंश का उन्मूलन, गण-राज्यों का सर्वनाश, साम्राज्य का विस्तार, उचित-अनुचित का उद्धारोद्धार, क्रूर और फुटिल का निःशेष समावेश, आर्य का प्रतिशोध, ब्राह्मण का कोप, कर्मठता अभूतपूर्व एकता, औदार्य-वैराग्य की मानवी पराकाष्ठा!

फुटिल के कुल में यम की दिशा में मेरे नगर में जब उस ब्राह्मण का जन्म हुआ था तब का वातावरण मुझे याद है। दरिद्र ब्राह्मणी ने उसे प्रसव किया था। उस दिन प्रचण्ड आँधी चल रही थी। गंगा शोण की लहरें आसमान चूम रही थीं और नवजात आँखें फाड़-फाड़ उन्हें देख रहा था। पाँच वर्ष बीते और उसके पिता तथा ज्योतिषी ने उसका साहस देखा।

ज्योतिषी ने उसके दाँतों की वक्र पंक्ति देख कहा—दाँतों की वक्रता बालक का महान बनाएगी,—दाँतों की वक्रता! क्या सचमुच दाँतों की वक्रता? उसको क्षमता-हृदय नहीं? पिता की जानु से वह बूढ़ पड़ा सोधा चट्टारे के नीचे और उठा लिया उसने पाठ का पत्थर। 'हे गणक! देख यह दाँतों की वक्रता' यह रही। दाँत नीचे आ रहे, चाणक्य ऊँचा चढ़ता गया।

इसी चाणक्य का नन्द ने एक दिन आरु में शिला पकड़ कर अप-

मान किया। खुली शिखा पकड़ कर उस ब्राह्मण ने जो भीषण प्रतिज्ञा की वह आज भी मुझे याद है। नन्द वंश का उन्मूलन करने वह मगध से बाहर निकल गया, पंजाब की ओर। वहीं चन्द्रगुप्त उससे जा मिला।

तभी प्रचण्ड आँधी की भाँति सिकन्दर की प्रीतिवाहिनी पंजाब पर बह गई। वहाँ के राश्यों को उसने कुचल डाला। पर मेरे आतंक से उसे न्यास के पार आने का साहस न हुआ। चाणक्य-चन्द्रगुप्त चुपचाप अक्षर की प्रतीक्षा कर रहे थे। सिकन्दर के लौटते ही उन्होंने उसकी बची सेना भारत से निकाल बाहर की ओर वे मेरी ओर मुड़े।

उनका धातंक बढ़ा था। नन्द के लिए कुछ न हो सका। मैं देखता रहा वह काण्ड जो रक्त से रँगा था, जिसने मेरी धरती लाल कर दी। नन्द के कुल में एक न बचा। चन्द्रगुप्त मौर्य नन्दों की गद्दी पर बैठा। चाणक्य साम्राज्यवादी था। उसने पंजाब और मध्य देश के गणराज्यों को मेरे छत्र के नीचे ला खड़ा किया। मेरा ऐश्वर्य अब हिमालय की चोटी से ऊँचा था। मैं विस्तृत साम्राज्य का केन्द्र था।

जब सिकन्दर का सेनापति और सीरिया का सम्राट सेल्यूकस भारत के पश्चिमी तट पर फिर अधिकार करने हिन्दूकुश लाँच कर बढ़ा तब चन्द्रगुप्त ने उसके टुकड़े तोड़ दिए और अब मैं हिन्दूकुश तक के प्रान्तों पर शासन करने लगा। हिन्दूकुश से महिषमण्डल (मैसूर) तक मेरी स्तुति बोलने लगी।

नन्द का ब्राह्मण-मंत्री राजशक्ति फिर भी एक काल तक स्वामी के प्रति-शोध में लड़ता रहा। उसने षड्यन्त्रों की परम्परा बाँध दी पर चाणक्य के सामने उसकी एक न चली। उसने चन्द्रगुप्त को बालबाल बचा लिया। मेरे महलों में वे षड्यन्त्र चलते रहे। जैसे मैंने महापद्मनन्द की मा के षड्यन्त्र देखे थे, इनको भी देखता रहा।

चाणक्य ने भारत के दूरस्थ प्रान्तों को एक छत्र के नीचे ला खड़ा किया। चन्द्रगुप्त ने मेरा किर से निर्माण किया। मेरे नगर का परकोटा असाधारण बना, लकड़ी का परन्तु सुदृढ़। अब तक मेरा आकार-प्रकार बढ़ गया था। मैं अब नी मील लंबा और पीने दो मील चौड़ा था। ६ सौ फुट चौड़ी तीस हाथ गहरी शोण के जल से भरी खाई मेरी रक्षा करती थी। उसके पीछे मेरे चतुर्दिक मजबूत काण्ड का परकोटा दीढ़ता था जिसमें पाँच सौ मीनारें थीं, चौसठ द्वार थे।

सुविस्तृत हरे मैदान में कृत्रिम मत्स्य-सरों से घिरा चन्द्रगुप्त का राजप्रासाद था जिसकी सुनहरी छेलाँ पर चाँदी और रत्नों के पक्षी बैठे थे। चन्द्रगुप्त प्रातःकाल उठते ही यवनीमुख पक्षों के दर्शन करता; यवनियाँ जो बचपन में ही अपने गरीब मा-बाप से खरीद ली जातीं और राजप्रासादों की शोभा बढ़ातीं। सम्राट की चे ही शरीर-रक्षिकाएँ थीं, वे ही उसके सख्त रक्षकों। चाणक्य का यह विधान था।

उस राजसभा में मैंने चन्द्रगुप्त के साथ उस ग्रीक राजकुमारी को बैठे देखा, जिसे अपनी विजय के स्मारक स्वरूप सम्राट ने बरण किया था। सेल्यूकस का भोक्त राजदूत मेगरस्थनीज भी वहाँ आदर पाता। मेरे यहाँ निवास करने वाला वह पहला विदेशी राजदूत था।

राजप्रासाद के निचले प्रांगण में पशुधावन और युद्ध होते और मेरे नगर के भीमान पशुओं को बीभरस युद्ध में गिरते देख प्रसन्न होते, उन पर दाँव लगाते। स्वयं चन्द्रगुप्त दाँव लगाने में न चूकता।

मैंने फिर उस विस्तृत साम्राज्य को अकर्मण्य किन्दुसार के अधिकार में जाते देखा। पर उस साम्राज्य की सीमाएँ अशोक के समय और बढ़ीं। अशोक ने अपने राजप्रासाद में पत्थर का उपयोग किया। उसने कलिंग-विजय की। कलिंग-युद्ध की भीषणता ने उसे नया हृदय दिया।

मैं भी मारकाट की नित्य के संवादों से ऊब उठा था। मानवता की इस नई ऊँचाई अशोक को पा मैं पुलकित हो उठा।

अशोक ने राजनीति में एक नए सिद्धान्त की रचना की। प्रजा को सन्तान समझने का सिद्धान्त भारत में जाना हुआ तो निश्चय था, पर था वह धर्म शास्त्रों तक ही सीमित राजाओं ने प्रजा को सदा गाय समझ कर देहा ही था। अब अशोक ने एलान किया कि जैसे वह अपने पुत्र-पौत्रों का इस लोक और परलोक में कल्याण चाहता है वैसे ही वह अपनी प्रजा का भी कल्याण चाहता है। उसके हित में उसने अनेक सुखद कार्य किए। चाणक्य के अर्थशास्त्र और प्रसर नीति को उसने उठा कर अलग रख दिया और मानवता के सिद्धान्तों से शासन करने लगा। अपने उपदेश उसने शिलालेखों और स्तंभों पर खुदवाए। इन्हीं स्तंभों में से एक का मस्तक वह सिंह-शिखर है जिसकी प्रतिकृति आज भारत की राष्ट्रीय मुद्रा है।

सपनों के प्रति अशोक की यह धारणा कुछ स्वाभाविक न थी क्योंकि मैंने उस महाकाय को भी रक्त के समुद्र में हलते देखा था और यह रक्त केवल राजनीतिक प्रतिद्वन्द्वियों का ही न था वरन् सगे भाइयों का था। यह कुछ आश्चर्य न था कि सुसीम जो बड़ा भाई था, अपने हाथ से राजद्रुण्ड आसानी से निकल जाते देख सकता यद्यपि उसकी शक्ति के ऊपर अशोक ने कुमारायत्या में ही कभी विजय पाई थी। तब अशोक उबैनी का शासक था, अपने पिता का प्रतिनिधि, और तभी सुसीम तक्षशिला में परिमोत्तर सीमा का अन्तपाल था। दूध-कज्जड़ और काकिरस्तान के पठानों ने जो सदा से अपने शासकों के विरुद्ध तलवार उठाते रहे हैं, बगावत कर दी थी और जब सुसीम उनका न सँभाल सका था, तब बिन्दुसार ने अशोक को ही उस सीमा-प्रान्त की शासन रज्जु सौंपी थी और अशोक ने यह सिद्ध कर दिया था कि

उसकी बाहुओं में उन प्रान्तों की रक्षा के अर्थ प्रसुर बल था, जिनको कभी उसके पितामह ने सीरियक सम्राट सैल्यूकस से छीन लिया था।

वही अशोक वह था जो अब पाटलीपुत्र की गद्दी पर था और जैसा मैं पहले कह चुका हूँ, उसकी सारी धारणाएँ अपने पितामह की प्रसर नीति के अनुकूल थीं। उसने भी साम्राज्य बर्द्धन के स्वप्न देखे थे, हिन्दूकुश से कुमारी तक भारत का एकछत्र सम्राट बनने की उसकी भी प्रबल कामना हुई थी और उसने भी अभियान किया था। वह अभियान उत्तर भारत के उस अकेले स्वतंत्र प्रान्त के विरोध में था जिसे पहले नन्दराज ने लूटा खसोटा था, उस पूर्व समुद्रवर्ती कलिंग के विरुद्ध।

अशोक अनन्त सेना लेकर मेरे प्राचीरों के चौखट द्वारों से बाहर निकला और उसकी विजयवाहिनी पूर्व समुद्र की ओर चल पड़ी थी। तब मुझे भयानक आशंका हुई थी। मैं मगध का केन्द्र था और प्रत्येक वाहिनी जो बाहर निकलती, मेरी शंका का कारण थी। मेरे प्रभु को धूल न लगे इस आशंका से मैं अक्सर उद्भिन्न हो जाया करता था। आखिर मगध की राजधानी अब राजगृह न थी, उसकी प्राचीरें कबकी बीतान् हो चुकी थीं और शक्ति अब मेरी प्राचीरों के पीछे मेरे अंग-अंग में छिपती पड़ी थी। अशोक जब चला तब मैं एक धार काँपा क्योंकि कालिंगों का बल उसके हाथियों ने बढ़ा रखा था और स्वतंत्रता की मर्यादा ने मैदान में अशोक के विरुद्ध लाखों की संख्या में जनता फेंक दी थी। जब चन्द्रगुप्त ने देश के प्रान्त पर प्रान्त जीते थे तब कलिंग ने उत्कण्ठा और चकराहट से उसकी बढ़ती साम्राज्य-सीमाओं को देखा था, जिनमें धीरे-धीरे सनी उत्तर प्रान्त समा गये थे—काकुल कांधार से अंग बंग तक, सोझ से गिरनार तक, द्रिमालय से मैसूर तक। कलिंग ने फिर भी निरंतर इस प्रकार की प्रसर नीति का विरोध किया

था। एक बार नंदों से विजित होकर वह फिर स्वतंत्र हो बैठा था। इधर क्रिन्दुसार के मरते ही दो भाइयों में युद्ध छिड़ा तो वह फिर एक बार तैवर बदल बैठा और अश्व स्वतंत्र था। अशोक अपनी विशाल सेना लिए स्वर्ण रेखा को लाँघ जय समुद्रवर्ती मैदानों में आ खड़ा हुआ तब लाखों की सेना ने उसका विरोध किया। हयिषारवन्द निहत्थे सभी अपनी मान मर्यादा की रक्षा और साम्राज्य निर्माता के विरोध के लिये मैदान में उतर पड़े, परन्तु शिक्षित विनीत मागध सेना से लोहा लेना कुछ आसान न था। पर हाँ एक लाख के लगभग कालिंग मागध की नंगी तलवारों पर दौड़ गये और अशोक उनके नगरों में तभी प्रवेश कर सका जब डेढ़ लाख की बची आबादी भी मृत्यु के घाट उतर गई। टाई लाख आदिमियों का मृत्यु के घाट उतर जाना, लाखों बच्चों का अनाथ हो जाना, अनन्त व्याधियों का घर घर लेना, अपाहिजों भिक्षुमंगों का इत्ततः बिलर जाना कुछ ऐसा न था जिसे मनुष्य बरदाश्त कर सकता। अशोक के रोधे खड़े हो गये, कालिङ की तलवार ग्यान को लौट पड़ी। निश्चय विजेता ने इतिहास में कभी अपनी मुँह की न खाई थी। कलिंग हारा पर वस्तुतः हार मागध की हुई। अशोक को लौटा तो विमन सत्र कुछ खोये हुए था। उसने राजनीति की काया पलट दी, उसने मेरीप्रोप के स्थान पर धर्मप्रोप का आरम्भ किया। देश विजय के स्थान पर धर्म विजय का।

परन्तु सब धर्मों के लिये जो उसकी उपायना जगी तो इतनी तीव्र थी कि उसे मात्राओं और सीमाओं का ज्ञान न रहा। तही उसने पशुवध अपने साम्राज्य में बन्द कवा दिया और यह घोषणा सबसे प्रथम उसने मेरे राजप्रासाद में अपने भोजनालय के सम्बन्ध में ही प्रचारित की। परन्तु बौद्ध धर्म के प्रति अपनी आसक्ति के फलस्वरूप उसने संप

को इतना कुछ दे डाला कि उसका मन्त्रिमंडल सहसा घबरा उठा। मुझे आज भी याद है, राजप्रासाद के बिखले प्रमद वन में जब वह एक बार विमन बैठा था, तब उसके मन्त्रियों को मजबूर होकर उसकी शक्ति की सीमायें निर्धारित करनी पड़ी थीं। मन्त्रिमंडल को इसकी परवाह न थी कि राजा किस धर्म का उपासक है, किस दर्शन का जिज्ञासु, परन्तु प्रजा को गादी कमाई से अर्जित धन वह इस प्रकार जमा होते और केंके जाते, न देख सकता था। प्रधान मंत्री बुधराजगुप्त ने संप्रति की सहायता से वह विपुल धनराशि संभाराम के कोष्ठों में दान कर दिया था। राधगुप्त जब प्रमद वन में पहुँचा तब भिन्न और क्षुब्ध मगधराज और स्वेच्छाचारी चन्द्रगुप्त का उदात्त पीव अशोक बैठा आँवला खा रहा था। राधगुप्त पर दृष्टि पड़ते ही उसने जो कहा वह आज भी मेरे कानों में गूँज रहा है—“राजगुप्त, राजा कौन है तुम या मैं ?” “मैं साम्राज्य का तुच्छ सेवक हूँ, सम्राट, भला मैं उसका स्वामी कैसे हो सकता हूँ ?” राजा का विवरण मुख और धूमिल हो गया था जब उसने कहा—“राजगुप्त मुझे यह आधा खाया हुआ आमलक तक किसी को देने का अधिकार नहीं फिर राज्य का स्वामित्व क्या मेरे ऊपर ध्यंग का अट्टहास नहीं ?” राधगुप्त जानता था कि संभाराम के प्रति दिये विपुल धनराशि का अवरोध ही राजा के इस क्षोभ का कारण है और वह चुपचाप पार्श्वद्वार से निकल गया था। वह तब मैंने देखा और गुना पर जो आगे घटा वह सदा अनदेखा था और मैंने उसे भी चुपचाप देखा और सदा।

अशोक के उपदेश जनता ने अनेकांशा में अंगीकार किये पर राजनीति उपदेश से रक्षित नहीं होती। राज्यलक्ष्मी को सबल बाहुओं का दोला चाहिए जो उसे उछाले और फिर निर्भीकता से अंकगत कर ले। साम्राज्य की चूलें हिल गईं। दूरवर्ती प्रान्त आन्तरिक शासन

में सर्वथा स्वतंत्र हो गये, अशोक के पोती दशरथ और सम्प्रति ने चन्द्रगुप्त के साम्राज्य के दो टुकड़े कर लिये। सम्प्रति ने पश्चिमी छोर सँभाला, दशरथ ने पूर्वी। सीमाप्रान्त पर विदेशी सेनाओं की धमक सुन पड़ने लगी थी। मैं केवल मगध का ही हृदय न था, बल्कि मेरी शिराओं में अखण्ड भारत का रक्त भी प्रवाहित होने लगा था जिसे, मैंने न पड़ले जाना या न पीछे। शक्ति न चाहता हुआ भी जब उसे पा जाता है तब रक्त का स्वाद पाये बिना की भाँति वह उसे छोड़ना नहीं चाहता। शक्ति का स्वाद मैंने चख लिया था, सिन्धु-कुश की दीवारों और पामीर की छत्र से लगी मेरी सीमा थी। उस पार की राजनीति को मैं अत्यंत उत्कण्ठा से देखता था। उस पार की नीरवता मुझे कमर फटने को लालायित करती थी, सेनाओं की धमक भय का आभास कराती थी।

परन्तु अशोक की राजनीति ने तलवार के प्रति जिस उदासीनता का अंकुर रोपा था उसने रक्षा की छाया सिन्धु-कुश के प्रान्तों से हटा ली और उसके हटते ही विदेशी दातुओं ने भारत की ओर अपनी लालच भरी दृष्टि फेंकी। जिस सीमा पर चन्द्रगुप्त ने सेल्यूकस के टखने तोड़ दिये थे, वही उस सीरियक सम्राट के प्रतिनिधि प्रोपेथ ने प्रोकों का विजय भंडा गाड़ दिया। काबुल का रौदता वह सिन्धु के मैदानों तक उतर आया और मेरी नसों का रक्त खूब चला। अगर वह बढ़ता चला आया होता तो कुछ अजब न-या कि मगध का केन्द्र मैं पाटलिपुत्र सर्वथा उसका हो गया होता और हो भी गया, यद्यपि उसका नहीं, उसके दामाद का।

सम्प्रति गुजरात काठियावाड़ में जैन धर्म में प्रजा को जबरदस्ती जब दीक्षित कर रहा था तब बाहलीक (बैक्ट्रिया—बाल्खी—बलख—बदख्शान) के राजमंच पर एक नया नाटक खेला जा रहा था। सीरिया

के साम्राज्य से पार्थव और बाल्सी के दोनों बड़े प्रान्त स्वतंत्र हो गये थे और बाल्सी के राजसिंहासन का शीघ्र ही सामरिक पर्यटक यूयिदेमों ने स्वायत्त कर लिया था। सीरियक सम्राट ने उस पर अपने आक्रमण किये परन्तु उसके पुत्र दिमित्रिय के रणशूरता के कारण उसे हारना पड़ा था। इसी दिमित्रिय को जिसे ग्रीक दैमित्रियस और भारतीय दिमित कहते थे उसने अपनी बेटी न्याही और अपना अनमान भुलाने के लिये वह हिन्दूकुश पार कर उद्यान की उपत्यकाओं में उतर आया था। सीरियक सम्राट तब अपने आधार से बूर शत्रु के देश में कुछ कर न सका और उसे शीघ्र स्वदेश लौटना पड़ा परन्तु अपने दामाद के लिये उसने विजय का मार्ग अनावृत कर दिया। दिमित्रिय हिन्दूकुश को लौंघ भारत की विजय के लिये तब चला, जब पश्चिमी भारत की प्रजा सम्प्रति की धार्मिक तलवार की पैनी चोटों से कराह रही थी। कुछ आश्चर्य नहीं कि उसने विदेशी दिमित्रिय को ईव प्रेरित 'धर्म मोत' कहा जिस संस्था से गार्गी-संहिता के युग पुराणकार ने उस विदेशी विजेता का चरित्र लिखा।

अब तक सम्प्रति और दशरथ मिट चुके थे। मौर्य साम्राज्य के प्रान्त बिखर चुके थे और मगध का हिलता साम्राज्य सँभालने की शक्ति मुकमें न रह गयी थी और न मेरे अभिभावक शोमशर्मा में ही जो अपने पूर्वजों के शक्तिमान विजिगीषा पर उत्कट ध्यंग था। नारी और स्त्रुत सेवन ही उसके व्यसन थे और पुरोहित से छीना झपटी उसकी निडा थी। दिमित्रिय ने पश्चिमी पंजाब में अपनी सेना के दो भाग किये। एक को अपने दामाद मेनामदर के नेतृत्व में उसने पूर्व की राह से मेरी और मेजा, दूसरा भाग स्वयं लेकर सिन्ध देश और गुजरात जीतता वह नगरी (मध्यामिका) में आ धमका। पतंजलि ने दोनों भवानक पदध्वनियों की अपने 'महाभाष्य' में प्रतिध्वनि की—अरुणद्

यवनः साकेतम्, अरुणद् यवनो माध्यमिकाम् ! दोनों ओर से विमदे की गति से ग्रीक विजयवाहिनियों ने मेरे प्राचीनों में प्रवेश किया। तभी सोमशर्मा ने राजगिर की पार्वतीय प्राचीरें लांघ गया के महा-कान्तार में शरण ली और पुरोहित सेनापति पुष्पमित्र ने अपने पौत्रिक विदिशा की राह ली। मैं असहाय अरुद्धित मुँह के बल गिरा और मेरी सड़कों पर मृत्यु की विभीषिका नम हो नाच उठी।

विदेशी सचमुच 'धर्म मीत' होकर न आया था और जो कुछ उसने किया, वह मेरे कहने की बात नहीं युग पुराण के पृष्ठों की बात है। अब तक मौर्यों के प्रशस्त मगध साम्राज्य की रीढ़ टूट गई थी और अंग प्रत्यंग खिलर चुके थे और यदि कहीं कुछ जान बाकी थी तो उसी कलिंग में जिसे पहले नन्दराज ने, फिर चन्द्रगुप्त ने, और फिर अशोक ने कुचला था। कलिंग के ब्राह्मण चेदि वंश ने उस देश की सीमायें नये सिरे से सुदृढ़ की थी और जैन स्वारवल ने एक ओर सातवाहनों से और दूसरी ओर मगध से सकल लोहा लिया था, परन्तु उसने अपने हाथीगुप्ता के अभिलेख में जा यह खुदवाया कि उसके मगध की राजधानी की ओर बढ़ते ही 'योनराज दिमित' मथुरा भाग गया लगो है नितान्त निष्प्रा। मुझे यह कहते आज दुःख होता है कि भारतीय साम्राटों ने जो अपनी प्रशस्तियाँ खुदवायीं उनका केवल निष्कर्ष सत्य था अधिकतर झूठ प्रशन्सात्मक। भुक्त भोगो होने के कारण यह मुझे भलो भाँति याद है कि दिमित के स्वदेश लौट जाने का कारण महामेघवाहन स्वारवल का अनियान न था बल्कि युष्मकेतिद की दुरभिसन्धी थी। बाल्मी का सिंहासन सूना था युष्मकेतिद ने उसे हड़ग लिया था और पश्चिमी पंजाब में दिमित की राह रोके उसकी प्रतीक्षा में अब वह खड़ा था। दिमित स्वदेश न लौट सका और बाल्मी की गद्दी नव अपनी पत्नी के उसने ली दी।

परन्तु 'भारत के राजा' इस दिमित ने जो-कुछ स्वदेश में लोया, उससे

कहीं बढ़कर इस विदेश में पाया। यद्यपि मैं उसके हाथ से सहसा और शीघ्र निकल गया तथापि सिन्ध और पंजाप में उसके अनेक शासन केन्द्र प्रीकृतता में सदियों पनपते रहे। शाकल में जिस ग्रीक राजकुल का उसके जामाता मेनामदार ने प्रारम्भ किया था वह यद्यपि पुण्यमित्र की क्रोधाग्नि में खादा हो गया परन्तु उसने निश्चय भारतीय संस्कृति पर अपनी गहरी छाप छोड़ी।

और यह पुण्यमित्र कौन था? पुण्यमित्र शुंग, ब्राह्मण क्षत्रिय संघर्ष का एक मात्र पुरातन प्रतीक। अग्नी में विदेशी मारकाट के फलस्वरूप रक्त से रंगा ही था, मेरे शरीर से, सड़कों गलियों से चिरांश की संघ आ रही थी कि एकाएक स्वदेशी तलवारें ही नंगी हो एक दूसरे से लिपट पड़ीं। मौर्यों का अंतिम वृहद्रथ साम्राज्य का वह बंशधर था जो अक्सर उनकी रीढ़ टूट जाने पर खंग हुआ करता। परन्तु उससे बढ़कर वह उस शृंखला की अंतिम कड़ी थी जिसकी परम्परा को कनते बिगड़ते मैंने अपने आँखों देखा था जो अनेकांश में घटना के रूप में मेरी छाती पर ही घटा था। ब्राह्मण क्षत्रिय संघर्ष आज का नहीं पुराना है, तब का जब मेरा जन्म भी न हुआ था, जब आयों ने अभी यमुना भी न लौंघी थी और जब वे अभी सत सिन्धु से सरस्वती तक मैदानों में झूक रहे थे। वशिष्ठ और विश्वामित्र के चिरव्यापी संघर्ष को परशुराम और कार्तवीर्यार्जुन ने बढ़ाया था, उसकी कथा पुरानी है, मेरी अनदेखी, केवल सुनी और मैं उसे न कहूँगा परन्तु निपट ऐतिहासिक काल में महाभारत के जनमेजय और तुकावधेय के भी बाद जाँ उस संघर्ष की एक नव व्यापी शृंखला चली उसकी कड़ियाँ मेरे ही घड़ पर निर्मित हुईं, यह मैंने अपनी आँखों देखा।

बुद्ध और महावीर ने मेरे ही आस पास मेरे उठते प्राचीरों से पूर्व अनेक बार उस ब्राह्मण शक्ति को चुनौती दी थी जिसमें ईश्वर, वेद, संस्कृति और पौरोहित्य प्रवृत्त थे। वह और पौरोहित्य को उन्होंने अनुचित बताया

अहिंसा का प्रतिपालन कर ब्रह्म द्वेष किया था, वर्णाश्रम धर्म की उन्होंने इतिवृत्ति कर डाली थी, वह कुछ बहुत पुरानी बात नहीं, मेरे जन्म के कुछ ही पूर्व की है। शूद्र नन्दों को क्षत्रियों के विरुद्ध ब्राह्मणों ने खड़ा कर जो अपने नीति के लुप में जोला था वह अथर्व साहस और विलक्षण मेधा का काम था। परन्तु शीघ्र ही उस उठते हुए मेघ ने जब क्षत्रिय को कुचल कर ब्राह्मण की आदि शक्ति पर भी अपना वार किया तब ब्राह्मण ने क्षत्रिय के साथ सिरकत की, सम्भ्रा, पर ऐसा सम्भ्रा, जिसमें क्षत्रीय मुर्छित हो ब्राह्मण के छाए में गिरा था। समर्थ चाणक्य को छाया में खदे होने वाले विपन्न चन्द्रगुप्त की यही नर्गादा थी जिसको नित्य-प्रति शंकित और कवलित होते उसके राजगणद के प्रकोष्ठों में मैंने दिन दिन सुना।

सीमाप्रान्त से आकर मेरी नगरी में चाणक्य ने जो डेरा डाला था उसका कुछ अर्थ था, वह व्यर्थ दरखिज न था। संपर्क देशव्यापी हो गया था और सीमाप्रान्त के पठान ब्राह्मणों ने अनेक बार मेरी शरण ली थी। चाणक्य ने जब क्षत्रिय को विपन्न सर्वथा आहत कर लिया तब उसने अपनी कुटिल नीति की विख्यात कौटलीय अर्थशास्त्र में गृहद व्याख्या की। ब्राह्मण तेजस्वी हुआ, क्षत्रीय को उस शास्त्र में यथोचित स्थान मिला, ब्राह्मण की छत्र छाया में, परन्तु इतरवर्ग, विशेषतः निम्न-वर्ग कुचल गए। चाणक्य ने उनकी कगल किया कर दो, क्योंकि उसने समझा कि जिस शूद्र वर्ग की शक्ति ब्राह्मणों ने क्षत्रियों के विरुद्ध मगध में प्रतिष्ठित की है उसकी ओपी उठकर विशिष्ट वर्ग को निगल जायगी और उसका अन्त आवश्यक है।

उपर पदवि चन्द्रगुप्त तो अस्त हो गया परन्तु चाणक्य का सूर्य भी तिरोहित होने से शेष न रहा। पुरोहित-मन्त्री की पकड़ ढीली पड़ते ही क्षत्रीय राजा स्वतन्त्र हो गया और अशोक ने तो राजनीति की काया

पलट ही कर दी, फिर तो निःशंक राजवंशला ने मगध की सीमाओं के भीतर और मेरे वक्त्र पर अग्निभाँड़ ही उलट दिया। धीरे धीरे जो आग सुलग रही थी, वह एकाएक दिमित के लौटने पर भड़क उठी। मौकों का अंतिम वेशवर बृहद्रथ ब्राह्मण षड्वंश का शिकार हुआ। कुछ दिनों पहिले षड्वंश की शृंखला को बढ़ाने के लिए अप्रतिम प्रतिभावान ब्राह्मण पतंजलि गोनर्द—गीँडा से पाटलिपुत्र आ बैठा था, पाणिनि और चाणक्य की तरह। वही इस षड्वंश का प्राण था जिसका केन्द्र उसने बृहद्रथ के पुरोहित सेनापति पुष्यमित्र शुंग को बनाया। पतंजलि निरा दार्शनिक या व्याकरण भाष्यकार न था बल्कि वह भीती हुई ब्राह्मण शक्ति और अरबमेर का पुनरावर्तक भी था। अपने महाभाष्य में उसने विदेशी सेनाओं को धमक की प्रतिष्ठा नहीं उठाई थी उसने उनकी गुना भी था, और बाद में होने वाले पुष्यमित्र शुंग के अश्वमेध का वह ऋत्विज् भी शग था। महाभारत के जनमेजय और दुरकावधेय के यजनान पुरोहित के संघर्ष की बात मैंने केवल सुनी थी, अब बृहद्रथ और पुष्यमित्र शुंग के यजमान पुरोहित संघर्ष को मैंने अपनी आँखों अपने ही मैदानों में घटते देखा। प्रातःकाल जब धाल रवि क्षितिज से लाल उठ रहा था तभी जब बृहद्रथ सशंक मन से आ प्राचीर के कैले मैदानों में अपनी सेना का निरीक्षण कर रहा था तभी खुले आम सेना के सामने ही सेनापति पुष्यमित्र ने बाण द्वारा स्वामी का रुधिर पी लिया। फिर एक बार ब्राह्मण पुरोहित ने क्षत्रिय राजा पर विजय पाई और यह कुछ आश्चर्य नहीं कि जब शुंग ब्राह्मणों ने मगध का राजदण्ड सौंपा तो कश्यप-ब्राह्मणों को और कश्यप ब्राह्मणों ने जाँ दूँरों को सौँगा तो दाक्षिणात्य सातवाहन ब्राह्मणों को। इसका अर्थ है, प्रचुर रहस्य कि एक समय में भारत की आसमुद्र पृथ्वी सर्वथा ब्राह्मण सम्राटों के शासन में आ गई। विषय शृंखला के दक्षिण अभिवाहनों के हाथ में, पूर्व का कलिग चेदी-

वैशीय ब्राह्मण स्वारथेल के हाथ में, और समस्त उत्तर भारत नर्मदा से सिंधु नदी तक शुंगों के हाथ में आ गया।

ऊर्जस्वित बन्ध वाले पुष्यमित्र को स्वामी के ऊष्ण रक्त से अपने प्रशन्न ललाट पर राजतिलक लगाते मैंने देखा, मौर्य साम्राज्य को विनष्ट हो ब्राह्मण की चरुधुरी के नीचे पिस्तले मैंने देखा, और देखा मैंने उसके भग्न स्तूप पर पुष्यमित्र का विशाल साम्राज्य खड़ा होते। स्वामी को मार कर पुष्यमित्र ने अश्वमेध किया, देववाणो संस्कृत को राजपद दिया, यश को सम्मानित कर उसने पौराहित्य को पुनः प्रतिष्ठा की और विधान की नई सृष्टि कर उठने उसे धर्मशास्त्र की सहा प्रदान की। उसे पीछे आने वाली भारतीय संतति ने मानव धर्मशास्त्र कहा परन्तु न तो वह मानव था न धर्मशास्त्र। मनु की मेधा ऋगुर्वेदिक स्तरों में ही कबकी विलुप्त हो चुकी थी। परन्तु ब्राह्मण की ही दी हुई उसकी आन-वृत्तिक परम्परा थी, वह पहला मानव नृसति या और उसकी परम्परा स्मृतिकार ने फिर भी कायम रखनी चाही, कुछ उसी सर्तक कुटिलता से जिससे चाणक्य ने चन्द्रगुप्त को अपनी छाया में लिया था। चाणक्य का चन्द्रगुप्त से आशंका हो सकती थी, जब तक हुई भी और उसने उसे 'वृषल' कहकर पुकारा भी परन्तु पुष्यमित्र और पतंजलि को—अशरीरी मनु-प्रतिनिधि को—उस कृत्रिम मनु-सूत्रीय का भी डर न था। और मनु की स्मृति में आवाज किसकी गुंजी! भृगु ब्राह्मण की जितने गुरु मनु के शब्दों का पुनर्उद्गार करने का प्रयत्न किया। यह जैसे मैकियानेली का असंगत भाष्य फ्रेडरिक महान् लिखने चला हो।

निश्चय वह धर्म शास्त्र मानव न था, भागवत था, ब्राह्मण था और जो सोचता हूँ वह धर्म शास्त्र था, तो अपनी आँखें मैं आप मोच लेता हूँ, हृदय की गति रुक जाती है। वह वाक्, परम्परा, बागाडम्बर मूर्तिमान हो सीमने खड़ा हो जाता है, जैसे उसे सदेह देख रहा हूँ, उसकी वाणी सुन

रहा हूँ। धर्मशास्त्र ? उस धर्मशास्त्र में जन संख्या के चतुर्थांश के पक्ष में अपना निर्णय दिया, दास-शास्त्र बनाया। त्रिगुनी जनसंख्या के अधिकारों पर उसने स्पाही पोत दी, भीमानों और सर्वणों के पाप के मूर्तिमान स्कंध के रूप में अनेक अनेक जातियाँ उठ खड़ी हुई थी, जिनको अनौरस कह कर उस धर्मशास्त्र ने अपने पितृले अप्यायों में गिनाया और भारती का मुख काला किया। वह सब इसी मेरे ही नगर में हुआ। मेरी ही छाती पर, मेरी ही आँखों के खानने। अनुचित, अनन्त माना में अनुचित होते मैंने देखा और सुना है, परन्तु उस प्रकर्ष अनुचित को धर्म की साँव कहते मैंने अब सुना। हुनकर काँप गया। परन्तु मेरा काँपना निर्जीव का काँपना था, मिट्टी का जो भूत है, गत है, निष्प्राण है अचेतन है—उसके काँपने की हकीकत क्या ? पर वह न काँगा जो चेतन था, जिसमें प्राण थे, जो प्राणियों के लिये संविधान रच रहा था और जिसकी भावुकता का मानव आदर्शता का मानदण्ड होता था !

अस्यमेध हो चुका था। ब्राह्मण धर्म और देव भाग्य की प्रतिष्ठा हो चुकी थी, धर्मशास्त्र की मर्यादा देश के एक भाग से दूसरे तक सुप्रसिद्ध हो चुकी थी, परन्तु आशु क्षत्रीय और मर्माहत संग अभी अवसर की प्रतीक्षा में दुबके पड़े थे। मेरे नगर के विशाल संधाराम के निम्न कोष्ठों में स्वधियों के छिपे प्रवचनों में ब्राह्मण-दृष्टि के विरुद्ध जल्पना होती जो धीरे धीरे आदेश बन गई। नागसेन ने शाकल के ग्रीक मेतामदर को अपने असाधारण तर्कों से निरुत्तर और मुग्ध कर धौद धर्म में दीक्षित कर लिया और उसे प्रेरित कर वह मगध पर चढ़ा लाया परन्तु मेरे नगर पर इस काल शोमशर्मा अथवा वृद्धव का शासन न था जिन्हें मैदान काटता था, तलवार से डर लगता था वरन् पुष्पमित्र का शासन था तलवार जिसके गले का हार भी और रक्तताण्डव जिसके नित्य का व्यसन था और जिने सेना के साथ अपने शाश्वत सम्बन्ध के कारण अपने को

सदा 'सेनापति' कहा, अभिलेखों तक में, कभी उस सम्राट शब्द से संबंधित न होने दिया जिसकी भर्पाश शोनशर्मा और वृद्धय से अपने संपर्क से कलंकित कर दी थी। अयोध्या से उठकर गंगा की घाटी में शाकलपति मेनामदर से पुष्पमित्र जा जा टकराया तो दिमित के जामाता और घोट धर्म के अनिभावक उस ग्रीक महान नृपति केशव ने लमीन खाद लो। फिर प्रविशोंव की तलवार चमकी और मगध राज ने मेरे नगर से जलन्धर तक के तारे बिहारों को अग्नि का समर्पित कर दिया। देश-द्रोह के अनन्त पीठों की इस प्रकार भस्माहुति हुई और विजेता ने शाकल (खालकोट) में घोषणा की—यो में अश्वशिरम दास्यति तस्याई दोनार-शतम् दास्यानु—जो मुझे अमर्यों का एक सिर देगा उसे मैं सोने के सौ दोनार दूंगा। इसके बाद वचे हुए शत्रु को देश से वर्धित करने के लिये दूसरा अश्वमेध हुआ, जिसके अश्व को लिये 'सेनापति' का पौत्र वसुमित्र सिंधु नद तक जा पहुँचा और तल्पूकस की सीमायें फिर एक बार अपने आधार से उबर कर, मैंने दूर पश्चिम में देखी। मेरे गौरव का यह नया विस्तार तन रहा था। पुराहित राजा शोणित से रमे खड्ग से अपनी कीर्ति कथा भारत वसुंधरा पर लिख रहा था।

इसके बाद जो बड़ा बड़ा अमानुषिक है, उसने दिमित के अश्वारोहियों को याद दिला दी, उनकी याद वस्तुतः इस नदी अनुभूति में खो गई। चीन के कान्तु प्रान्त से दूतों की आँधी उठी थी जिनके टकरा जाने से अग्नी पश्चिम भागे थे और दजला-करात के किनारे खड़े शकों के साम्राज्य उन्होंने चूर चूर कर दिये थे। शक जो भागे तो वाल्की और मर्च का रौंदते हिन्दुकुश की ऊँची दीवार को लाँघते सिंधु देश में उतर आये थे। उन्होंने ही पिछले काल में सिन्ध, तदशिला, मथुरा, उज्जैनी और महाराष्ट्र में अपने पाँच राजकुल खड़े किये, उन्हीं में से पहला विजेता आमलात था। अपनी लाल लाल आँखों के कारण वह लोहिताक्ष कहलाता था।

पंजाब, मध्यदेश लौंघता मगध के दूरवर्ती अंतपालों को अपने रथ के पहियों से बांधता मेरे नगर में पहुँचा और जिस रक्त तावड़ का उसने मेरी छाती पर अभ्यास किया वह मैं न कह सकूँगा, उसकी याद मेरे रोंगटे खड़े कर देती है। जिस युग पुराणकार ने दिमित के रणचक्र का इतिवृत्त लिखा था उसी ने इस नरसंहार को कथा भी कही—राजा भिलर गये, प्रान्त भिलर गये, वर्णाश्रम धर्म नष्ट भ्रष्ट हो गया, शूद्र आचार्य बने, ब्राह्मण शूद्र। बहुत पहले इरानियों और ग्रीकों के स्वर्ण और शासन से आगवन होकर ब्राह्मण शास्त्रकारों ने समाज की नई व्यवस्था की थी। संस्कारों ने मनुष्य का आदि-अंत बांध दिया था और उनके विधान उन्होंने सूत्रबद्ध किये थे। भारतीय नन्द-शूद्रों और अभासीय ग्रीक-यवनों ने उसे छिन्न-भिन्न कर दिया था। चाणक्य, पतंजलि और पुण्यमित्र ने शूद्रों को अपनी प्रवृत्ति से यथास्थान कर फिर धर्मशास्त्र रचे थे और पंचिचे अध्याय में मनु की व्याख्या सहित आचार को व्यवस्था की थी, प्रायश्चित्त का विधान किया था। उसके सारे पक्ष शकों की इस नई आँधी के सामने उड़ गये। उसके पक्षों से अपने क्षत्रियों का सुत्राते मेरे ही नगर में मैने शकों को स्वयं देखा। मेरे नगर की सड़कों पर मागध नागरी अथ देखने को भी न मिलते थे। चारों ओर स्त्रियों का ही राज्य हो गया, मैने पागल कुण्ड के कुण्ड नुक्ता और परित्यक्ता नारियों को घूमते देखा। बीस बीस नारियों को एक एक पुरुष घुमते देखा और वह पुरुष भी क्या था सोलह वर्ष का शालक ! नारियाँ ही हल जोततीं, बाहर इधर-उधर रक्षा का प्रबन्ध करतीं। देश थियत्र था, नागरिक भयान्वित थे। शकों ने जिस कठोरता से मध्यदेश को रौंदा और मेरी सड़कों पर मृत्यु का नृत्य किया, वह मुझे कभी न भूलेगी।

लोहितान्न अमन्नात का हमला वास्तव में अपना बुलाया हुआ हमला था। इसमें संदेह नहीं कि मध्य एशिया के शुम्भ वातावरण में

प्रलय की एक लहर हिन्दुस्तान पर तोड़ दी थी परन्तु उसको फिर भी भारत सँभाल सकता था यदि उसकी अपनी स्थिति स्वयं चिन्ताजनक न होती। शुद्धों का पिछला काल कुछ बहुत श्रोजस्यी न था। अग्निमित्र और धनुमित्र ने तो किसी प्रकार साम्राज्य की सीमाएँ यथावत रखीं और भागभद्र के शासन काल में तक्षशिला के ग्रीक नृपति अन्तलिखिद ने अपने राजदूत 'तेलिओदोर' के द्वारा भागध शृंग सम्राट की मैत्री भी माँगी परन्तु तब तो यह है कि तब तक शक्ति का आनास मात्र बच रहा था और मगध की सीमाएँ धीरे धीरे 'नूल' की ओर संकुचित होती आ रही थीं। एक बार फिर मुझे अपनी काया सनेदनी पड़ी। शुद्धों के अंतिम क्षैत्र वंश भर देवभूति को उसके ब्राह्मण मन्त्री कश्यप वासुदेव ने अश्वमेधकाल में दासी द्वारा मरवा डाला। फिर स्वयं उसने मेरी गद्दी पर अधिकार कर लिया। परन्तु यदि वृहद्रथ 'प्रतिगादुर्ध्वल' या तो कश्यप भी किसी कदर उदात्त न थे और जो घटना शुद्धों के साथ घटी थी वही उनके साथ घटी। आध्र सातवाहन तिसुकशात्कर्ण ने राजदंड उसके हाथ से छीन लिया और उत्तरापथ शीघ्र दक्षिणपथ का भिन्नारी हुआ। दूर की तलवार उत्तर की कहाँ तक रक्षा कर सकती थी जब दुर्दान्त इनैले सारिक मध्य एशिया से उछलकर हिन्दू कुश के पास उद्यान में आ लड़े हुए थे ? उत्तर भारत की सामाजिक स्थिति अत्यन्त भयावर हो उठी थी, ब्राह्मण क्षत्रियों का पारस्परिक वैमनस्य देश के प्रति उदासीन होता जा रहा था और प्रजा जितनी क्षत्रिय राजा की करता से पिती जा रही थी, उतनी ही ब्राह्मण शास्त्रकार के विधानों से। जेनेचल अन्न जनचल न रह गया था। विदेशी शत्रु का सामना करना वर्गविशेष का काम रह गया था। बात भी सही थी, शासन चाहे ब्राह्मण का हो चाहे क्षत्रिय का, चाहे विदेशी म्लेच्छ का, निम्न वर्ग विशेषकर शूद्र व अन्त्यजों को तो उस विधान की धूटी में दिसना ही था, इसलिये उनके

लिए शासक क्या स्वदेशी क्या विदेशी ? स्वाभाविक था कि जब शक अमलात आया तो प्रान्त प्रान्त के निम्न वर्गीय और निम्न वर्गीय जनता सिर झुकाती गयी, सिर झुकाती ही न गई बल्कि उसने खुल्लम-खुल्ला उनका स्वागत किया। उनकी अंर से वे स्वदेश के विरुद्ध लड़े भी। भारत के इतिहास में यह कुछ अजब बात भी न थी। मुझे याद है जब ग्रीक सिकन्दर ने पञ्जाब में बबबर उठा दिया था और जनपद के जनपद उसे आत्मसमर्पण करते जा रहे थे, तभी पंजाब में अनेक गणतंत्रों ने पद रोप कर उसकी गति रोक दी थी और रोकते रोकते वे बिना तक हो गये थे। परन्तु प्राची का विशाल मागध साम्राज्य आखिरी मीचे उसे दूसरों का भय समझ चुकचाप पड़ा था। ऐसा भी नहीं कि वह सोता था। नितान्त जागरूक था वह, परन्तु उसने इसे अपनी विपद न समझी। उसने सोचा, जब सिकन्दर सतलज के पार उतरे तब कहीं वह राजधानी से कुलाच भरे। और इसी बीच जब कठोपनिषद के प्रवक्त कठो का गणतन्त्र सिकन्दर से जुझ रहा था और ग्रीकों के जान के लाले पड़ गये थे, तब पश्चिमी पञ्जाब का एक विराट सैनिक सिकन्दर की ओर से अपने भाइयों के विरुद्ध लड़ रहा था। निःसन्देह यदि उसने देशद्रोहिता के योग से सिकन्दर की पीठ पर हाथ न रखा होता तो पता नहीं बाबुल की समाधि उस ग्रीक विजेता की कठो के देश में होती या मालवी की ? वह सैनिक भारतीय इतिहास के उत्तम बिन्दुओं में गिना जाता है। उसका नाम पौरव था—ग्रीकों का पौरव जिसका नाम इतिहास में स्वतन्त्रता के नाम पर व्यंग्य है। अस्तु !

अमलात लौट गया, परन्तु जिस सामाजिक व्यवस्था को उसने छिन्न भिन्न कर दिया था उसकी साल-एक जमाने तक न लौटी। महाभारत के श्रोजस्वी सगों के पाठ देश में होते रहे। गीता के प्रवचन कतिपय केन्द्रों में सीमित उत्साह का वर्धन करते रहे। रामायण

का नव सामाजिक विधान जहाँ तहाँ नये सिद्धान्तों का प्रचार करता रहा। नवीन आचरण को मोड़ और उकएठा से लोग देखते रहे परन्तु विपन्न आर्थिक और सामाजिक क्रांति ने जो पुरानी व्यवस्था के तन्तु तोड़ दिये थे तो वह स्थिति फिर नहीं लौटी, नहीं लौटी। ग्रीकों के बाद शक आये। शकों के बाद कुषाण और फिर शक, फिर हूण। यह विदेशी ताँता लगा रहा। भारतीय प्रजा कुचली पिसी जाती रही थी। बीच बीच में नागों, वाकाटकों व गुप्तों के साम्राज्य खड़े होते रहे परन्तु सामाजिक शक्ति और जनबल नष्ट हो जाने के कारण उनकी ऊँचाइयाँ आने वाले हमलों में खो गईं।

ग्रीक, शक और कुषाण। ग्रीकों का लोहा किस तरह बजा यह मैं कह चुका हूँ, शकों का प्रवेश आगमन कितना भयानक था, यह भी मैं कह चुका हूँ। अब कुषाणों का सुनिये। कुषाणों की प्रशस्त जाति का नाम श्वेतीक था, श्वेतीक जिनको हूणों ने पश्चिमी चीन से शकों पर कँका था जिससे दूर कर शक धाराएँ हिन्दुस्तान पर बिलर पड़ीं। उन्हीं श्वेतीकों की पाँच जातियों ने आखिरी में अपने खूनी खेरे डाले थे। इन पाँचों में प्रबलतम जाति किदार कुषाणों की थी। कुजुल और बीम बारी आरी से उसका नेता हुए और उन्होंने एक ओर ईरानियों से लोहा लिया, दूसरी ओर हिन्दुस्तान की देशी विदेशी कीजों पर अपनी तलवारें बरसायीं। जब कनिष्क पुरुषपुर की गद्दी पर बैठा तब हिन्दुस्तान से उत्तर-पश्चिमी प्रान्तों की ग्रीक और शक सरगर्मी भी काफूर हो गई। काश्मीर और खुत्तन पर अपनी विजय के हाथ फैरता हुआ मयुरा की ओर पूर्वी पंजाब, पश्चिमी संयुक्त प्रान्त तथा उसके पूर्वी इलाके एक के बाद एक आत्मसमर्पण करते गये। मगध के बाहरी स्कंधावार दूर कर बिलर गये। अयोध्या और काशी के अन्तपालों ने मेरे नगर में शरण ली। मैंने भी भयातुर हो मस्तक उठाया। शायद अनागत भय आगत

भयों की परम्परा से विशेष हो पर सन्तोष है, कि जोहिताक्ष अमलात की घटना फिर मेरी सड़कों पर न घटी। निश्चय आक्रमण का संघर्ष जिस खूली वातावरण को विजित राजधानी में प्रस्तुत कर देता है, उसकी चोट से मैं उद्भिन्न हुआ, निश्चय मेरी सड़क पर रुधिर की धाराएँ बही, निश्चय नृशंसता के प्रमाण विदेशी सेना ने जहाँ तहाँ दिये, परन्तु अधिकतर वे विजेता के आभे न थे। कुशाणों का अग्रणी कनिष्क यद्यपि खड्ग की मूठ से अपनी कीर्ति क्या लिखता था, यद्यपि उसने काबुल और काश्मीर की घाटियों में अपने अश्वरोध का प्रतिकार विजित के रक्तस्नान से किया था, यद्यपि उसने बद्ध और वारकन्द की चीनी सीमा के राज्यों में अग्नि भाँड उलट दिया था परन्तु निःसन्देह मेरे प्रति उसका आचरण सर्वथा सांस्कृतिक था। उस दुर्धन सामरिक के अन्तर में एक नये धर्म के मोह ने जिज्ञासा उत्पन्न कर दी थी। मध्य एशिया के अनेक चीनो, तुर्कों और ईरानी धर्मों का प्रशंसक होकर भी और तलवार की मूठ जकड़े रहने पर भी उसने बुद्ध के उपदेश मनोनीत किये थे। बौद्ध धर्म का असामान्य दार्शनिक कवि और भिक्षु अश्वघोष मेरे नगर में निवास करता था। अश्वघोष जो दार्शनिक प्रवचन में, काव्य वस्तु कथा में, नाट्य में अतिम था, वही कनिष्क के आगमन का कारण हुआ। वही उसके प्रयास का आकर्षण था। और हमारे नगर की तो वह सर्वथा थी था। क्या बौद्ध, क्या ब्राह्मण, क्या जैन, सारी संस्कृतियों का वह निचोड़ था। उनका एक मात्र ज्ञानविन्दु और उसको कनिष्क उठा ले गया।

अनेक बार मैं भी विहीन हो गया था, अनेक बार मेरी लक्ष्मी छिन गयी थी, अनेक बार मेरे बाह्य और अंतर मलिन हो गये थे, अनेक बार अमातुषिक नृशंसता से मैं काँप उठा था परन्तु कभी इस प्रकार मैंने अपने को आहत न समझा। कभी इतना कंगाल नहीं, जितना मैं

अपने मुकुट मणि अश्वघोष के छिन जाने से हुआ। 'सुद्ध चरित' के उदात्त, अक्षतरण सहसा मेरी आँखों में नाचने लगे, 'सौन्दरानन्द' में नन्द द्वारा सुन्दरी के कपोलांकन बार बार मेरी स्मृति में उठने लगे, 'सुपालंकार' के अनेक स्थल बरबस मुझे अपनी ओर खींचने लगे। अश्वघोष के अपहरण से निश्चय मेरा सांस्कृतिक निधन हो गया और बहुत काल तक मैं अपनी बह खोई हुई निधि न पा सका।

इस सांस्कृतिक क्षति के सामने मैं उस राजनीतिक हानि को सर्वथा भूल गया जो विदेशी पदचाप ने मेरे उन्नत भाग पर लिख दिया था। काशी में कनिष्क का शासक बनकर बैठा और वही से बह निरन्तर पुर्यात् प्रदेशों पर हुकूमत करने लगा। फिर भी कुषाणों की अभिरुचि अधिकतर पश्चिम में रही। उनका पूर्वी केन्द्र मैं न हुआ, मथुरा हुई और पश्चिमी पुरुषपुर।

कनिष्क के बाद हुविष्क आया, फिर कनिष्क और फिर वामुदेव। धीरे-धीरे उनकी सीमाएँ संकीर्ण होती गईं और अन्ततः वामुदेव सामाजिक रूप से भी सर्वथा हिन्दू हो गया। इधर भारतीय प्राङ्गण में एक नये नाटक के पात्र उठ रहे थे। मध्य भारत में विदिग्धा के आधार से उठकर वाकाटक ब्राह्मणों ने अपनी शक्ति की प्राचीरें खड़ी की थीं। उनके उत्तर पूर्वी पड़ोस में पद्मावती के नागों ने भारतीय राजनीति में अपना साका चलाया मेरी स्थिति इस काल नगण्य हो गयी थी परन्तु फिर भी मैं अपने भोले वैभव के स्तर अतीत की स्मृति में उलट-उलट सहेज रहा था। पड़ोस में ही काशी और कान्तिपुर में क्रमशः कुषाणों और नागों की छावनियाँ थीं। कान्ति के आधार से उठकर नाग कुषाणों पर धावे करते और अनेक बार उनको सीमाएँ पश्चिम मथुरा तक घसीट ले जाते। नागराज वीरसेन ने मथुरा की कुषाण राजधानी पर भी अनेक हमले किये। उसने उन अश्वमेधों की परम्परा

बाली जो विदेशियों के पराजय के फल स्वरूप किये जाते थे और जिनकी बार-बार अनुकूल परम्परा में काशी में गंगा तट पर दशास्वमेध घाट की संगा दो। बाकाटकी और नागों का वैभव नया था और बार-बार वह मुक्त निष्किय पाटलिपुत्र को एक बार फिर अपने नेतृत्व का भार देने को निर्मथित करने लगा। बार-बार चन्द्रगुप्त और पुष्यमित्र की परम्परा चेतना में जमी, बार-बार शक्ति की कमी से मेरा प्रयास फुसित हुआ। परन्तु शीघ्र चन्द्रगुप्त की प्रतिमूर्ति सा चन्द्र फिर मेरी धरा पर अवतरित हुआ, चन्द्र जो आदि गुप्तों में प्रबल था और जिसने मगध में फिर शक्ति की प्रतिष्ठा थी। गुप्तों के प्रारम्भिक नृपति भीगुप्त और पटोत्कच नाम मात्र को नृपति थे, उनकी शक्ति अन्तर्बेद से कभी बाहर न निकली परन्तु चन्द्रगुप्त ने मेरी नगरी का भी शीघ्र स्वायत्त कर उस प्रतिष्ठा का आरम्भ किया जिसे भारतीय इतिहास ने कभी न जाना था। किस प्रकार उसने अपनी अभिभावकता के पीछे से उछल कर मगध की गद्दी पर अमानुषिक अधिकार किया यह शर्म की बात है और उस शर्म के कारण मे 'कौमुदी-महोत्सव' में प्रयित है परन्तु उस आचरण की व्यापक सत्ता उसने अपने अधिकार के औदार्य से शीघ्र प्रमाणित कर दी। चन्द्र जानता था कि मगध और साकेत और गंगा जमुना के दोआब में प्रतिष्ठित शक्ति ही भारतीय राजनीति में अग्रणी होती आई है और उनका आधार अब उसे उपलब्ध था परन्तु यह वह भी जानता था कि केवल इतने से ही साम्राज्यवादो महत्वाकांक्षा की इति थी न होगी। सफल नीति एक चीज है और अभियान दूसरी। अभियान की सत्ता नीति की सफलता में है और चन्द्र शीघ्र मगध पर अधिकार कर उसके दुर्धर पड़ोसियों की ओर मुका। पूर्व और दक्षिण मृतप्राय थे और पश्चिम स्वायत्त परन्तु उत्तर की गणतान्त्रिक शक्ति अब भी कुठित न हुई थी। उपनिषदों के विचार दर्शन के अग्रणी जनक विवेक के

एकतन्त्रो शासन को जिन वज्जी, लिच्छवियों ने उलट कर गणतन्त्रोय कर दिया था वे अजातशत्रु की मारक चाँद से विह्वल होकर भी अभी जीवित थे और पूर्वी राजनीति के क्षेत्र में अब भी उनका साका चलता था। चन्द्र ने देखा कि यद्यपि लिच्छवि उसे सेना की सहायता नहीं दे सकते परन्तु उनकी मान-मर्यादा निश्चय उनके गौरव को अग्रसर करेगी। उसने लिच्छवियों के विशिष्ट परिवार में विवाह किया और हिमालय तक के उसी जन सब उसके मित्र हो गये। चन्द्रगुप्त की महत्वाकांक्षा पर्याप्त थी परन्तु जितना वह कर सका वह एक जीवन काल के लिये कुछ कम न था। उसकी महत्वाकांक्षा अब उसके वश की बात न थी और वह उसके कर्मठ पुत्र समुद्रगुप्त के हिस्से पड़ी।

समुद्रगुप्त भारतीय आकाश में राहु की तरह उदय हुआ। वाकाटकों और नागों का सूर्य उसके प्रताप से कवलित हो गया। उसने दिग्विजय के लिये एक महान अभियान किया। नीतिशास्त्र का वह विशारद था, दूरगमल का वह केन्द्र होना चाहता था। उसने शुद्ध और कौटिल्य के विप्लवक अर्थशास्त्र पर अपनी महत्वाकांक्षा के पाये रखे और मुझे राजधानी बना उसका कर खेल-खेल में अनेक राजकुलों को विनष्ट कर दिया। आर्यावर्त के राजा पड़ोसी थे और साम्राज्य के निर्माण में पड़ोसी सबसे बड़ा शत्रु होता है इससे उसने आर्यावर्त के नौ राजाओं में से किसी को जीता न छोड़ा। सारे राजकुलों को समूल उखाड़ फेंका। आर्यिक राज्यों को कुचल कर वह दक्षिण पथ की ओर बढ़ा और वहाँ से राजाओं को भी परास्त कर उन्हें उसने उनकी गद्दी वरुश दी। अन्तों प्रत्यन्तों ने डर कर उसकी शक्ति का शिरोधार्य किया। स्वतंत्र दीपों ने सिंदल तक उसकी मैत्री का दम भरा। भारत में अब भी अनेक गणतन्त्र थे परन्तु समुद्रगुप्त ने अपनी साम्राज्यवादी महत्वाकांक्षा में सभी समाह्वित कर दी। मालव और यौधेय, आभीर और सनकात्रीक सभी उसकी

चढ़ती सीमाओं में खो गये। तत्कालीन समर्थ इतिहासकार ने फिर भी उस श्रांतभ्य विरोधी धारा के विरुद्ध अपनी आवाज बुलन्द की—“यह राज्य का प्रसर क्यों? उसका विस्तार क्यों? गणतन्त्रों के अधिकार की इस प्रकार अवहेलना क्यों? निश्चय यशः शरीर के निर्माण के लिये। यशः शरीर का निर्माण साम्राज्य खड़े कर खुश और राम ने भी किये परन्तु क्या उनके साम्राज्य भी काल के उदर में न समा गये? आज जो जीवित हैं, उनको खुश और राम की कीर्तियों में सन्देह हो चला है। क्या समुद्रगुप्त की यशः काया सर्वदा अक्षुण्ण बनी रहेगी? निश्चय उसका भी क्षोण हो जायेगा। साम्राज्य को अधिकार! ऐश्वर्य का अधिकार! पुराणकार के यह वचन सत्य हुए और उनकी सत्यता का प्रमाण मेरा साक्षात्कार है।

इसमें सन्देह नहीं कि मेरे प्राचीनों के पीछे फैले प्राङ्गण में जब असंख्य मागध सेना की पदचाप ध्वनित हंती तो मेरा उत्पन्न ललाट सहसा चमक उठता। पुराना खोया वैभव फिर लौट लौट याद आने लगता। नगर से निकलती और दिगन्त में फैल जाती। चन्द्रगुप्त मौर्य की सेनाओं की बार-बार याद आती है। वैभव एक क्षण फिर मेरा परिचारक बन गया था और उसकी पराकाष्ठा तब हुई जब समुद्रगुप्त के तनय चन्द्रगुप्त ने शकों को मालवा से बहिर्गात कर अंग के सम्मिलित राज्यों का संघ तोड़ सिन्धु के सातों मुलों को लॉथ वाहलीक में बल्ल तट के केसर के सेतों में अपने पड़ाव डाले, जब दुनिया की छत्र पामीर के मुस्तक पर उसके घोड़ों ने अपने खुर्चों की छोट की, जब अपने यश से उसने चारों समुद्रों के जल को सुवासित किया। एक बार फिर न केवल मेरी तलवार मेरे नगर से उठकर कमजोरों के कंधों पर पड़ी वरन् भारती भी एक बार फिर मेरे कानों में मधुर ध्वनि बरसाने लगी। चन्द्रगुप्त की राजसभा के नवरत्न मेधावी थे, असाधारण मेधावी दक्षि

उनकी लेखनी चन्द्रगुप्त की रक्त रञ्जित तलवार की प्रशस्ति ही लिखती थी। कालीदास, विशालदत्त, वत्सभट्टी सबने गुप्तों की ही अपने ग्रन्थों में कीर्तें गाईं। केवल एक मनस्वी दार्शनिक ब्राह्मण धर्म और इन कायर लूट लूट के भरोषी दिङ्नाग ने उनके विरुद्ध आवाज उठाई। दिङ्नाग की याद सचमुच मेरे भाज पर विजय का तिलक लगाती, कभी अश्वमेध ने मेरी कोख से उठकर भारतीय दर्शन परम्परा को समुचित समुद्र किया था, कभी-कभी नागाधुन ने अपनी वाक्पूरुषता से नेषा की शक्ति प्रशस्ति की थी। अब दिङ्नाग ने दर्शक सेवी कवियों के विरुद्ध अपनी शक्ति लगा दी यद्यपि कालीदास ने अपने 'यकान्ध' में कोई अन्तर न डाला और उसका रक्तिक मित्र मिथुल दिङ्नाग से लड़ता रहा फिर भी उसने उस चौद दार्शनिक की श्रौचित्य चर्चा भुलाई नहीं।

मालवा के मेरे साम्राज्य का प्रान्त घन जाने से मेरे घन और समृद्धि में अत्यधिक प्रवृद्धि हुई। पश्चिम समुद्रतट पर भिन्न, ग्रीस, रोम, याबुल, अरब आदि देशों से वाणिज्य के फलस्वरूप धारासार घन बरसता था और सूर्यारक तथा मरुक्कड़ से आने वाले घनसार के राजमार्ग में उज्जैनो एक विशाल केन्द्र थी और वह उज्जैनी मेरी परिचारिका होती थी। उसके घन का भी मैं ही घनी था। मेरे प्रासाद में अब दूर-दूर की अनन्त वस्तुएँ भरने लगीं। एयेन्स और रोम की सुषइ केनभवल दासियाँ मध्यएशिया के धामन और क्रीव (चीने और खोजे), दूर देश की मदिरा और रत्न सब मेरी सेवा में प्रासाद में मिलते रहते। अन्तःपुर की परिचारिकायें किसी भी नरेश के अवरोध की शोभा बढ़ा सकती थीं और उनकी संख्या मेरे यहाँ सैकड़ों में नहीं हजारों में थी।

कला का शिल्प अब सूरज के षोडश की गति रोकने लगा था। खिलास की माइकता अब मेरे भीमानों को ओपी करने लगी थी। कुमार-

गुप्त की असाधुता ने सीधे गृहस्थों को शंकित कर दिया और यद्यपि विचलित कुललक्ष्मी को पुनः स्तम्भित करने के लिए स्कन्दगुप्त ने नंगी जमीन पर रथ के मैदानों में रातें बिता-बिताकर तर किया। गुप्तों की विगत लक्ष्मी, न लौटी। प्राणों की आहुति लिये स्वदेश का यह मनस्वी सचर उतरायण के एक स्कंधावार से दूसरे स्कंधावार को दौड़ता रहा परन्तु विलास की जिस धारा ने साम्राज्य की नींव में अपनी सीढ़ी जमा दी थी उसने उस अश्रद्धालिका को एकदम बैठा दिया। मध्य-एशिया में पश्चिमी चीन से जो हूणों की आँधी चली थी उसकी याग निश्चय रन्ध्र ने कुछ क्षण सिन्धु नदी पर रोकी पर वह उसे फेर न सका और गुप्त साम्राज्य की कमर उसकी चोटों से टूट कर लड़खड़ा पड़ी। यद्युतः चोट इतनी हूणों की नहीं जितनी आत्मसंचित विलास की थी।

मुझे फिर एक बार शकों कुशाखों की याद आई जब हूणों ने अपनी शक्ति की छात्र मगध और पश्चिमी मध्यदेश के जलते नगरों और गाँवों पर डाली। उनकी प्रगति की कथा उठती हुई धूल के बादल और आग की लपटें कहती थीं और यद्यपि मैं उनकी वृशंसता से बहुत कुछ बचा रहा, उस प्रकार आहत न हुआ जिस प्रकार यवनों और शकों के आक्रमण से हुआ था, फिर भी उनकी चोट ने अनेक बार मेरी छाया में भी गढ़े कर दिये।

जब सारा देश हूणों की इस चोट से कराह रहा था तब मैंने जो कुछ देखा सुना यह स्वयं कुछ कम न था। जैसे शकों के आक्रमण के समय निम्न वर्णाय जनता ने विदेशियों का स्वागत किया था वैसे ही उन्होंने अब हूणों का किया और हूणों को शूद्रों और ब्राह्मणों में कोई अन्तर तो जान पड़ सकता था न जान पड़ा। दोनों को उन्होंने समान रूप से समझा। परन्तु मुझे जो बात विचित्र जान पड़ी, वह थी उस

काज के ब्राह्मणों की विचित्र नीति । उनको शक्ति छिन जाने की इतनी परवाह न थी जितनी समाज की व्यवस्था भंग हो जाने की थी । उन्होंने मेरे नगर के अनेक निभूत कुंजों में अपनी गोपिठियाँ की और बार बार सोचा कि समाज का फिर से संगठन किस प्रकार करें । कलस्वरूप जो उन्होंने किया वह निश्चय अद्भुत था नितान्त साहसपूर्ण और अपूर्व श्रुत । क्षत्रियों से संधि अनी उनका बना था । बहुत काल पूर्व मेरे ही नगर में उन्होंने शूद्र को हथियार बना कर राजनीति में एक नया प्रयोग किया था । अब उस महान् नीति को उन्होंने इस नये आक्रमण के अवसर पर फिर दोहराया । दूण विजेता थे । ब्राह्मणों के मलेच्छ कहने मात्र से मलेच्छ होना उन्हें स्वीकार न था । वे रण मैदान और भूमि दोनों के स्वामी थे, सामाजिक व्यवस्था को तो वे छिन्न-भिन्न कर ही चुके थे । उन्हें शूद्र बनाने की ब्राह्मणों में शक्ति न थी और उन्हें ब्राह्मण बनाना उनको अभीष्ट न था । इसलिए एक ही स्तरसमाज का ऐसा बच रहा था जहाँ गुर्जर, आभीर, दूण और अन्य विदेशी जातियाँ समाज में नुँपी जा सकती थीं । वह रार या क्षत्रिय । इससे पुराने ढेर का निर्वाह भी हो जाता और नये आयुध से प्राचीन शत्रु का दमन भी । आबू के पर्वत पर काल्पनिक अभिकुण्ड से प्रायश्चित्त रूप से विदेशी निरन्तर क्षत्रिय होने लगे । चौहान, परमार धीरे धीरे उस आघार से उठ खड़े हुए और ब्राह्मणों का उपकार मान उनके चिर सेवी हुए ! इस विदेशी पुट ने समाज में एक नयी शक्ति भरी और भारत में उससे उस अद्भुत शौर्य का आरम्भ हुआ जो राजपूत वीरता के नाम से प्रसिद्ध है परन्तु राजपूत कार्यक्षेत्र मेरे नगर से मेरे, आघार से बहुत दूर था । मैं उस कारण बन बिगड़ न सकी परन्तु हाँ उसकी पारस्परिक चोटें जब तक मेरे आधार को भी छू लेतीं ।

अब मेरा वैभव सूर्य अस्त हो चुका था । वास्तव में उसका अंत

तभी हो चला था जब हूणों ने देश में पदार्पण किया और गुप्तों का साम्राज्य बिलर गया। अब मेरे नगर की लक्ष्मी पश्चिम के कन्नौज में जा बसी थी, महोदय में जो कन्नौज की तत्कालीन सायंक संज्ञा थी। कन्नौज के भाग्य का तब निश्चय महोदय हुआ जब मौखरियों ने उसे अपनी राजधानी बनायी और जब हर्ष ने उनके नाश के बाद अपना राजनैतिक केन्द्र पानेश्वर से उठा कर वहाँ रखा। कन्नौज के उठते हुए गौरव के सामने मैं लांछित पड़ा था और यद्यपि पड़ोस का यह वैभव स्वीकार न होने के कारण कुछ काल तक मगध गुप्तों की छाया में मैं उससे टक्कर लेता रहा वस्तुतः मेरा विलुप्त गौरव फिर न लौटा। हों जैसा हर्षर कह चुका हूँ शक्तियों के संघर्ष में अब तब निश्चय चोट के छोटे मुक्त पर भी जा पड़ते। कन्नौज के लिये पाँचों राष्ट्रकूटों और गुर्जर-प्रतिहारों का विवर्जित संघर्ष चल रहा था और अनेक बार मेरे आस पास पालों और प्रतिहारों की टकराएँ हुईं। धर्म पाल ने जब कन्नौज की गद्दी से एक राजा का उतार कर दूसरे को बिठाया तब उसकी पित्रव्याहिनी मेरी ही राह पश्चिम गई थी और जब राष्ट्रकूट वृति ने गंगा-यमुना के दोआब में उसे परास्त कर उसके छत्र-चमर छीन लिये थे तब भी वह भागा पूर्व की ओर मेरी ही राह से था। इस प्रकार यद्यपि मैं उन संघर्षों में प्रमुख दल न था फिर भी अन्यमनस्क सा मैं उनकी गतिविधि देखता निश्चय रहा।

सदियों गुजर गईं। राजनीति के प्रबल केन्द्र एक स्थान से दूसरे स्थान को बदलते रहे पर मैं चुनचाप गंगा और सोन के संगम पर खोया सा पड़ा रहा। और गंगा और सोन का वह संगम भी अब मुझे छोड़ चला। समुद्रगुप्त के शासन में मैत्री का दम भरने जब शाही शाहानु-शाही शक मुण्डों और द्वीप वासियों द्वारा भेजे रत्न भेंटों और विह्वल के उपहारों की बात जब मैं सोचता हूँ तब मुझे बड़ी ग्लानि होती है

परन्तु यह सोचकर कि किसी की रियति सदा समान नहीं रहती मैं संयत हूँ। काशी और कौशल को मैंने बिलौन होते देखा है। तक्षशिला और शाकल को निष्प्राण होते मैंने सुना है इससे मुझे उस ग्लानि में फिर भी बल मिला है।

मेरा पिछला इतिहास शक्ति का नहीं करुणा का है। जब भारत के सिंहद्वार पर इस्लाम की नई सेनाओं ने अपनी चोटें शुरू की तब मैंने कहा 'भगवान अब क्या होना है?' परन्तु विशेष उद्दिष्ट में न हुआ क्योंकि मैं जानता था कि चोट शिखर पर पड़ती है और मैं अब शिखर न था। हाँ इस्लाम के रिसालों की पदध्वनि हमने भी सुनी, उनकी जल-कार से मैं भी मर्माहत हुआ परन्तु निर्जीव निःशक्त मैं कर ही क्या सकता था। बल्लिहार मुट्ठी भर जवानों के साथ मेरे ही बाजारों से गुजरा तब मुझे मेगस्थनीज की आवाज याद आई और अपने नगर से निकलने वाले उन सेनाओं की पहचान की जिन्होंने हिन्दूकुश तक के प्रान्तों को उसके स्वामी से छीन उसे निरस्त कर दिया था। परन्तु अतीत की याद किसी को कर्मण्य नहीं बना देती और मैं भी शुपचाप मिट्टी सूँघता अपनी पीठ पर से उस बल्लिधार को गुजर जाने दिया जिसने पास के विद्यापीठ नालन्द को अग्नि के समर्पण कर दिया। नालन्द मेरे ही आश्रय से बढ़ा था। मगध के इस विद्याकेन्द्र को वूर दूर के मेधाविधों ने अपनी मेधा से समुज्ज्वल किया था परन्तु मैंने उसकी अट्टालिकाओं को अपनी आँखों धूल से बिलर जाते देखा। बल्लिहार आखिरी न था जिसने इस राज-मार्ग से पूर्व की ओर धावा किया था। अनन्त सेनाएँ अनेक बार दिल्ली के आधार से उठीं और उन्होंने मुझे नाचीज़ समरू रौंदते हुए पूरब की राह ली। बलवन के भयानक प्रतिशोध की कथा मुझे आज भी याद है जो मेरे ही पास से बंगाल के नबाब को कुचलने के लिये गुजरा था। बलवन के तेवर जिनके सामने मंगोलों और टूटों की लूटसतता पानी

भरती थी आज भी मुझे याद है। परन्तु मैं उदासीन दर्शक मात्र था जैसे गुजरती हुई सदियों ने मुझे अकर्मण्य देखा था। बलवन के रिवालों ने भी मुझे बैठा ही मूक देखा। जमाना गुजरा। गुलामी के बाद पठान आये, खिलजी और तुगलक और उन्हींने भी मेरा बचा गौरव लूटा। एक बार कुछ काल बाद फिर मेरी स्थिति गतिमति हुई जब सासाराम के अफगान सैनिक भोजपुरी शेरशाह ने अपनी सेना का केन्द्र मुझे बनाया। अनदेखे राजपूतों की कीर्तिकथा मैं सुनता आया था। जयपाल और पृथ्वी-राज की शक्ति की गाथा मैंने सुनी थी। चन्द और जगमल के 'रास्ते' और 'आल्हा' की भनक अब भी मेरे कानों में गूँजती थी परन्तु जब इस भोजपुरी पठान ने मेरे आधार और पदोस में उठकर राजपूताने की उस वीर प्रसवा भूमि को रौंद डाला तब मैंने अपने भोजपुरियों की शक्ति पहिचानी। इसी प्रकार और यशस्वी विजेता ने अकबर को अपने शासन विधान दिये और भारत को राजरय। कुछ ही काल बाद हेमू ने राजा विक्रमाजित की उपाधि लेकर बाबर के बंशधर अकबर को पानीपत के मैदान में मेरी सेना लेकर ललकारा था तब एक बार मुझे ऐसा जान पड़ा मेरी विगत कीर्ति फिर लौटेगी और यदि सचमुच हेमू का तोप-खाना अफगानों की गलती से धूम खाँ के हाथ न पड़ गया होता तब निःसन्देह आगरे की विभूति शायद मेरी होती। धुनार से बढ़ती हुई हुमायूँ की सेनाओं की राह मेरे ही ऊपर से होकर राजमहल की पहाड़ियों में खाँ गई थी। मेरी ही ओर से होकर अस्करी गौड़ से मिथिला लौटा था जहाँ उसने मुगल साम्राज्य का ताज अपने तिर पर रखा और भाई की शक्ति को कुठिल होते स्वयं देखा। शेरशाह के पेटरे अपने पास ही चौसा में मैंने देखे थे जिनकी चोट से भाग कर हुमायूँ फिर भारत की भूमि पर न टिक सका। वह अब पुरानी बात है और उन बातों में मेरी

साख साड़ी मात्र ही है। मैं उन बीती सदियों का उन, धोती घटनाओं का गवाह मात्र हूँ स्वयं उनमें भाग लेने वाला कर्मठ नहीं।

मुगलों के शत्रु विदेशियों ने देश पर आक्रमण किया जो योरप से आये थे। अंगरेज किरंगी कलकत्ते के आधार से छापे मारने लगे और धीरे-धीरे बंगाल के नबाव को अपना बन्दी बना लिया। थोड़ी ही दूर पर बक्सर के पास दिल्ली के शाहआलम और अवध के शुजाउद्दौला की सम्मिलित सेनाओं की कम्पनी की फौजों की मार से बिखरते देखा। बंगाल की दोबानो अंगरेजों के हाथ आ गई। गुरुगोविंदसिंह जिन्होंने मेरे ही नगर में उत्पन्न होकर गुफे पावन किया था, जिन्होंने मुगल सल्तनत के पिछले दिनों में सिक्खों को सैनिक का बसा दिया था वे शिवाजी की भाँति कब के मिट चुके थे और मैं कभी बंगाल, कभी अवध, कभी दिल्ली के बीच घूँट बँटाव में ऊपर-ऊपर होता, रहा कभी शत्रु के हिरसे पड़ता रहा कभी मित्र के। अलीवर्दी खान का लाइला तिराजुद्दौला जब सल्तनत और जान दोनों खोकर विनष्ट हो गया, जब मीरजाफर सब कुछ ज़ाहिर को देख भी कंपनी का न हो सका, जब मीरकासिम इमानदारी के कौल पर सुलग मुलग कर अंगरेजों से पेच खाता पड़ने आया तब अफ़ग़ान के दिनों में एक बार मेरी नसी में रफूँटि जागी। यह पिशाच 'गोलघर' जो आज भी मेरे मस्तक की भाँति ऊँचा खड़ा है उस मानवता का प्रतीक है जो मीरकासिम का प्राण थी। समरू बेगम और किरंगियों का हत्याकाण्ड उन्हीं दिनों मेरे नगर में हुआ था। मैंने उससे पहले भी घोर पड़्यन्त्र देखे थे, अमानुषिक कृत्य देखे थे परन्तु इस हत्याकाण्ड का राज कुछ और था मैं उसे भुला न सका।

कंपनी का घातावरण धीरे-धीरे इतना, अपावन इतना भयानक होता गया कि मैं भी कराह उठा। मैं जितने सदियों के दौरान मैं क्या नहीं देखा था ! क्या नहीं सुना था ! आखिर संयुक्तप्रान्त और बिहार की

जनता ने विद्रोह किया जो सन् ५७ के गदर के नाम से विख्यात है जिस विद्रोह का नेतृत्व लक्ष्मीबाई, नाना साहब और तात्या टोपे ने किया था। उसका पूर्वी प्रबन्ध मेरे ही इलाके के एक जवाँमर्द के हाथ था जिसने ८० वर्ष की पक्की आयु में भी तलवार अपनी मूठ में पकड़ी। आरा का कैबरसिंह वही बाँका लड़ाका था जिसके आतंक से संयुक्तप्रान्त के पूर्वी इलाके और बिहार के पश्चिमी जनपद ब्राहि ब्राहि कर उठे। इलाकों के रहने वाले नहीं, उनके विदेशी शासक और उन विदेशी शासक के देशी हिमायती। आरा और मेरा नगर कुछ काल के लिये पूर्व के मेरठ और दिल्ली हो गये थे और कम से कम कुछ दिनों के लिये तो उन्होंने विदेशी शृंखला निश्चय तोड़ ही दी थी और यदि कहीं पंजाब और देशी रियासतों ने हमारी राह में रोड़े न अटकaye होते, हमारे साथ दगा न होती तो डेढ़ सौ वर्षों का यह इतिहास जो फिरंगी क्लम से लिखा गया दूसरे प्रकार से लिखा गया होता।

अब मैं अपनी कथा के अंतिम भाग के बहुत निकट आ गया हूँ परन्तु यह निकट-पास स्वयं कुछ साधारण नहीं। ५७ का गदर बिनष्ट हो गया। कम्पनी के हाथ से शक्ति निकलकर अंग्रेजी पार्लियामेन्ट के हाथ में गई और भारत समुद्र पार से शासित होने लगा। अनेक प्रकार से भारतीय सुविधा की बात कही गई परन्तु भारतीयों को अब वह शृंखला पसन्द न थी जिसके वे कुछ काल में शिकार थे। उसे तोड़ फेंकने का उन्होंने हृद निश्चय कर लिया। सन् १९२० में कलकत्ते की कांग्रेस में मोहनदास कर्मचन्द गांधी ने जिस सत्याग्रह और असहयोग की बात चलाई थी उसका पहला रूप उस महात्मा ने मेरे ही प्रान्त के विदेशी जमींदारों के विरुद्ध प्रकट किया था। गवर्नर के बाद गवर्नर आते गये थे और उन्होंने अपने अनुचित गौरव की शक्ति मेरे हो वक्ष पर प्रदर्शित की और जैसे मैंने स्वदेशी सत्ता स्वीकार की थी वैसे ही विदेशी सत्ता भी

स्वीकार करता गया परन्तु आग भीतर ही भीतर सुलगती गई थी और समय पाकर भड़क उठी ।

असहयोग आन्दोलन के साथ-साथ देश में एक नये संघर्ष की बुनियाद पड़ी और उस संघर्ष के अनेक मोर्चे मेरे ही मैदान पर लड़े गये । आजादी की यह दूसरी लड़ाई थी और स्वतंत्रता के उस बाँके लड़ाके गाँधी के नेतृत्व में देश ने अपने इतिहास का एक नया अध्याय लिखना शुरू किया । सैकड़ों हजारों की संख्या में नर-नारी, युवा-वृद्ध मेरी सड़कों पर ब्रिटिश नादिरशाही के शिकार होने लगे । हजारों-लाखों की संख्या में आजादी के लड़ाकों ने जेल अपनाए । मेरा पुराना जेल आजादी के कैदियों से भर गया । एक नया कैम जेल बना, वह भी भर गया और निरन्तर मेरी सड़कों पर लोग आजादी के नारे लगाते रहे, नित्य लोग गिरफ्तार और कैद होते रहे ।

मैंने सदियों की दौरान में बहुत कुछ देखा था । एक से एक विजेता आए, खैरेजी की । लाखों से उन्होंने मेरे नगर की सड़कें पाट दी । उनके जुल्म से आसमान और जमीन रैस्त में आ गए । पुराने दुनियाँ ही जैसे उन्होंने मिटा दी । पर जो मैंने अब देखा वह कभी न देखा था । निर्भौंक, निहत्थे नौजवान अहिंसा और सत्य के नारे लगाते सामने आते और पुलिस की गोलियों के शिकार हो जाते । दुनिया रैस्त में थी । संसार की सबसे बड़ी शक्ति ब्रिटिश सरकार अपने दायियों में लासानी थी पर यह उनके बावजूद भी इन निहत्थों को सर न कर सकी । बैरिस्टर और पकील, प्रोफेसर और मुदरिस, किसान और अहल्कार भंडे ले ले उस आजादी की लड़ाई में कूद पड़े । लंबे अरसे के संघर्ष के बाद सरकार को झुकना पड़ा ।

सन् ३७ में कांग्रेस ने अनेक प्रान्तों में अपने मंत्रिसदल बनाए ।

विहार में भी कांग्रेस मंत्रिमंडल बना। पर कुछ ही दिनों बाद उसे मजबूर होकर इस्तीफा देना पड़ा, फिर लड़ाई छिड़ी। फिर स्वतंत्रता के लड़ाकों को लाठियाँ और कैद केलनी पड़ी। पाँच वर्ष बाद एक भयंकर तूफान आया। सरकार ने एकाएक कांग्रेस के नेताओं को पकड़ लिया फिर तो जनता ने सर्वत्र बगावत कर दी। जेल टूट गए, कचहरियाँ छुट गईं, घाने जला दिए गए, रेलें उलट गईं।

मेरी सड़कों पर तब सरकार ने बदले की तैयारी की। ट्रैंक दीड़ने लगे। हवाई जहाज ऊपर उड़ने और लोगों में आतंक जमाने लगे, फिरंगी फौजें चारों ओर फिरने लगीं। गाँव जला डाले गए। मेरी सड़कों पर जगह-जगह लोगों को पकड़-पकड़ कोड़े लगाए जाने लगे। अंग्रेज अरुसर फिरंगी फौज की टोलियाँ लिए आते और निरहत्थे निरपराध नौजवानों पर गोलीदाग देते। कितने पिताओं के देखते उनके बच्चे भून दिए गए। कितनी माताओं के सामने उनकी जिन्दगी के अरमान सदा के लिए मुला दिए गए, कितनी नारियों के सुहाग धूल में मिला दिये गए।

पर जनता अपने कौल से न हिली। आजादी की लड़ाई में नित्य जीवन का बलिदान करती गईं। फिर तो जमाना बदला और अपना अधिकार भारत ने विदेशियों से छीन लिया। देश स्वतंत्र हुआ। अंग्रेज भारत छोड़ स्वदेश लौटे। आजादी मिली पर भारत घँट गया। बहुतों की उम्मीदों पर पानी फिर गया।

कांग्रेस ने फिर अपना मंत्रिमंडल बनाया। मेरे प्रान्त में भी मंत्रिमंडल बना। आजाद हिन्द ने हुकूमत हाथ में ली। पर मैंने देखा अभी जिन्दगी डावाँडोल है। लोगों में शर्म और ईमानदारी की कमी है, जिम्मेदारी का अभाव है। लालच से डिग जाते हैं, स्वार्थ से

उनकी दयानत बिगड़ जाती है। खोरवाजारी का दरिया ख़ाँ है, ईमानदार ने आदर हैं।

मैं आज अपने द्वाँ हजार यथों के इतिहास को लीट-लीट कर देखता हूँ। आज को देखकर कुछ ग़्लानि भी होती है। कुछ दादस भी बँधता है। पर संतुष्ट नहीं हूँ। आशा है जो है वह भी बदलेगा और नया सूरज निकलेगा जिसकी रोशनी मेरे नगर को प्रकाशित करेगा, मेरी सड़को पर अपनी किरणों से समृद्धि बिखैरेगा।



कन्नौज

मेरा प्राचीन नाम कान्यकुब्ज और महोदय है। आज मैं कन्नौज कहलाता हूँ। वर्दनों, गुर्जर-प्रतिहारों और गहबवालों के तीन-तीन साम्राज्य मेरे नगर में खड़े हुए और गिरे। गुप्त सम्राटों के पतन के बाद मगध की राजधानी पाटलिपुत्र का भी अवनतन हुआ और तब मैं कान्ति मान हुआ। पाटलिपुत्र की लक्ष्मी मुझे प्राप्त हुई और मेरी महोदय श्री देश के नगरों की ईर्ष्या का कारण बनी। महोदयश्री को स्वायत्त करने के लिए भारत के राजकुल परस्पर संघर्ष करने लगे। मैं तब भारत का प्रमुख नगर हुआ और जो मेरा स्वामी होता वही उत्तर भारत का भी स्वामी होता।

मेरा आरम्भ प्राचीन है परन्तु महाभारत और उपनिषद् काल में

पंचाल के काम्बल्य और अहिच्छत्र ने मुझे अधिकतर टक लिया था। जब उनका हास हुआ तब मैं धीरे-धीरे उत्कर्ष के मार्ग पर चढ़ा और तबसे सदियों निरन्तर मेरी सत्ता देश पर व्याप्त रही। जब बत्सों ने कौशाम्बी के चतुर्दिक् अपना राज्य स्थापित किया तब मैं उनके प्रमुख नगरों में से था और अनेक बार मैंने अहिच्छत्र और काम्बल्य की मर्यादा छीन ली। धीरे धीरे वे अतीत की स्मृति में खो गए; कौशाम्बी स्वयं नष्ट भ्रष्ट हो गई परन्तु मैं दिनोंदिन उन्नति करता गया।

ऐतिहासिक काल में जब उदयन की विलासिता ने बत्सों को निर्धाय कर दिया और नन्दों ने शैबुनागों का अन्त कर मगध में अपना साम्राज्य कायम किया तब मैं उनके शासन में आया। फिर जब नन्दों के हाथ से लक्ष्मी सरक कर मौर्यों के हाथ चली गई तब स्वाभाविकतः मैं उस महासाम्राज्य का नागरिक हुआ जिसकी सीमाएँ हिन्दुकुश से मद्रियमण्डल (मैसूर) तक फैलीं। अशोक के महामात्र जब कौशाम्बी के केन्द्र से इधर के प्रान्त पर शासन करने लगे तब मैं भी उस प्रान्त का एक विशिष्ट अंग बना और जब मौर्यों का साम्राज्य शुंगों के हाथ में आया तब मैंने कौशाम्बी के साथ ही उनका शासन स्वीकार किया। शुंगों का अधिकार बहुत दिनों मेरी भूमि पर न रह पाया और शीघ्र मैं कौशाम्बी के साथ ही स्वतंत्र हो गया। तब मुझ पर 'मित्रों' का अधिकार हुआ और उनके शासन में मगध से स्वतंत्र हो मैं अपने भाषी उत्कर्ष के स्वप्न देखने लगा यद्यपि मेरा अपना और एकाकी उत्कर्ष अभी दूर भविष्य की बात थी।

इस बीच भारत में विशेष उधल-पुधल देली और चूँकि मैं उत्तर-पश्चिम की ओर से पूर्व जानेवाली सेनाओं के प्रशस्त मार्ग पर बसा था, मुझे अनेक बार विदेशी सेनाओं का सामना करना पड़ा। विदेशी सेनाएँ जो उस काल आर्य दशतता में लासानी थीं। पहले ग्रीक आये

फिर शक और फिर कुशाण । विदेशी इस दिशा में बहुत काल न उठरे, यद्यपि उनका एक राज्य पूर्वी पंजाब के शाकल में स्थापित हो गया था और मैं उनके प्रभाव में कम और मगध के प्रभाव में अधिक रहा और जब जब उनका अधिकार सीमित होता रहा तब तब मैं भी स्वतंत्र होता रहा यद्यपि मेरे पास अपनी कोई विशेष शक्ति नहीं थी । शक भी मध्य देश में बहुत काल तो न उठरे परन्तु मथुरा के केन्द्र से उन्होंने अनेक बार मुझे लूटा । उनका एक दूसरा राजकुल उज्जयिनी में प्रतिष्ठित हो गया था और मथुरा और उज्जयिनी के राजदूत अक्सर मेरी और कौशाम्बी की राह आते और जाते रहे । परन्तु विदेशी राजकुलों में सबसे लम्बा और गहरा अधिकार मुझपर कुपाणों का रहा । कनिष्क ने मेरी ही राह जाकर पाटलिपुत्र से अश्वमेध को छीना था और उसकी सीमाएँ मगध तक होने के कारण मैं भी कुशाणकाल के प्रायः अन्त तक कनिष्क के वंशधरों के अधिकार में बना रहा ।

धीरे धीरे याकाटकों और नागों को चोटों से जब कुपाणों के प्रान्त बिसर गए तब मैं पहले याकाटकों फिर नागों के अधिकार में आया यद्यपि याकाटकों का अधिकार शासन के रूप में नहीं परन्तु जब तब उनके धावों के रूप में मुझ पर हुआ । वस्तुतः शासन मुझ पर नागों का हुआ जिन्होंने कुपाणों के अन्तिम राजा को भगा कर मथुरा पर अधिकार कर लिया था । नागों का पश्चिमी केन्द्र मथुरा और पूर्वी मिर्जापुर के जिले में कान्तिपुर (कन्नित) और काशी हुए । और इनके बीच की भूमि पर कुछ काल तक बराबर नागों का प्रखर तेज बरसता रहा । धीरे धीरे उनके कई राजकुल अन्तर्वेद में स्थापित हुए और समय के अनुकूल मैं कभी एक के कभी दूसरे के अधिकार में जाता रहा । धीरे-धीरे मगध में गुप्तों का उदय हुआ और उनकी बढ़ती सीमाएँ मध्य देश को संस्था निगल गई । समुद्रगुप्त ने दिग्विजय और अश्वमेध किए और उसी क्रम

में आर्यावर्त के राजाओं को उखाड़ फेंका। तब कौशाम्बी में नाग राजाओं ने एक साथ उसका सामना किया और उसकी चोट से विनष्ट हो गए। उनकी पराजय का परिणाम मुझे भुगतना पड़ा और मैं समुद्र-गुप्त के शासन में आया।

गुप्तों के साम्राज्य का हूणों ने तोड़ दिया और तब पाँचवीं सदी के अन्त में पाटलिपुत्र की सीमाएँ नितान्त संकुचित हो चलीं। मगध में तब भी एक गुप्त राजकुल प्रतिष्ठित था पर उसकी शक्ति कुछ विशेष न थी। जब गुप्तों का छठीं सदी के शुरू में प्रायः सर्वथा अन्त हो गया और इस विछले गुप्तकुल ने आसपास के प्रदेशों पर अधिकार किया तभी मेरा उत्कर्ष भी शुरू हुआ। अब मेरे लिए यह सम्भव न था कि मैं गुपचाप मगध का जुआ अपने कंधों पर ले लूँ और मैं बराबर इस काल पाटलिपुत्र के स्वामियों से उलझ पड़ने का अवसर ढूँढ़ने लगा।

अबसर मिलते ही मैं, अबसर जिनका मैंने पूर्णतः सदुपयोग किया। मेरे नगर में एक महान् राजकुल प्रतिष्ठित हो चुका था और उसने नए सिरे से अन्तर्वेद में अपनी शक्ति बढ़ानी शुरू की। यह राजकुल मौखरियों का था, मौखरी क्षत्रियों का जो छठीं सदी ईस्वी के आरम्भ में ही अपनी शक्ति का स्वप्न देखने लगे थे। उनका प्रारम्भ नए मगध गुप्त कुल के प्रायः समकालीन ही था और इसी कारण दोनों राजकुलों में टकराएँ हो जानी स्वाभाविक थी। टकराएँ क्या उन्होंने आमरण संघर्ष का रूप धारण किया और निरन्तर पाटलिपुत्र और मुक्त में लोहे से लोहा खजने लगा। कभी मेरे मौखरी विजयी होते कभी मगध गुप्त, परन्तु एक विजय ही दूसरे युद्ध का कारण बन जाती और आग की लपटें सदा आसमान धूमती रहतीं।

परन्तु मेरा उत्कर्ष वास्तव में छठीं सदी के मध्य हुआ जब ईरान-वर्मन् ने अपने विजयों का ताँता बाँध दिया। मौखरियों की शक्ति के

साथ में पहली बार स्वतंत्र हुआ था और पहली बार मैंने तब शक्ति का स्वाद पाया। मैं एक उदीयमान राजकुल की अथ राजधानी था। और मैं अपने उत शक्तिम प्रगति पर आरुढ़ हुआ जो भाषी ने मेरे भाग्य में लिख दिया था।

ईशानवर्मन् मौलरियों में सबसे शक्तिमान हुआ यद्यपि उसकी शक्ति बहुत काल तक कायम न रह सकी। गुप्तों से संघर्ष चल रहा था। कुमार गुप्त तृतीय और ईशानवर्मन् में जो अन्तिम युद्ध हुआ उसमें मेरे स्वामी को हार खानी पड़ी। कुमारगुप्त ने प्रयाग पर भी अधिकार कर लिया और मरने पर उसका भाइकर्म त्रिवेणी पर हाँ हुआ। सर्ववर्मन् ने दामोदर गुप्त को परास्त कर पिता की हार का बदला लिया और एक बार फिर मैं गर्भ के साथ पाटलिपुत्र की ओर देखने लगा। सर्व ने हूलों का भी पराभव किया और मेरी सोमाएँ फिर एक बार बढ़ चली। पर मेरे उत्कर्ष को भी दम लेना पड़ा जब गृहवर्मन का भाग्य मेरे भाग्य से बँधा। ऐसा नहीं कि गृहवर्मन बीर न हो, मरुत्वाकाँक्षी न हो। या वह दोनों परन्तु यह उस राजनीतिक दुरभिसन्धि को सही सही न समझ सका जिसने उसकी शक्ति के साथ ही उसके जीवन का भी अन्त कर दिया।

गृहवर्मन के शासनकाल तक मेरी प्रतिष्ठा इतनी बढ़ गई थी कि यानेश्वर के उस समुन्नत और यशस्वी प्रभाकरवर्द्धन ने भी मेरे मौलरी राजकुल के साथ विवाह सम्बन्ध की प्रार्थना की जो हूणों और गुर्जरों के स्वप्न का दैत्य हो गया था। उसने अपनी कन्या राज्य भी गृहवर्मन को ब्याह दी थी। कुछ पहले मगध के महामेन गुप्त ने मालवा में एक नए गुप्तकुल की स्थापना की थी। उस कुल के देवगुप्त ने बड़ी शक्ति अर्जित की और एक बार तो वह अपनी सेनाएँ लिए आसाम तक जा पहुँचा था। कामरूप के भास्करवर्मा के शत्रु गौड़राज शशांक के साथ उसने मैत्री की और मौलरियों से वंशगत वैर मिटाने के लिए नए मित्र के

साथ वह मुक्त पर चढ़ आया। ऐसा करने की विशेषकर उसकी हिम्मत तब हुई जब उन्होंने सुना कि प्रभाकरवर्द्धन की यानेश्वर में मृत्यु हो गई है।

मेरे स्वामी गुरुद्वर्धन को युद्ध में मार उन्होंने मुक्त पर अधिकार कर लिया और मेरी रानी राज्यभी को कारागार में डाल दिया। प्रभाकरवर्द्धन का पुत्र और राज्यभी का भाई राज्यवर्द्धन तब तक यानेश्वर की गद्दी पर बैठ चुका था और अब वह अपने सम्बन्धी के हन्ता देवगुप्त के विरुद्ध बढ़ा परन्तु इस औदार्य का मूल्य उसे अपने प्राणों से चुकाना पड़ा। देवगुप्त और शशांक ने जिस राजनीतिक दुरभिसन्धि के जाल में वे इसी में वह भी आ फँसा और उसकी हत्या हो गई। मौलरियों का शासन सम्मत् शासन मेरी धरा से उठ गया।

राज्यवर्द्धन का अनुज हर्षवर्द्धन तब यानेश्वर का राजा हुआ और शीघ्र वह भाई और बहनार्थ को हत्या का बदला लेने शत्रुओं को और बढ़ा। देवगुप्त तो सम्भवतः उसकी चोट से बिनष्ट हो गया परन्तु नीति-कुशल गौड़राज शशांक राज्यभी को मुक्त कर स्वदेश लौट पड़ा और हर्ष की प्रतिष्ठा के बावजूद भी वह उसके हाथ न लगा। मौलरियों के नाश का मुझे दुःख निश्चय था परन्तु जो भावी सम्पदा मुझे यानेश्वर के संयोग से मिली उसका मैं बचान नहीं कर सकता। अब भी अर्थात् हर्ष के मेरे रात्रा होने के पहले भी मैं स्वतंत्र राजकुल की राजधानी था परन्तु प्राचीन पाटलिपुत्र को प्रतिष्ठा से मैं तभी लांछा ले सका जब मेरे प्रासादों में हर्ष का निवास हुआ। हर्ष ने राज्यभी को दूँद कर पाया परन्तु बहिन की शासन सम्बन्धी उदासीनता के कारण स्वयं उसकी भी मुक्तमें विशेष रति न हुई परन्तु मंत्रियों के आनन्तर्य से उसे मौलरियों का सिंहासन भी यानेश्वर के साथ ही स्वीकार करना पड़ा।

अब मेरा उत्कर्ष दिनों दिन बढ़ चला। हर्ष यद्यपि बौद्ध मत की

और कबका भुक चला या। उसे अन्य बौद्ध राजाओं की ही भाँति रक्त-पाव से धुणा न थी। हिंसा उसकी दीक्षित अहिंसा का हृदय थी और वह अपने साठ हजार हाथियों, एक लाख धुइसवारों और अनन्त संख्यक पैदल सेना लेकर उत्तर भारत की विजय के लिए निकल पड़ा। गौड़ के विरुद्ध उसने कामरूप से सन्धि की और उत्तराखण्ड पर हल चला दिया। फिर वह दक्षिण लौराष्ट्र को और मुड़ा। उसके आक्रमण से बलभी का राजा भुवनेन द्वितीय राजधानी छोड़ भदौँच के दक्षिण की शरण चला गया यद्यपि उसकी मदद से वह फिर लौटा और उसने अपनी गद्दी पर अधिकार कर लिया। हर्ष ने उससे मित्रता कर उसे अपनी कन्या ब्याह दी।

सारे उत्तराखण्ड के स्वामी हो जाने पर मेरी तृष्णा बढ़ी। शक्ति की तृष्णा भी काम की ही तृष्णा की भाँति है जो विर्यों की आहुति से घटती नहीं निरन्तर बढ़ती ही जाती है। हर्ष अब दक्षिणभय के शक्तिमान् चालुक्य पुलकेशिन द्वितीय से जा भिड़ा। पुलकेशिन अप्रतिम योद्धा था और उसने हर्ष को न केवल परास्त किया वरन् उसके हाथियों को मार कर उसने मैदान पाट दिया और भय विगलित हर्ष मैदान छोड़ पीछे लौटा। पुलकेशिन ने ईरान के बादशाह खुशरो द्वितीय से मैत्री की और हर्ष ने उत्तर में चीन के सम्राट से। हर्ष के दिग्विजय ने मुझे समस्त संयुक्तप्रान्त, मगध, उड़ीसा, बंगाल, कुरुक्षेत्र, पूर्वी राजपूताना और पूर्वी पंजाब का स्वामी बना दिया। सिन्ध और हिमालय के अनेक राजाओं से भी कर ग्रहण किया था और मैं इस विशाल साम्राज्य को राजधानी था।

जितना गौरव मुझे हर्ष ने इस काल दिया उतना मुझे कभी न मिला, न पहले, न पीछे। चीनी यात्री ह्वेनत्सांग इस समय देश में भ्रमण कर रहा था। नालन्दा के उस विश्वविद्यालय में जो अधिकतर

मेरे हर्ष के दान सम्मान से ही बढ़ा था और जो संवार के विद्यापीठों में कपालमणि था। चीनी भ्रमक ने अपनी बुद्धि का परिचय दिया था। उसका सम्मान और महायान का प्रचार करने के लिए हर्ष ने मेरे नगर में एक बड़ा समारोह किया। कुमारराज, भास्कर वर्मा और अपने अतिथि के साथ मंजिलें सर करता गंगा के दक्षिण किनारे नब्बे दिन चल बह राजधानी पहुँचा। मेरे नगर में तब तक अट्टारह माण्डलिक राजा और हजारों निमन्त्रित विविध सम्प्रदायों के आचार्य आ पहुँचे थे। हजार हजार भोताओं के बैठने लायक दस विशाल मण्डप और आदमकद बुद्ध की स्वर्ण मूर्ति, प्रतिष्ठित ऊँचा स्तम्भ पहले से ही प्रस्तुत हो चुके थे। परिपद की कार्यवाही उस जलून के बाद आरम्भ हुई जिसमें हर्ष ने बुद्ध मूर्ति की परिचर्या में शक्र का स्थान ग्रहण किया था और कामरूप के भास्कर वर्मा ने ब्रह्मा का।

पाँच दिनों तक ह्येनत्सांग महायान-विद्वान्तां का निरूपण करता रहा और अन्त में उसने अन्य साम्प्रदायिकों को अपनी बुक्तियों काटने की चुनौती दी परन्तु ब्राह्मण दार्शनिक जब उससे तर्क में कुछ भारी पड़ने लगे तब हर्ष को बह असह्य हो उठा और उसने जो पोषणा की उसका अन्याय मैंने साक्षात् देखा। उसने ऐतान किया कि यात्री का विरोध करने वालों की जवान काट ली जायगी और उसका नतीजा यह हुआ कि परिपद समाप्त हो गई परन्तु इसका परिणाम हर्ष को स्वयं भुगतना पड़ा। ब्राह्मण उसकी इस अनोखी को बर्दाश्त न कर सके और उन्होंने उस पर आक्रमण किया। पाँच सौ ब्राह्मण तब देश से बाहर निकाल दिए गए और यात्री का अधिकाधिक आतिथ्य हुआ।

मैं अपनी शान की बात अपने मुह बसा कहूँ। उसका भयान खुद उस चीनी यात्री ने किया है। वह लिखता है कि इस नगर में दो छः मील लम्बा और सवा मील चौड़ा है तो बीस बिहार है जिनमें दस हजार

मिथु निवास करते हैं, और दो सौ देवालय। नगर विस्तृत, सुन्दर और स्वच्छ है, उसके भवन चूने से पुते सारे और स्वास्थ्यकर है। राजधानी वस्तुतः भारतीय संस्कृति की राजधानी है जहाँ देश के सुन्दर दर्पण सहस्र स्वच्छ वस्त्र पहने नागरिक देवताओं को भी लज्जा देने वाली शुद्ध बाणी में वार्तालाप करते हैं। उनका उच्चारण शब्द और सार्थक होता है और उनकी भाषा देश के भाग भावियों के लिए प्रमाण है।

निश्चय विदेशी द्वारा प्रस्तुत मेरी यह प्रशस्ति तनिक भी श्लाघात्मक नहीं। मेरे बैनर और समृद्धि का अन्दाज उस अनन्त दान से लगाया जा सकता है जो मेरे स्वामी ने महामोक्षारिपद् के श्रवण पर प्रयाग में त्रिवेणी के संगम पर यात्री के सामने हो किया था और जैसा वह हर पाँचवें वर्ष किया करता था। हर पाँचवें वर्ष मेरे लज्जाने का धन इसी प्रकार स्वाहा होता था। परन्तु फिर प्रान्तों की आय से वह भर जाता था। प्रान्तों की आय कैसे आती थी, किस तरह मेरे राजपुरुष का धन, उसके पसोने की गादों कमाई छीन लाते थे, इससे न मुझे कोई गरज थी और न मेरे स्वामी वर्ष को। जब तक उसके हाथ धन की कमी से न रुकते थे, जब तक इस दान क्रिया से स्वर्ग में बनते उसके प्रासाद का काम न रुकता तब तक उस आय-कर्मण्य के तरीकों को जानने की उसे जरूरत न थी। छः छः बार यह दान समारोह चला और धन पानी की तरह बहा। यद्यपि यात्री सड़कों पर लुटते रहे, स्वयं वर्ष का मित्र चीनी यात्री दो दो बार उसके राजमार्गों पर लुट गया।

वर्ष का शासन इतना अस्थिर था, उसकी बुनियाद इतने कमजोर पायों पर खड़ी थी कि उसका टिक सकना असम्भव था और वह टिक नहीं सका। वर्ष के मरते ही उसके मन्त्री अर्जुन ने उसके सिंहासन पर अधिकार कर लिया। इस काल मेरे नगर में काफी रक्तपात हुआ जिसमें अनेक दलों ने सत्ता की होती खेली। वर्ष ने जीव के हाथ सम्राट को

अपने दूत भेजे थे जिसके उत्तर में उसने अपने दूत भेजे और वह दूत मण्डल मेरे नगर में पहुँचा जब अर्जुन राव्य पर अधिकार कर चुका था। उसने चीनी दूतों को मरवा डाला परन्तु उसका नेता निकल भागा और तिब्बती-नैगली सेनाओं को मदद से उसने अर्जुन को परास्त कर चीन भेज दिया। हर्ष के साम्राज्य के प्रान्त विस्तार गए और मैं फिर शक्ति दृष्टि से अपने भावी स्वामी की राह देखने लगी।

सातवीं सदी के मध्य में मेरे नगर में यह राजनीतिक क्रान्ति हुई थी। उसके कुछ ही काल बाद सहसा एक नया राजकुल मेरे आँगन में उतरा। उसके पिछले राजा तो अत्यन्त कमजोर हुए परन्तु उनमें पहला यशोवर्मन् विशेष प्रभावशाली हुआ। मैं उनके कुल को नहीं जानता पर कहते हैं वह मौलरियों का ही वंशधर था। उसने मेरे नगर और अन्तर्वेद की डॉक्टरों की स्थिति स्थिर कर दी। जीवितगुप्त द्वितीय को उसने परास्त कर भाग्यों को अपनी सीमा में रहने को मजबूर किया। और अनेक कार्यों से उसने मेरी निर्बलता का मार्जन किया। काश्मीर के ललितादित्य मुष्कापीद ने तब उस पर आक्रमण कर उसे परास्त कर दिया। उसके दरबार में साहित्य के दो विशिष्ट कवि प्रसिद्ध हो गए हैं, एक भवभूति दूसरा वाक्पति। यशोवर्मन् की पिछली पराजय ने मेरा सिर झुका दिया था और उसका परिणाम यह हुआ कि उसके उत्तराधिकारियों को बार बार अपने मुँह की लानी पड़ी।

इसके बाद मेरे नगर में आयुधों का राजकुल शासन करने लगा जिसके तीनों राजा वज्रायुध, इन्द्रायुध और चक्रायुध अपनी दुर्बलता के लिए देश में प्रसिद्ध हो गए हैं। वज्रायुध पर काश्मीर के जयापीद ने सकल आक्रमण किया; इन्द्रायुध के समय राष्ट्रकूट नृपति ध्रुव ने गंगा-यमुना के दोआब पर हमला कर गंगा-यमुना को अपना राजचिह्न बनाया। इन्द्रायुध पर बंगाल के धर्मपाल ने भी आक्रमण किया और उसे सिंहासन

न्युत कर गद्दी चक्रायुध को दे दी तब मेरी राजनीति इतनी कमजोर हो गई थी कि हर कोई मुझ पर आक्रमण करने लगा। राष्ट्रकूट तो प्रायः अपने दक्षिण आधार से उठकर मेरे हस्त सेतों को उखाड़ फेंकते। इसी प्रकार प्राल और प्रतिहार भी अक्सर मुझ पर छापे मारते। वस्तुतः इसी काल गंगा जमुना के दोआब और मध्यदेश के लिए राष्ट्रकूटों, पालों और प्रतिहारों में त्रिवर्गस्य संघर्ष शुरू हुआ। धर्मपाल ने जब इन्द्रायुध की जगह चक्रायुध को मेरे सिंहासन पर प्रतिष्ठित किया तब और वृषति तो चुप रहे पर राष्ट्रकूटों को पालों का यह विधान मान्य न हो सका और भुष के पुत्र गोविन्द तृतीय ने सहसा दोआब पर आक्रमण कर दिया। चक्रायुध और धर्मपाल दोनों को उसने बुरी तरह परास्त किया और गौड़ के वृषति को अपने छत्र चेंबर छोड़कर भागना पड़ा। धर्मपाल हार चुका था और गोविन्द तृतीय की मृत्यु हो गई तब अगसर पाकर प्रतिहार वृषति नागभट्ट द्वितीय ने कन्नौज पर अधिकार कर लिया। गुर्जर-प्रतिहार, मारवाड़ और उज्जयिनी में प्रतिष्ठित ये यद्यपि नागभट्ट के पिता कत्तराज को राष्ट्रकूटों ने उज्जयिनी से निकाल मरुभूमि में शरण लेने को बाध्य किया था। और जब उसके पुत्र ने कुल की मालवा में सोई सम्पत्ति पर फिर से अधिकार करना चाहा तब गोविन्द तृतीय ने उसे मार भगाया था। नागभट्ट ने उधर से हाथ खींच मुझ पर डाला और मुझे उसने प्रतिहारों की राजधानी बनाया। अपने संरक्षित चक्रायुध की इस प्रकार दृष्टे देस धर्मपाल ने नागभट्ट के विरुद्ध युद्ध यात्रा की पर मुंगेर में नागभट्ट ने उसे इस बुरी तरह परास्त किया कि उसे उलटे पाँच लौटना पड़ा।

नागभट्ट की विजय और सम्राटवदीय प्रतिहारों के मेरे नगर में प्रतिष्ठित होने पर मेरा लुब्ध हुआ गौख फिर लौटा। आयुधों की दुर्बलता ने मुझे बार बार विजेताओं के सामने सिर झुकाने को मजबूर किया था,

बार बार विदेशी राजकुलों द्वारा अपनी राजनीति सँभालने से मैं अपना-
नित दुःखी था। अब मुझे शक्ति और मान दोनों मिले। नागभट्ट ने
बल्ल, मालवा और काठियावाड़ को जीतकर मुझे गौरवान्वित किया।
पूर्वी राजपूताना के मत्स्यों और सिंध के तुरुकों को भी उसने धूल
चटा दी। आन्ध्र, कलिंग, विदर्भ, आदि के राजा मुझ से मैत्री और
सहायता माँगने लगे।

नागभट्ट का पुत्र रामभद्र कमजोर और विलासी निकला पर उसके
पुत्र मिहिरगोत्र ने मेरी शक्ति बुदेलखण्ड, मारवाड़ और हिमालय की
तराई तक कायम रखी। वह बड़ा सुलभ हुआ नृपति था। उसने जब पूर्व
की ओर हाथ बढ़ाया और घर्मराल के यशस्यो पुत्र देवपाल ने उसे
परास्त कर दिया तब वह उधर से हाथ खींच दक्षिण राजपूताना की ओर
मुड़ा और उसे कुचलता नर्मदा तट तक को उज्जयिनी की चतुर्दिक भूमि
चौद बाली तब गुजरात के नृपति ब्रुवभाराधर्ष को उसकी अनोति असह्य
हो उठी और उसने उसे परास्त कर दिया। इस पर वह सौराष्ट्र में पिल
पड़ा और कर्नाल पर अधिकार कर लिया। मुलेमान लिखता है कि वह
मुसलमानों का सबसे बड़ा शत्रु था।

मेरा प्रताप दिन बूना रात चौगुना बढ़ चला था। महेन्द्रपाल ने भी
मेरी शक्ति कुछ कम न बढ़ाई। दसवीं सदी का आरम्भ था। नई
शक्तियाँ इधर उधर उभड़ रही थीं परन्तु महेन्द्रपाल चुनचाप विजय पर
विजय मेरे आँगन में बिखेरे जा रहा था। मगध और उत्तर बंगाल उसने
जीत लिया और सौराष्ट्र में उसके प्रतिनिधि माणलिक उसकी ओर से
शासन करते थे। हाँ, पश्चिम और दक्षिण में अपना आचार छोड़
निरन्तर व्यस्त रहने का एक दुष्परिणाम भी हुआ। महेन्द्रपाल ने कुछ
काल पहले पंजाब में काश्मीर नृपति से कुछ प्रदेश छोन लिये थे। अब
उसकी व्यस्तता से अक्सर पाकर शंकरवर्मन ने अपने प्रदेश सहसा आक्रम-

मश कर वापस ले लिए। परन्तु महेन्द्रपाल उनको फिर से जीतने के लिए जीवित न रह सका।

महेन्द्रपाल के आश्रय में मेरे नगर में एक प्रख्यात साहित्यिक ने आश्रय पाया—राजशेखर ने। राजशेखर अलंकार शास्त्र का महापण्डित था और उसने मेरे ही द्वार में अपने विरुपात 'काव्यमीमांसा' नामक ग्रन्थ का प्रणयन किया। उसके बालरामायण, बालभारत और कपूर-मंजरी भी मेरे ही नगर में रचे गए।

महेन्द्रपाल की मृत्यु के बाद मेरी राजनीति जो कमजोर पड़ी तो प्रतिहारों ने ग्रहयुद्ध छिड़ गया। भोज द्वितीय और महीपाल दोनों वैमात्र भाई थे और उनको लड़ाने वाले पड़ोसियों की कमी न हुई। कोकल्ल चेदि ने भोज की सहायता की पर भी हर्ष चन्देल ने महीपाल को मेरी गद्दी पर बिठा दिया। महीपाल जमकर बैठा और उसने भोज और चेदियों को कहीं पनपने नहीं दिया। परन्तु महीपाल स्वयं को राष्ट्रकूटों का आक्रमण परदाश्व करना पड़ा। इन्द्र तृतीय ने मेरे नगर तक के भू प्रवेश को उजाड़ डाला और प्रयाग तक लूटमार की। पालों ने अपने अनेक भू सरह सोन के पूर्व तक फिर से जीत लिए। महीपाल ने अपनी स्थान की र्वि मध्यभारत के अनेक भागों को जीतकर की। यद्यपि उसके विछले दिन सुख से न बीत सके और राष्ट्रकूट कृष्ण तृतीय ने फिर मेरे प्रदेशों को लूटा खोटा।

महेन्द्रपाल द्वितीय ने निश्चय काफी काल तक प्रतिहारों की शक्ति और राज्य पूर्ववत् संभाल रखा परन्तु दिन दिन प्रतिहारों की शक्ति कमजोर होती गई और उनके प्राग्त बिलखते गए। उन प्राग्तों में नई शक्तियों की प्रतिष्ठा हुई—महोबा में चन्देलों की, ग्वाल्जियर में कच्छ-पचातों की, दाहल में चेदियों की, मालवा में परमारों की, अन्हिलवाड़

में चालुक्यों की, दक्षिण राजपूताना में गुहिलों की और अजमेर साँभर में चाहमानों की ।

परन्तु प्रतिहारों का सर्वथा विनाश ही न हो गया और मेरे नगर तक में कुछ काल तक उनका अधिकार बना रहा । राज्यपाल दसवीं सदी के अन्त में मेरा राजा था जिसने सुकुत्तगीन के विरुद्ध जयपाल की मदद के लिए सेना भेजी और हार खाई । सुकुत्तगीन के पुत्र महमूद गजनवी को रोकने के लिए आनन्दपाल ने जब हिन्दू राजाओं की सहायता के लिए आमन्त्रित किया तब राज्यपाल ने फिर अपनी मदद भेजी और फिर उसे हारना पड़ा । १०१३ ईस्वी में उसे स्वयं अपने नगर से महमूद के सामने भागना पड़ा । महमूद उत्तर भारत के सुकुटमणि मुक्त कन्नौज के बैभव और समृद्धि का संवाद पा चुका था और अब वह मुझे लूटने चल पड़ा था । राज्यपाल ने जब उसके आने की खबर सुनी तब वह सहसा भागकर गंगा पार के जंगलों में जा छिपा । महमूद ने मुझे जुरी तरह लूटा और मेरे मन्दिर भूमिस्त कर दिए । अनन्त अनन्त धन रत्न अपने ऊँटों पर लाद वह गवनी ले गया । सदियों से मेरे मन्दिरों ने अगाध सम्यति संचित हो गई थी । हिन्दू राजा एक दूसरे से लड़ते जरूर थे मगर जहाँ तक मन्दिरों का सम्बन्ध था वे उन्हें छूते तक नहीं थे और उन पर धन भी चढ़ाते थे । सदियों की वह सारी संचित सम्यति महमूद उठा ले गया ।

अब जो उसके लौटने पर राज्यपाल लौटा तब पड़ोसी हिन्दू राजाओं को उससे बड़ी शिकायत हुई और चन्देल नृपति गण्ड ने अपने पुवराज विद्याधर देव को सेना के साथ भेज राज्यपाल का बंध करा दिया और उसकी गद्दी, उसके बेटे त्रिलोचन पाल को दे दी । परन्तु मैं चन्देलों की यह नीति समझ न सका जब कि महमूद के हमले के समय वे स्वयं अलग रहे थे । अब जो महमूद ने यह सुना तब वह

लौटा। उसने त्रिलोचन पाल को उखाड़ फेंका और मेरे नगर को उसने फिर लूटा। परन्तु स्वयं चन्देल भी उसकी चोट से बच न सके। प्रतिहारों में किसी प्रकार यशराल फिर भी बच रहा जो इस कुल का अन्तिम राजा था। प्रतिहारों के बाद मेरी राजनीति फिर खिन्न भिन्न हो गई। फिर मुझ पर मत्स्य-न्याय का दुराचरण होने लगा और मैं मजबूतों की छीना भावटी से ऊब उठी।

धनारस की ओर जाने वाले नियास्तगीन ने मुझे बुरी तरह लूटा, चेदि गाँगेय देव और उसके बेटे कर्ण ने भी मुझ पर अपने आक्रमणों के अनुग्रह किए और मालवा के परमार भोज ने भी मुझे अपनी शक्ति और लूट-लिप्ता का मजा चखाया। इस प्रकार जब मैं इस निरन्तर छीना-भावटी और अनवरत आक्रमणों से व्याकुल थी तभी एक असा-मान्य सामरिक चन्द्रदेव ने सहसा मुझ पर अधिकार कर मेरी रक्षा की। उसी ने प्रसिद्ध गहड़वाल राजकुल की मेरे नगर में प्रतिष्ठा की और मैं फिर एक बार गौरव और उत्कर्ष के लम्बे ढग भरने लगा।

चन्द्रदेव ने शीघ्र सारे संयुक्त प्रान्त पर अपना अधिकार कर लिया। दिल्ली भी उसके कब्जे में आ गई और अपने अभिलेख में उसने उचित ही अपने आप को काशी, अयोध्या, कन्नौज और इन्द्रस्थान (दिल्ली) का रक्षक लिखवाया। परन्तु वस्तुतः गहड़वालों के शासन में गोविन्द-चन्द्र ने मुझे विशेष गौरव दिया। जब वह केवल युवराज था तभी उसने गज़नी के सुल्तान मयूद तृतीय के भेजे हाज़िब तुग़लागिन को बुरी तरह परास्त कर दिया। इसके अतिरिक्त उसने मगध का भी एक भाग जीत लिया और पटने तथा मंगेर के जिलों में ब्राह्मणों को गाँव दान दिए। फिर कुछ तो अपने राज्य की सँभाल के लिए और कुछ सेनाओं के आक्रमण को रोकने के लिए उसने काशी को अपनी पूर्वी दूसरी राजधानी बनाया। पूर्वी मालवा को भी उसने जीता जिससे न केवल मेरी समृद्धि

बढ़ी बरन् मैं उस समय के संसार के सबसे प्रसिद्ध नगरों में गिना जाने लगा। गोविन्दचन्द्र गढ़वाल कुल का सबसे प्रतापी दूतति था और उसको मैत्री दूर दूर के राजाओं से थी। काश्मीर का जयसिंह, गुजरात का सिद्धराज जयसिंह और दूर के चोल तक मेरी मैत्री का दम भरते थे। गोविन्द चन्द्र के मन्त्री लक्ष्मीधर ने इसी काल मेरे नगर में अपना प्रसिद्ध 'कल्पतरु' लिखा जो कानून के साहित्य में लासानी ग्रन्थ है।

जहाँ तक विदेशी शक्ति के मुकाबले की बात है विजयचन्द्र भी कुछ कम सफल न हुआ। गजनी से निकाले जाने पर अमीर खुसरों ने लाहौर पर कब्जा कर लिया था, और छव वह कजोज की तरफ बढ़ा परन्तु विजयचन्द्र ने उसे हरा कर उल्टे पाँव लौटा दिया। विजयचन्द्र के शासन काल में यद्यपि मेरे दूसरे प्रान्त मेरे अधिकार में बने रहे, दिल्ली मेरे हाथ से निकल गई। शाकम्बरी के चाह्मानों का सूर्य उदय हो रहा था और उनके वत्सराज चतुर्य योसल देव ने दिल्ली मुझसे छीन ली।

इस कुल का मेरा अन्तिम राजा जयचन्द्र हुआ। मैं पहले कह चुका हूँ कि मेरी महत्ता राजनीतिक दृष्टि से इन दिनों बढ़ी थी आं कभी पाटलिपुत्र की रह चुकी थी या जो पीछे दिल्ली की हुई। और यद्यपि जयचन्द्र तक पहुँचते पहुँचते गढ़वालियों की शक्ति क्षीण हो चुकी थी परन्तु अपने शीर्ष से उस दूतति ने उसे प्रतिष्ठित रखा। अनेक राजा उसका लोहा मानते थे और एक बार तो वह चौहानों की नाक के नीचे से गुजरात की ओर बढ़ गया था और उधर उसने भारकाट मचा दी थी। पिछले दिनों में वही एक राजा था जिसने अश्वमेध किया। उसके अश्वमेध में अनेक राजाओं ने परिचर्या की; स्वयं चौहान नरेश पृथ्वीराज के लिए द्वारपाल का स्थान नियत किया गया था इस अर्थ में कि दिल्ली मेरा पूर्वी द्वार थी और वह उसका रक्षक था। परन्तु पृथ्वीराज स्वयं कुछ साधारण राजा था जोड़ा न था। उसने देश के भीतर

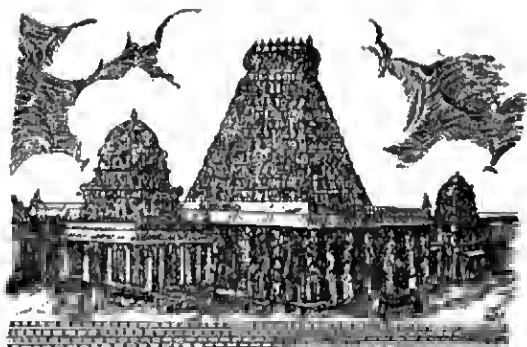
अनेक प्रदेश जीते थे और वर्यपि वह प्रगट विलासी था उसने अपनी वीरता के भी अनेक परिचय दिए। और वह उत्कालीन ललित कथाओं का उद्भवन की भाँति नायक हो गया। परन्तु उसकी अधिकतर लड़ाइयाँ नारियों के लिए ही हुई थीं। स्वयं जयचन्द्र के साथ उसने उसकी लड़की भगाकर उससे शत्रुता पाली और उसका नतीजा यह हुआ कि जिस जयचन्द्र की मदद से पहली बार उसने शहाबुद्दीन गोरी को हरा दिया था, दूसरी बार उसी के अभाव से उससे बह दार कर मारा गया।

दूसरे साल वही शहाबुद्दीन फिर लौटा और उत्तर भारत के राजनीतिक केन्द्र मुक्तों सर कि! और उसे कल न पड़ी। शक्तियाँ असमान थीं पर जयचन्द्र चन्दावर के मैदान में अपनी सेना लेकर पठान सुल्तान के सामने आ डटा। लड़ाई जम कर हुई और अपनी सेना के साथ अस्ती बर्ष का वह बुद्ध भी खेत रहा। इस सम्बन्ध में मैं यह स्पष्ट कह देना चाहता हूँ कि इतिहास ने पृथ्वीराज के दसरी कवि चन्द के 'पृथ्वीराज रासो' पर विश्वास कर अनर्थ कर डाला है; जब उसने जयचन्द्र को कायर और देशद्रोही कहा है। मैंने तलाबड़ी के मैदान के युद्ध का वर्णन सुना है और जयचन्द्र की बहादुरी खुद देखी है और मैं कह सकता हूँ कि उस वीर ने चन्दावर के मैदान में प्राण देकर मेरा मुल उज्ज्वल किया।

अब मुझे अपने इतिहास के सम्बन्ध में सिवाय इसके कुछ कहना शेष न रहा कि मेरी स्थिति अब किगड़ कर एक मामूली कच्चे की हो गई जो आज तक बनी है। दिल्ली का कभी मेरी चेरी थी दिनोदिन उन्नति करती गई और आज वह भारत की सिरमौर है। परन्तु मुझे इस बात को तनिक भी ग्लानि नहीं क्योंकि जीवन किसी का सदा एक सा नहीं रह पाता और जो कभी चढ़ा कुछ अव अव नहीं कि नीचे भी उतर आए और इसी उसूल पर मैं जिन्दा हूँ। हाँ, पिछले दिनों में मेरी

अपनी हकीकत गो कुछ खास नहीं रही मैंने अपना मुँह खिगा लिया । मुझे याद है बिहारी अफगान शेरशाह की राजनीति और तलवार दोनों की टकराकर हुआयूँ जब भागा तब उसे राह न मिली थी परन्तु दुनिया को अपनी ताकत और बादशाहत का यकीन कराने जब वह बाबर का विलासी बंशधर एक लाख सेना लेकर मेरे मैदानों में शेरशाह के विरुद्ध आ उतरा तब मैंने सोचा शायद पानीपत मेरे मैदानों में उतर पड़ा है । पर वास्तव में देखा मैंने वह जो शायद कभी किसी ने न देखा । तोप का अभी एक गोला न छूटने पाया था, सिपाही ने अपनी कन्दूक न दागी थी कि एकाएक मुगल सेना भाग चली । शेरशाह अपने जवानों को लिए देखता रह गया । उसकी भुजाएँ दो हाथ चलाने को बेताब होती रहीं पर उन्हें मौका न मिला और मैदान साफ हो गया । फिर हुआयूँ जो भागा तो मारवाड़ और सिंध के रेगिस्तान की खाक छानता तेहरान में ही जाकर रुका । उसके बाप बाबर ने बारह हजार हुदसवारों के साथ इब्राहीम लोदी की एक लाख सेना के पैर उखाड़ दिए थे और यहाँ हुआयूँ की एक लाख सेना शेरशाह के नाम से काँप कर भाग गई । इब्राहीम ने तो राजधानी की रक्षा के लिए अपने प्राण तक लो दिए थे पर हुआयूँ ने बुद्ध चैत्र में एक नया तेवर दिया ।

उस लड़ाई में पहले की ही भाँति मेरा कुछ करना न था । वास्तव में मेरे नागरिक सदा से लड़ाइयों से उदासीन रहते आए थे । राजनीति में भाग लेना उन्होंने कभी मुनासिब न समझा । राजनीति केवल क्षत्रियों की सम्झी जाती थी और हारना जीतना उनका ही काम था । नागरिक अपने काम में सदा चुपचाप लगे रहते आए थे । विजेता चाहे देशी हो चाहे विदेशी, बुद्ध का परिणाम चाहे हार हो चाहे जीत उनको उससे कोई दिलचस्पी न थी यद्यपि उनके घरदार, उनकी जमीन रियासत अक्सर छिन जाया करती ।



कांची

मेरी गणना भारत के प्राचीन सात नगरों में है और मैं संसार की उन नगरियों में से एक हूँ जिन्होंने अपनी भूमि पर साम्राज्यों का उत्थान-पतन देखा है और फिर भी जीवित रही हैं। मैं आज भी जीवित हूँ यद्यपि मेरा प्राचीन गौरव अब न रहा। पल्लवों और चोलों के साम्राज्य मेरी ही धरा पर उठे और गिरे हैं और मैंने पारस्यों तथा चालुक्यों से संघर्ष किया है।

मैंने धर्म और संस्कृति का भी दक्षिण में नेतृत्व किया है और मैं बराबर पुरानी परम्परा की समर्थिका रही हूँ। अन्ध विश्वास, धार्मिक कट्टरपन और सामाजिक कठोरता ने अनेक बार मुझे अपना गद्द बनाया है। मेरी प्राचीनों के पीछे मनुष्य मनुष्य में देव दानव का सा अन्तर रहा

है और मैंने अपने प्रतिद्वन्द्वियों के द्वार निम्नवर्णों के सामने बन्द कर दिए हैं। मेरा इतिहास शक्ति, गौरव और कर्मरूढ़ता का है। फिर भी मैं जीवित हूँ उसी प्रकार जैसे काशी, प्रयाग और मथुरा। दक्षिण की तो मैं काशी कहाँ ही जाती हूँ।

मेरी बस्ती भी कान्ही प्राचीन है। यद्यपि मैं उस प्राचीनता का दावा नहीं कर सकती जो उन नगरों को प्राप्त है। फिर भी दक्षिण में मेरा जन्म काफी प्राचीन काल में हुआ था यद्यपि उत्तर के आर्यों ने मुझे बहुत पीछे जाना, तब जब मेरी समृद्धि वैभव और कंचन उनके हाथ लग चुका था। कनकवर्ण और स्वर्ण संचिता होने के कारण ही संभवतः उत्तर वालों ने मेरा नाम कौंची रखा है परन्तु आज तो मुझे यह भी याद नहीं कि वास्तव में मेरा नाम इससे पहले क्या था।

मेरा उल्लेख पहले पहल महर्षि पल्लव ने अपने 'महाभाष्य' में किया। फिर तो मेरा निर्देश उत्तर की कथाओं और अभिलेखों में निरन्तर होने लगा। मेरी राजनीति सुदूर अतीत में खोई हुई है और उसके प्रारम्भ के चरण में अपनी धुंधली दृष्टि से स्पष्ट नहीं देख पाती। पर पल्लवों का उत्कर्ष और उनकी कीर्ति मेरी स्मृति में घूम रहे हैं, मेरे नेत्रों के सामने मूर्तिमान हैं।

पल्लव कौन थे? यह सही सही कोई नहीं जानता। मैं स्वयं नहीं जानती। इतना मुझे याद है कि ये संभवतः ब्राह्मण थे और वाकाटक ब्राह्मण वंश की ही किसी शाखा से समुद्रभूत हुए। भारत के अनेक राजकुल ब्राह्मण रहे हैं जिन्होंने शक्ति की उपासना के कारण क्षत्रिय संज्ञा प्राप्त की है। वाकाटक स्वयं ब्राह्मण थे। पल्लव अपने को द्रोणाचार्य और अश्वत्थामा के वंशज बताते थे और मैं नहीं समझती कि उनकी उस धारणा में क्यों सन्देह किया जाय। इतना निश्चय है कि कालान्तर में उनका ब्राह्मण होना लोगों को भूल गया और तभी, स्वयं पल्लव

हो, उन्हें केवल क्षत्रिय मानने लगे। चौथी सदी ईसवी के मध्य ब्राह्मण कदम्ब राजकुल की नींव डालने वाले मयूर शर्मा का जब मेरी नगरी में अपमान हुआ तब उसने पल्लवों को क्षत्रिय कह कर ही भिस्कारा। मतलब यह कि मेरी नगरी में वेदाध्ययन करने वाले विचित्र मयूर शर्मा तक को यह पता न था कि जिन पल्लवों को वह क्षत्रिय कह रहा है वस्तुतः वे ब्राह्मण थे। और अपने ज्ञाप कर्म के कारण क्षत्रिय माने गए।

पल्लवों ने प्राकृत और संस्कृत दोनों भाषाओं की संरक्षा की। अनेक मेधावी दार्शनिक और साहित्यिक उगकी संरक्षा में और मेरी नगरी में समित्प्राप्ती होकर आए और विधिवत् विदग्ध हुए। पल्लवों ने अपने अभिलेख प्राकृत और संस्कृत में लिखवाए और इन्हीं अभिलेखों से उनके प्रारम्भिक राजाओं की कीर्ति फैली।

मेरी धरा पर उनकी कीर्ति का आरंभ श्वदेव ने किया—श्वदेव जिसने राजकुल का तो प्रारम्भ न किया पर उसकी प्रतिष्ठा निश्चय बढ़ाई। पल्लवों का गौरव वास्तव में मेरे नगर में उसके पुत्र शिवस्कन्धवर्मा ने स्थापित किया। पिता ने ही तैलंगू आन्ध्रप्रप और तमिल तोण्डमण्डल पर अधिकार कर लिया था। इसी तमिल तोण्डमण्डल की मैं राजनीतिक केन्द्र थी और शिवस्कन्ध वर्मा ने पाण्ड्यों आदि की विजय कर मेरी प्रतिष्ठा बढ़ाई। उसने विजयों का ऐसा ताँता बाँधा कि उस उठते हुए राजकुल से आस पास के राजा आतंकित हो उठे। सातवाहनों की विलसी शक्ति के ऊपर पल्लवों का पहला विद्रोह तना था और श्वदेव ने अपने उत्तरी प्रान्त आन्ध्रप्रप को उन्हीं से गूँथ कर छीन लिया था। सातवाहनों का पतन और पल्लवों का उत्थान प्रायः एक ही सदी का है; तीसरी का—तनी का जब उत्तर के मगध में एक और शक्ति—गुप्तों की—अपना मस्तक उठा रही थी।

शिवस्कन्ध वर्मा ने यज्ञों की परम्परा बाँध दी। अश्वमेध, वाजपेय, अग्निहोम उसने सभी किए और इस प्रकार अपने ब्रह्म क्षत्रियत्व का उसने परिचय दिया। शिव के परम भक्त उस नृपति ने पड़ोसी राजाओं के हृदय में आतंक जमा लिया। उसने अपने अभिलेख उत्तरी प्राकृत में लिखवाए। उसके बाद ही वह प्रसिद्ध विष्णुगोप नाम का नरेश मेरी गद्दी पर बैठा जिसका नाम अशोक द्वारा स्थापित स्तम्भ पर समुद्रगुप्त की प्रशस्ति में खुदा। समुद्रगुप्त मागध गुप्तों का साम्राज्य निर्माता था। आर्यावर्त के पड़ोसी राज्यों का उन्मूलन कर आटविक राज्यों को संजस्त कर वह पूर्वी समुद्र के तट से पहाड़ और नदियाँ लाँघता मेरे नगर में आ पहुँचा। जीत पर जीत उसके कदम घूमती गई और मेरे स्वामी विष्णुगोप को भी कुछ करते न बना। दक्षिणापथ के सभी राजा धीरे-धीरे उसके रथ चक्र द्वारा कुचल गए थे। विष्णुगोप भी उन्हीं की भाँति अपनी स्वतंत्रता और साथ ही मेरी भी खो बैठा।

समुद्रगुप्त ने अपनी दिग्विजय के अवसर पर ऐसी जातियों तक की आजादा छीन ली जो जिन्होंने शत्रु को सिर न झुकाया था। मैंने स्वयं अपने प्राचीनों के पीछे पहले कभी शत्रु को दहाड़ते न सुना था। परन्तु चन्द्रगुप्त ने मेरे उस गोरख में दाग लगा दिया। अपनी प्रशस्ति में उसने दर्प के साथ लिखवाया कि धर्मविजय नृपति की भाँति उसने दक्षिणापथ के राजाओं की 'भी' तो छीन ली पर 'मेदिनी' उनकी उसने लौटा दी। यह धर्म-विजय की नई परिभाषा थी, ईमानदारी की विद्वम्भना। मेदिनी जिसकी वैदेशिक नीति उसकी जनता या राजा के अधिकांश में न हो बरन् उसका संचालन विदेशी सम्राट करता हो, कैसे स्वतन्त्र कहा जा सकती है!

परन्तु दूर की सत्ता चाहे वह कितनी भी शक्तिमती क्यों न हो उन प्राचीन सदियों में विशेष सकल न हो पाती थी। दूरी और यातायात

के साधन की कमी के कारण दूर से अधिपति का अपने मंडलों के ऊपर दृष्टि रखना सम्भव न हो पाता था। समुद्रगुप्त की ही पकड़ दक्षिणापथ के राज्यों पर कमजोर पड़ गई और मैने भट अपनी स्वतन्त्रता फिर स्वायत्त कर ली।

कालान्तर में वीर कुर्च ने अगली सदियों में मेरे लिए प्रायः वही प्रताप अर्जित किया जो कभी शिवस्कन्ध बर्मा ने किया था। और मैं फिर एक बार दक्षिण के आकाश में बाल रावे को भौंति उठ चली। परन्तु मेरे साम्राज्य और गौरव का आरम्भ वस्तुतः छठी सदी ईस्वी में हुआ। उसके मध्य के बाद जब सिंहविष्णु ने आस-पास के राज्यों को अपनी शक्ति से हिला दिया उसने पाण्ड्यों, पल्लवों और अन्य राज-शक्तियों को अपनी चोट से क्षत-विक्षत कर दिया। वह परम भागवत था, विष्णु का अनन्य भक्त और उसने अनेक मन्दिरों से मेरा मंडन किया। मेरे पल्लव स्वामी साहित्य के अग्रतिम प्रेमी थे और सिंहविष्णु ने भी उस क्षेत्र में अपना भाग अमिट मात्रा में पाया था। उत्तर भारत के तत्कालीन साहित्यिक जगत में उस महाकवि भारवि का उदय हुआ था जो विछली सदियों में अपने काव्य के 'गौरव अर्थ' के लिए प्रसिद्ध हुआ। किरातार्जुनीय के असाधारण काव्यकार भारवि को सिंहविष्णु ने अपने आतिथ्य के लिए आमन्त्रित किया। भारवि आया और उसने अपनी भारती से मेरा वातावरण सुलभित किया।

सातवीं सदी के आरम्भ में सिंहविष्णु के पुत्र महेन्द्रवर्मन् के हाथ में मेरा, राजदण्ड आया। महेन्द्रवर्मन् प्रथम कुछ कम बराखी न था। आरम्भ से ही उसे वातापों के प्रबल चालुकों में जो भयानक कशमकश हुई उसका आरम्भ महेन्द्रवर्मन् के शासन काल से ही हुआ था। उत्तरा-पथ के राजा निरन्तर अपनी राजनीति में बराबर 'प्रसर' से सिद्धान्ततः प्रेरित रहते थे। कन्नौज के ऊर्ध्वस्वित हर्षवर्धन का काल था वह। और

वह प्रभाकर वर्धन का तनय 'तत्कलोत्तरापथ' का स्वामी था। उत्तरापथ के आजाद राजकुलों की आजादी छीन दक्षिण के चालुक्यों से बढ़ टकरा गया था। परन्तु पुलकेशिन् द्वितीय भी कमजोर हाथों तलवार नहीं पकड़ता था और उसने हर्ष को परास्त कर अयहंल के अपने अभिलेख में लिखवाया

मुधि पतित गजेन्द्रानी कवीभत्स भूती

भय विगलितहर्षो येन चाकारि हर्षः ।

यही पुलकेशिन् द्वितीय उत्तरापथ के हर्ष को पराजित कर अपनी प्रतर लिप्ता से प्रेरित दक्षिणापथ के महेंद्रवर्मन् के साथ तलवार नापने चला। पुलकेशिन् बढ़ता हुआ मेरी प्राचीरों तक सरसा आ पहुँचा और जैसा वह गर्व के साथ अपनी प्रशस्ति में लिखवाता है—“पल्लव नृपति को अपनी ही सेनाओं द्वारा उठाई धूल से आवृत कोंची की प्राचीरों के पीछे शरण लेनी पड़ी।” मैं अभिलेख के इस वक्तव्य की सत्यता का प्रतिवाद नहीं करना चाहती। परन्तु यह भी असत्य नहीं कि महीनो घेरा डाले रहने और मेरे द्वारों पर निरन्तर चोटें करते रहने पर भी पुलकेशिन् उनकी अगला न तोड़ सका और अपनी क्लान्त दूर कर नई कुमुक की मदद पाये। सेना जय प्राचीरों से बाहर निकली तब चालुक्य राज की सेना भी वातापी की ओर भागती अपनी ही उठाई धूल से आवृत हो गई।

महेंद्रवर्मन् पहले जैन महावलम्बी था। यद्यपि मैं नहीं समझ सकी कि जैन धर्म में दीक्षित होकर भी निमग्न्य महावीर द्वारा प्रसारित अहिंसा का ऋत लेकर भी राजा किस प्रकार अपने को उस धर्म का नृती समझते थे। उनके दुर्मद रणों का रक्त रंजन किस प्रकार उनकी दीक्षा को सार्थक करता था यह आज तक मेरी समझ में न आया। भीरु साम्राज्य का वह अप्रतिम निर्माता वह चन्द्रगुप्त भी करने को जैन कहता था और उसने हिन्दूकुरा से भावणबेलगोल तक की भूमि तलवार से नाप दी थी।

महेंद्रवर्मन् भी जैन था। यद्यपि वह भी अन्य जैन नृपतियों की भाँति

रक्ताचरण को अपनी धार्मिक शीक्षा के प्रति असंगत न मानता था। मुझे संतोष है कि शीघ्र उसने वैष्णव का रहस्य जान लिया और खुल्लम-खुल्ला वह शैव धर्म में दीक्षित होकर उस राजधर्म का प्रतिपालन करने लगा जिसमें राज्यानुशासन धर्म का एक अनुलब्धनीय अभ्यास है। शैव धर्म में उसे सन्त अण्णर ने दीक्षित किया था। मेरी नगरी में यह धर्म अनजाना न था, परन्तु उसका विशेष विस्तार इस दीक्षा के बाद ही हुआ।

यह पल्लव नृपति न केवल शासक और योद्धा था बल्कि वह निर्माता भी था और शिव के अनेक मन्दिर जहाँ उसने अपने राज्य में बनवाए थे, आज भी अपनी प्राचीन शक्ति से खड़े हैं। दक्षिण भारत में पर्वतों में काटकर मन्दिर बनवाने की परम्परा का आरम्भ महेन्द्रवर्मन् ने ही किया और हठी के कलस्वरूप उसने अपना 'चैत्यकारि' विरुद्ध धारण किया। वह ललित कलाओं का भी असाधारण पोषक था। चित्रण, नर्तन और गायन की कलाएँ मेरी नगरी में उसकी संरक्षा में खूब फली फूलीं। संगीत का तो वह स्वयं आचार्य था और उद्कोष्ट की रियासत में कूडमियनलै की चट्टान पर जो संगीत संबंधी शास्त्र खुदा है वह उसी के आदेश से खुदा। वह स्वयं सकल नाटककार था और उसने ही प्रख्यात मन्त्रविलास-प्रहसन की रचना की जिसमें विविध सम्प्रदाय के परित्राजकों का प्रहसन है।

महेन्द्रवर्मन् के बाद उसका यशस्वी पुत्र नरसिंहवर्मन् प्रथम मेरा स्वामी हुआ। पल्लवों के राजकुल में उसका सा प्रतापी नृपति दूसरा न हुआ। चालुक्यों के साथ संघर्ष चल रहा था और पुलकेशिन अब भी निष्क्रिय न था परन्तु नरसिंह ने उससे अन्ततः निपट लेने का विचार हृदय कर लिया। चालुक्यराज यद्यपि संतार प्रसिद्ध था। ईरान के सम्राट् खुसरू द्वितीय के साथ तक उसने दूत-विनिमय किए थे और अजन्दा की चित्र-शाला में उस दौत्य का अंकन भी हो चुका था। परन्तु नरसिंह ने उसे इतना नगण्य समझा कि उसके विरुद्ध वह स्वयं मैदान लेने तक को तैयार

न हुआ। उसने केवल एक विशाल सेना अपने पराक्रमी सेनापति परन्जोति की अध्यक्षता में चालुक्यों की राजधानी वातापी भेजा। परन्जोति का आक्रमण पुलकेशिन के लिए सर्वथा अचूक सिद्ध हुआ यद्यपि उसने उसके सामने पीठ न दिखाई। हर्ष का पिनेता पुलकेशिन अपनी राजधानी की रक्षा करता हुआ जूझ मरा। तेरह वर्षों तक चालुक्यों की दक्षिणी भूमि और उनकी राजधानी पर मेरा अधिकार रहा। मेरे नृपति नरसिंहवर्मन् ने उस विजय के स्मारक स्वरूप 'वातापिकोण्ड' नया विरुद्ध धारण किया।

नरसिंहवर्मन् भी अपने पिता की ही भाँति शैव था और उसने भी महाबलिपुरम में अनेक मन्दिर बनवाए। महाबलिपुरम उसी का बसाया हुआ था और वहीं से उसने सिंहल के विरुद्ध दो दो बार अपनी नौ सेना के साथ आक्रमण किया। उसके दरबार में मानवर्मा नामक सिंहल के राजकुमार ने आश्रय लिया था। उसी की सहायता के लिए नरसिंह ने सिंहल पर आक्रमण किया। पहला आक्रमण तो निष्फल गया परन्तु दूसरे ने मानवर्मा को वहाँ का सिंहासन जीत दिया और पल्लवों का प्रसार उस द्वीप पर छा गया। वह आक्रमण राम के आक्रमण के भाँति बहुत काल तक सिंहलवासियों को न भूला। मेरा गौरव आसमान चूमने लगा था।

नरसिंहवर्मन् ने दक्षिणापथ के प्रायः सभी राजाओं की जीता था और उसकी शक्ति सर्वत्र सम्मान्य हो गई थी तभी उसका पुत्र महेन्द्रवर्मन् द्वितीय पल्लव सिंहासन पर बैठा। परन्तु उसकी किलासिता अल्पमय में ही उसे ला गई। मेरा उससे पिट्ट छूटा और मैं उस परमेश्वरवर्मन् प्रयन की ओर विशेष आशा से देखने लगी जो अब मेरा तरुण स्वामी हुआ। परन्तु मेरी आशा शीघ्र ही भग्न हो गई। मेरे उत्तरी प्रान्त मेरे हाथ से निकल गए। कारण यह था कि वातापी राजकुल ने तेरह वर्ष

बाद फिर प्रतिष्ठा पाई थी। पुलकेशिन द्वितीय का पुत्र विक्रमादित्य प्रथम असाधारण योद्धा और कर्मठ व्यक्ति था। उसने बेंगी के चालुक्य राज से मदर ली और दोनों ने मिलकर बातापी तथा उसके दक्षिणी प्रान्त मुक्त से छीन लिए। बेंगी वास्तव में कभी मेरा ही प्रान्त था जिसे पुलकेशिन द्वितीय ने महेंद्रवर्मन् प्रयन से छोनकर अपने शत्रुज को दे दिया था जिसने पूर्वी चालुक्यों की शाखा वहाँ जमाई थी। विक्रमादित्य अपने छोटे प्रान्तों को लौटा कर ही न रुका बरन् उसने नई शक्ति अर्जित कर मेरे नगर पर भी धावे आरम्भ किए। एक बार तो उसने मुझे प्रायः जीत ही लिया था कि सहसा परमेश्वरवर्मन् की युद्धनीति ने वाँसा पलट दिया और आक्रमक को अपने पदों पर वापस लौटने को लेकर सपर भागना पड़ा। उसके राज्य सांखन, छत्र, चँबर आदि सब योद्धे छूट गए। परन्तु विक्रमादित्य ने अपने दक्षिणी प्रान्तों पर अपनी एकदम मजबूत बनाए रखी।

महेंद्रवर्मन् द्वितीय का पुत्र नरसिंहवर्मन् द्वितीय हुआ। उसके शासन काल में भी चालुक्यों के साथ हमारा संघर्ष चलता रहा। विजय कभी मेरे हाथ, कभी बातापी के हाथ आती रही और युद्ध समाप्त न हो सका। इतना अवश्य था कि चालुक्यों की चोटों से मेरी शक्ति दिन दिन क्षीण होती जा रही थी। नरसिंहवर्मन् द्वितीय गिरती हुई स्थिति को विशेष न सँभाल सका। फिर भी विक्रमादित्य द्वितीय के आक्रमणों के सामने उसने कभी तिरन भुकाया और अनेक बार तो चालुक्य नृपति को अपनी मुँह की खानी पड़ी।

नरसिंहवर्मन् द्वितीय का शासन काल अपनी साहित्यिक रचनाओं के लिए भी कुछ कम प्रसिद्ध नहीं। संस्कृत के अलंकार शास्त्र का प्रकाशक पंडित और सूत्रकार दण्डी नरसिंह वर्मन् की ही संरक्षा में फला-फूला। अपने विख्यात अलंकार ग्रन्थ और 'दशकुमारचरित' की उसने मेरे ही नगर में रचना की।

नरसिंहवर्मन् द्वितीय स्वयं कुछ विशेष कर्मठ न था। परन्तु उनके पुत्र परमेश्वरवर्मन् द्वितीय ने तो पत्तन की पराकाष्ठा ही कर दी। अब तक जो मैंने केवल समृद्धि और शक्ति जानी थी, अपने मरण की सौंस गिनने लगी। परमेश्वर का अत्यायु जीवन समाप्त होते ही मेरे नगर में रक्त की दोली खेली जाने लगी। राजकुल के विविध व्यक्ति मेरी सत्ता को स्वायत्त करने का प्रयत्न करने लगे और दिन-रात उनमें राजनीतिक कतर ब्योंत होने लगे। महीनों के लहलुहान के बाद नन्दिवर्मन् राजा हुआ। वह राजा हुआ क्या वह राजा चुना गया और मुझे इसे कहते सन्तोष होता है कि मेरी जनता ने राय की राजकुलीय स्वाभाविक परंपरा को ठोस औचित्य को अपना साधन बनाया और उस समर्थ व्यक्ति को मेरा स्वामी चुना जो अपनी कर्मठता और योग्यता का पिछले गृहयुद्धों में प्रमाण दे चुका था। नन्दि-वर्मन् सिद्धविष्णु के अनुज के वंशधर हिरण्यवर्मन् का पुत्र था और उसने विषम शक्तियों को पपभूत कर मेरी नगरी में फिर से शक्ति की प्रतिष्ठा की। चालुक्यों की चोटें मुझ पर निरन्तर पड़ रही थी और इस महीनों की उथल-पुथल के कारण तां मौका पा वे दुगुनी हो गई थीं। परन्तु नन्दिवर्मन् ने उनका सकल प्रतिकार किया। अनेक राजाओं को चालुक्यों के अतिरिक्त उसने परास्त भी किया और दक्षिणपथ पर फिर एक बार मेरा प्रभुत्व छा गया। प्रताप का जीवन कितानेवाली मैं अपने गृहयुद्धों से ही परेशान होकर जीवन से ऊब चली थी क्योंकि बाहर वालों की दी हुई प्रतिष्ठा स्वतंत्रता के बदले मुझे कभी संपत्त न हुई।

इतना मैं कहूँगी कि नरसिंहवर्मन् का शौर्य भी मेरे उस राजनीतिक स्खलन को सर्वथा रोक न सका जो शीघ्र ही मेरे भाग्य की रेखाएँ लिलने लगा था। उसने केवल उस स्खलन को अपने कंधे द्वारा टेक दे दी। फिर भी बुझती आग की उस चिनगारी ने मेरे मुख की आभा कुछ काल के लिए निःसन्देह प्रकाशित कर दी।

उत्तर में इसी काल एक कान्ति हुई और वातांगी का चालुक्य राज-वंश भी काल की विकट गति से बंचित न रह सका। वह भी उसके प्रहार से अपनी अन्तिम पड़ियों गिनने लगा या और शीघ्र राष्ट्रकुलों ने उनके हाथ से शक्ति छीन ली। नवीं सदी में राष्ट्रकुलों के उस राजकुल में अपनी राजधानी मान्यखेड में विशेष ख्याति पाई। उत्तर की राजनीति में तो उन्होंने कीर्ति अर्जित की ही, उनके राजाओं ने उज्जयिनी, कन्नौज और प्रयाग तक तो धावे मारे ही, दक्षिण की ओर भी उन्होंने अपनी दृष्टि केरी। दन्तिदुर्ग जिसने एलोरा के प्रसिद्ध कैलाश मन्दिर का निर्माण प्रारंभ किया था, गेरी और फिर और मेरे राजा को परास्त कर दिया। उससे अपनी आजादी, धन के मोल ले जैसे ही मैं सँभली वैसे ही उस संवर्ष के प्रति मुझे आकृष्ट होना पड़ा जो अब चालुक्यों के स्थानापन्न राष्ट्रकुलों ने प्रारंभ किया था। दन्तिदुर्ग ने विजयी होकर भी पल्लव राज को अपनी कन्या ब्याह दी जो जिससे दन्तिग या दन्तिवर्मन् हुआ। परन्तु यह वैवाहिक संबंध क्षण भर के लिए भी उस प्रसर लिप्ता का प्रतिबन्ध न हो सका जिसका भुव और गोविन्द तृतीय ने फिर से प्रारंभ किया। गोविन्द ने तो कुछ समय के लिए मुझ पर पूरा अधिकार ही कर लिया यद्यपि शीघ्र उसके चंगुल से निकल आजाद हो गई। कृष्ण तृतीय ने भी मुझ पर कुछ कम छापे न मारे परन्तु फिर मैं अपनी काया पसीटती ही गई।

इसे मैं काया पसीटना ही कहूँगी क्योंकि मेरा जीवन अब गौरवमय न रह गया था। अब अपने दृष्ट देवता से यही मनाती कि मुझ पर विदेशी खोंडें न हों और हों तो कम हों। परन्तु मुझमें अब इतनी शक्ति न रह गई थी कि मैं अपने लोए हुए प्रान्तों को लौटा लूँ। फिर अपराजित बर्मन् के शासन काल में तो मेरी स्वतंत्र स्थिति की इतिश्री ही हो गई। चालुक्य नृपति उसी प्रकार दक्षिण की ओर से मुझ पर आक्रमण कर

रहे थे जिस प्रकार राष्ट्रकूट उत्तर की ओर से। और आदित्य प्रथम ने तो पल्लव कुल का सर्वथा नाश करके मुक्तकों सदा के लिए अपने अधिकार में कर लिया। मुझे अब भी याद है कि अकर्मण्य पौरुषहीन पल्लव वंशधर किस प्रकार तब निरस्त और विपन्न हो गए थे।

मैं पल्लवों की समृद्धि से फूली-फली थी। उनकी अर्जित शक्ति का केन्द्र होकर मैं जगत में गौरवाग्निवत हुई थी और निश्चय अपने संरक्षकों का पराभव और सर्वनाश मुझे अप्रिय-लगा। परन्तु राजधानी आलिर कब किसकी हुई है! सदा वह राजनीति में पलटते हाथों में आती जाती रही है। सर्वदा दुर्बल की ओर पीठ कर उसने विजेता स्वामी की ओर दल किया है। वसुन्धरा वीर भोग्या होती है। जिस धीर ने उसे औरों से छीन लेने और अपने अधिकार में रखने की सामर्थ्य होती है उसी की वह सदा से होती आई है। मुझे अपने विपन्न प्रभुओं के शोक से उठ कर चोलों के अंक में जाते न देरी लगी, न दुःख हुआ। और चोलों ने मुझे कुछ कम गौरव न दिया। उन्होंने भी अपना तोण्डकोण्ड का विशद धारण कर मुझे उस प्रदेश की राजधानी बनाई। अनेक बार उन्होंने अपनी विजयों से मुझे समृद्ध किया, अनेक बार अपनी पराजयों से भागकर मेरी प्राचीनों में शरण ली। मेरा जीवन वस्तुतः, यद्यपि मैं ऐसा पहले कह चुकी हूँ, समाप्त न हुआ था। उसकी केवल राजनीति प्रदल गई थी। पहले मैं पल्लवों से राजन्वती हुई। अब चोलों का उत्कर्ष दिन-दिन होता गया।

चोलों के उत्कर्ष के साथ अब मेरे भाग्य बँध गए थे। राजाधिराज और राजेन्द्र चोल ने तो अद्भुत शक्ति अर्जित की, दक्षिण में अनजाने साम्राज्य का विस्तार किया। एक ने सागर के द्वीपों को अपनी नौ सेना के आक्रमण द्वारा जीत लिया, दूसरे ने उत्तर में बंगाल तक मालवा और महाकोशल, महोदय और तिरभुक्ति रौद्र बंगाल तक अपनी

तलवार की छाया डाली। जिस मात्रा में चोलों का प्रकर्ष हुआ उसी मात्रा में मैं कीर्ति और शक्ति अर्जित करती गई। पल्लवों ने मुझे राजनीति में दीक्षित किया था, उस दिशा में उन्होंने मुझे प्रतिष्ठा में प्रगति दी थी। चोलों ने मुझे पराकाष्ठा दी। मैं अब अपने चोल स्वामियों की उन्मुखी आशाकारिणी थी, उनकी गर्विणी राजधानी।

ऐसा नहीं कि चोलों का पराभव न हुआ हो, ऐसा नहीं कि उन्होंने दक्षिण की राजनीति में मूर्धाविद्धि हो जाने पर अवनति का मार्ग न देखा हो। असल तो यह है कि मूर्धाविद्धि हो जाने पर अवतरण का मार्ग ही बस रोप रह जाता है और चोल भी कुछ सदियों बाद दुर्बल हो चले। वातापी के चालुक्य तो निश्चय मिट चुके थे परन्तु कल्हाणी और वेंगी के अब भी शक्तिमान थे। वेंगी के चालुक्यों ने चोलों से अनेक बार प्रायः यही दशा कर दी जो वातापी के चालुक्यों ने कल्हणी लवों की की थी। अनेक बार उन्होंने मुझ पर अधिकार कर लिया था और अनेक बार मेरे राजाओं को उन्हें कन्या देकर उनका प्रसाद अर्जित करना पड़ा था। एक आध बार तो उन्होंने इसे अपना सूवा भी बना लिया और कालान्तर में तो वेंगी का ही एक राजकुमार जो मेरे एक राजकुल का नवाजा था मेरा स्वामी हुआ।

पाण्ड्यों ने मेरे ऊपर कुछ कम प्रहार न किए। विशेषकर जटावर्धन सुन्दरपाण्ड्य की चोट की याद तो मुझे आज भी विचलित कर देती है। पाण्ड्यों और चोलों में भी दीर्घकालिक संघर्ष चला था और अनेक बार मेरे स्वामियों ने मदुरा पर अधिकार कर लिया था। जिस प्रकार कभी मुझमें और वातापी में संघर्ष चला था उसी प्रकार हर्ष की सदियों में मदुरा के साथ मेरा संघर्ष चला। अन्त में मदुरा जीती और मैं हारी। यद्यपि स्वयं मदुरा का वैभव भी चिरकालिक न हो सका। तेरहवीं सदी में सुन्दरपाण्ड्य ने मुझे हट लिया था। कुछ काल

बाद अलाउद्दीन खिलजी के उस हिन्दू-गुलाम सेनापति मलिक काफूर ने लूट लिया जिसने नए मुसलमान के नए जोश से इस्लाम का प्रसार और उसकी विजय शुरू की थी। कोयशलों की चोट मुझे अब भी याद थी परन्तु मलिक काफूर ने जो मुझे मारा तो मैं सर्वथा डूट ही गई। मेरे मन्दिरों को जिन्हें यह तोड़ सका उसने तोड़ा और उनके स्थान पर उसने मस्जिदें खड़ी की और मेरी हिन्दू सत्ता कुछ काल के लिए मिट गई।

यह मेरा क्रमबद्ध इतिहास है। इसके बाद का मेरा इतिहास बड़े उलट-फेर का है। इस काल बाद मेरी राजनीति कभी हद और स्थिर न हो सकी। छोटे राजकुलों की चपेट और बड़े विजेताओं की चोटों मुझे बार-बार सहनी पड़ी। मुसलमानों का विशेष प्रभाव यद्यपि मुझ पर न पड़ा परन्तु उनकी ताकत और हमलों का मजा मुझे कितनी ही बार चखना पड़ा। पिछले काल में मैं अभोगति की पराकाष्ठा को पहुँच गई जब कभी मराठों, कभी मुसलमानों, कभी किरंगियों ने मुझे अपनी शक्ति का साधक बनाया। मुझे लूटा, और लूट कर कीर्ति अर्जित की। विजित होने से मुझे कभी धृष्टा न हुई थी, बार-बार मैं विजित भी हुई थी, परन्तु मैं चाहती थी विजेता की शक्तिक दिग्गता जो मुझे न मिली।

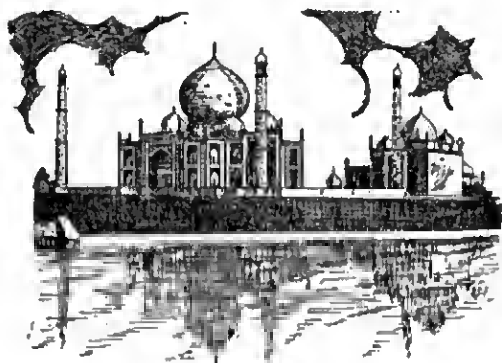
उचित तो यह था कि मैं अपने इतिहास की कहानी यहाँ बन्द कर देती पर ऐसा करने से-मैं उस धार्मिक वैषम्य और सांस्कृतिक रहस्य का उद्घाटन न कर पाऊँगी जो मेरी भूमि पर पिछले काल घटे। राजनीतिक सत्ता मुझसे छिन गई थी परन्तु उसके पहले बहुत पहले राजनीतिक प्रतिष्ठा के साथ ही मैंने धार्मिक प्रतिष्ठा भी पाई थी। जैसे राजनीति अर्थ की घेरी है वैसे ही धर्म राजनीति का अनुचर है और धर्म ने अनेक बार मेरे अनुकूल आचरण किया था। वैष्णव और

शैव सम्प्रदाय, जैन और बौद्ध धर्म की ओर जैसे-जैसे मेरे राजाओं की प्रवृत्ति हुई वैसे ही वैसे बने बिगड़े। मेरी नगरी में विशेष प्रतिष्ठा शैव और वैष्णव सम्प्रदायों की हुई। सन्त अप्पर ने जिस शैव धर्म का प्रचार मेरे यहाँ आरम्भ किया था उसकी पराकाष्ठा दो सदियों बाद शंकर ने की। शंकर ने तो यहाँ अपने एक प्रमुख मठ की भी स्थापना की और उसके मठाधीश रिच्छले शंकराचार्य 'जगद्गुरु' कहलाए। उसी प्रकार रामानुज के वैष्णव सम्प्रदाय का प्रभाव भी मेरी नगरी में काफी बढ़ा और उसका मठ भी यहाँ कायम हुआ। उसके मठाधीश शैव मठाधीशों के प्रबल दार्शनिक शत्रु हुए और उन्होंने 'प्रतिवाद भयंकराचार्य' का विरुद्ध धारण किया। दोनों के परस्पर संघर्ष होते रहे जिसमें निश्चय केवल दार्शनिक प्रतिवादिता ही न थी वरन् पृथित ईर्ष्यालु प्रयोग भी थे। राजनीतियों के विकट संघर्ष मैंने देखे थे, उपल, पुवल मैंने भुगती थी पर कभी किसी ने मुझे बाँटने की न सोची। परन्तु इन मठाधीशों ने मुझे सर्वथा बाँट लिया। मैं 'विष्णु-कांची' और 'शिव-कांची' में विभक्त हो गई।

आज मैं साम्प्रदायिक वैश्य की पीठ हूँ। जहाँ एक ओर मेरे शैवों और वैष्णवों में संघर्ष है वहाँ दूसरी ओर उनमें और मानवता की उस जनसंख्या में है जिसे अछूत कहते हैं। अछूत को मेरे मन्दिर में घुसने का अभी हाल तक अधिकार नहीं ही था। उनसे सर्वार्थ हिन्दू अपनी छाया भी बचाते थे और अछूतों को अनेक बार उनके आकांक्ष से मरण भी स्वीकार करना पड़ा। मेरी नगरी में दिङ्नाग के से मेधावी दार्शनिकों ने चिन्तन किया था, मयूर शर्मन् के से कर्मठ, राजकुल स्थापक ब्राह्मण ने वेदाध्ययन किया था, भारवि और दण्डी से काव्य धर्मज्ञों ने साहित्य सेवन किया था, धर्मराल से विजयवर्धन भिक्षु ने आश्रय पाया था। परन्तु फिर भी मेरी नगरी में निरन्तर राग-द्वेष का विचार

चलता रहा। मैं छुआछूत का वह गढ़ बनी जिसकी छाया तक उत्तर की काशी न छू सकती थी। अब मेरी राजनीति बदल गई है, धार्मिक विचारों के वैश्व भी बदल चले हैं और मैं अब आशा से उन नई जनसत्ताक प्रवृत्तियों की ओर दृष्टि गड़ाए एकटक देख रही हूँ, जो अभी नहीं हैं परन्तु जिनके आगमन की धमक अब सुन पड़ने लगी है और जिनका प्रवेश मेरी नगरी में अब देर का न रहा।





आगरा .

मैं आगरा हूँ, हिन्दुस्तान के नगरों में काफ़ी नया । कृष्ण और महाभारत के नायकों के साथ मेरा सम्बन्ध जोड़ा गया है पर कौन समझदार उस पर यकीन करेगा । इसलिए मैं उस सम्बन्ध को अपनी कहानी में न लाऊँगा, और न अमरतेन तथा अमरभेणियों का ही कोई जिक्र करूँगा जिनसे मेरा ताल्लुक इधर-हाल किया जाने लगा है ।

पर यह कहना भी कि मुझे सोलहवीं सदी में अकबर या सिकन्दर शाह लोदी ने बताया कुछ कम गलत नहीं । अपने इस वक्तव्य से मैं उनके बसाने की बात से इन्कार नहीं करता और आखिर नगर और पुराने नगर कितनी ही बार उजड़े धरे हैं, मैं भी एक आध बार उजड़

बस चुका हूँ और मुझे सिकन्दरशाह और अकबर ने भी निःसन्देह बताया है पर मैं दोनों से पहले का हूँ, कासी पहले का ।

अगर ऐसा न होता तो भला पुराने जमाने के तबारीख-नवीस मोहम्मद गोरी द्वारा मेरे लूटे जाने का जिक्र कैसे करते ? हाँ, तो मैं कानो पुराना हूँ, हिन्दुओं के ही जमाने का, यद्यपि हिन्दुओं के और जो अनेक नगर हैं उनकी प्राचीनता का मैं मुकाबला नहीं कर सकता । मेरी पुरानी आबादी के कुछ बिन्दु आज भी जमुना पार नदी के बायें तट पर देखे जा सकते हैं ।

मोहम्मद गोरी ने पानीपत का मैदान जीत पहले अजमेर लिया फिर दिल्ली और फिर मेरी बारी आई । मैं भी लुट गया और मुझ पर भी शहाबुद्दीन का अधिकार हो गया । उसके बाद कुतुबुद्दीन एक दिल्ली के सल्त पर बैठा, तब मैं गुलाम वंश के अधिकार में आया । वास्तव में दिल्ली के अधिक निकट होने से मेरा इतिहास अधिकतर उसके भाग्य से बँधा रहा है और दिल्ली जिस जिस के कब्जे में गई है उस उस के अधिकार में मैं भी जाता रहा हूँ ।

मेरा स्वतंत्र गौरव वास्तव में सिकन्दर लोदी ने ही बढ़ाया । उसके पहले यद्यपि मैं कब का खड़ा हो चुका था और शहर भी कुछ कम छोटा न था मगर मेरी महत्ता कुछ विशेष न थी । बारहवीं सदी के अन्त में मैं अपने लुटने की बात कह चुका हूँ । तेरहवीं सदी में कुछ काल मुझ पर एक राजपूत घराने का अधिकार रहा । यद्यपि मैं स्वतंत्र न था और मुझे अपनी आय का एक भाग दिल्ली को देना पड़ता था ।

उसी सदी के अन्त में हिन्दुस्तान पर तैमूरी हमले की भिजली गिरी । तुगलकों का सितारा कब का डूब चुका था और उसके कठपुतली से बादशाह दिल्ली और कन्नौज में अपने दर्बार लिए बैठे थे । दिल्ली शहर की आधी दर्जन बस्तियों के भीतर ही करीब दस मील के अन्दर दो

तुगलक बादशाह गद्दी पर थे। उन्हीं के जमाने में वह विजली दिल्ली पर पड़ी और उसने उसे तबाह कर दिया। चार दिनों दिल्ली लुटती रही पर मेरी जान बच गई और तैमूर उत्तर ही उत्तर मेरठ और हस्दार को बरबाद करने चला गया।

सम्यदों का साया कुछ ताकत का साया न था। नबी के नाम पर उन्होंने अपना हतया बढ़ा रखा था। पैगम्बर के बंशज होने का वे दावा करते थे और इसी बुनियाद पर उन्होंने अपना कुछ प्रभाव भी बना रखा था। खिज़्र खाँ ने उस बादशाहत की बदनसीबी में दिल्ली के तख्त पर अधिकार कर लिया पर वह खुर्द सल्तनत को संभाल न सका और सल्तनत भी क्या थी दिल्ली के आसपास के इलाके बरायनाम।

सम्यदों को उखाड़कर पठानों ने दिल्ली में अपने कुल की प्रतिष्ठा की। लोदी अकगानिस्तान के पहाड़ी पठान थे और हिन्दुस्तान में कुछ दिनों से जम गए थे। दिल्ली में तो उनका दबदबा था ही बंगाल और बिहार में थे कुछ कम ताकतवर न थे। आखिरी तुगलक बादशाह से पहले राजदरब जिस व्यक्ति ने छीना था, वह ज़ोदी ही था, दीलत ज़ाँ लोदी। पर तब शहर में बड़ी उथलपुथल थी और दीलत का स्वप्न भंग हो गया। सम्यदों ने कुछ काल के लिए बादशाहत अपने हाथ में कर ली। अग्र मौका पाकर लोदी अमीर फिर उठे और उनके सरदार बहलोल खाँ ने दिल्ली के साथ ही मुक्त पर भी कब्जा कर लिया।

बहलोल युक्त और शक्ति का बादशाह था, खूंखार और क्रूर भी। जैसे तो दिल्ली के तख्त पर बैठने वाले बादशाहों में पठानों का स्थान शासन की सफ़ली और योग्यता के सम्बन्ध में बराबर लिया गया है और यद्यपि उनमें शिष्टता और संस्कृति की कमी थी, पढ़े-लिखे भी थे कम ही होते थे पर उन्हें किसी ने कमजोर कभी न कहा और जब वे तख्त

पर बैठे तो काही जमकर बैठे । खिलजी, तुगलक, लोदी, और पीछे आने वाले सूर सभी एक से एक ताकत के परकाले थे ।

महलोल ने गद्दी पर बैठते ही पहले तो दिल्ली को आसपास के खतरो से खाली किया फिर वह पड़ोस के प्रदेशों पर मुह्रा । हालत बड़ी नाजुक थी । दिल्ली के आहरी पाटक तक पहुँचने वाली सड़कों पर दिन दहाड़े डाके पड़ते थे और खुद बादशाह का बगैर पूरी फौज के बाहर निकलना खतरे से खाली न था । महलोल की सख्ती ने न केवल दिल्ली के आसपास की सड़कों को डाकुओं से खाली कर दिया बल्कि पास के इलाके भी अब पूरे पूरे उसकी मुट्ठी में आ गए । कन्नौज, दोआब बगैरह धीरे धीरे उसने अपने अधिकार में कर लिए ।

सिकन्दर लोदी उसी महलोल का बेटा था । सिकन्दर लायक और बोर था । दिल्ली के अनेक स्वतंत्र खेमे उसने अपने कब्जे में किए और उसी के जमाने में पहले पहल मुझे सल्तनत की राजधानी होने का गौरव मिला । मेरे शहर में दिल्ली के खिलाफ बगावत का भण्डा लड़ा हुआ । मुझमें दिल्ली की मुसालफत करने की ताब तो न थी पर महलोल के मरने पर और सिकन्दर के दूसरी ओर व्यस्त रहने पर मैंने जरूर एक बार लड़े होने की कोशिश की पर मेरा शहर हमेशा से बनियों का शहर रहता आया है और गद्द जीतने के अरमान भीतर ही भीतर अक्सर पस्त हो गए ।

सिकन्दर ने अपने मजबूत हातों से मेरा विद्रोह कुचल दिया और दिल्ली की कमजोरी और दयनीय दशा से ऊब कर उसने अब मेरे ही नगर में बसना पसन्द किया । आया तो था वह केवल विद्रोह दवाने पर मैं उसे भा गया और उसने यहीं पर अपना गद्द बना लिया । बादल-गद्द के नाम से मेरे शहर में जो खण्डहर हैं वे सिकन्दर लोदी के ही महलों के अवशेष हैं । मेरे नगर में उसने गद्द बनाया, महल खड़े किए

परन्तु आज उसकी कोई इमारत यहाँ नहीं बची और सिवा सिकन्दरा में उसका नाम ध्वनित होने के सिवा ऐसा कुछ भी मेरे शहर में आज नहीं जो उस मुसलिम जमाने में मेरे पहले बसाने वाले की याद दिलाए।

इब्राहीम लोदी उस वंश का आखिरी बादशाह था और अधिकतर मेरे ही नगर में बंद डेरा डाले रहता। लोदी अस्तर रहे तो हमारे नगर में नगर के दफनाए दिल्ली में ही गए और इब्राहीम ने तो अपनी आखिरी लड़ाई भी दिल्ली में ही लड़ी बाबर के खिलाफ जितने पानीपत के मैदान पर इब्राहीम को मरा उसके पंद्रह हजार सेना के मुत्ता दिया। उसके पहले भी मेरी कुछ मदद बढ़ चुकी थी क्योंकि एक जमाने तक मैं मेवाड़ के राणा सांगा और इब्राहीम लोदी की सीमा बना रहा था। इब्राहीम को मेरे ही मैदानों में राणा ने दो दो बार हराया था और अगर वह जिम्मेदारी लेने से न घबड़ाता तो यह निश्चय था कि मैं दिल्ली के साथ उसके अधिकार में चला जाता। और यह कुछ कम महत्व की बात नहीं कि उसी राणा और दोलत खाँ लोदी के आमन्त्रण से बाबर हिन्दुस्तान आया और उसने पानीपत के मैदान में इब्राहीम को और मेरे पास ही सीकरी के मैदान में राणा को परास्त कर मुगल साम्राज्य की नींव डाली।

सीकरी की लड़ाई जो मेरे शहर के बाहरी मैदान में ही हुई थी मुझे आज भी याद है। दुनिया की सबसे आश्चर्यजनक और भयानक लड़ाईयों में से सीकरी की लड़ाई थी। सीकरी का मैदान राणा और उसके राजपूतों के हाथ से निकल गया परन्तु निःसन्देह वहाँ उन्होंने लाख और शौर्य के खम्भे खड़े कर दिए। मुगल साम्राज्य की नींव फिर पड़ गई और उसे ढाला-बाबर ने। पर वह नींव दिल्ली में न पड़ी मेरे नगर में पड़ी। मुझे इस बात का फल है कि लगातार दो सदियों तक जित सैमूरिया खान्दान ने हिन्दुस्तान पर जमकर हुकूमत की

और जिसके बादशाहों का शुमार दुनिया के महान बादशाहों में होता है, उसकी नींव पहले मेरे ही नगर में पड़ी।

बाबर को दिल्ली तनिक न भाई। हिन्दुस्तान का कोई शहर उसे अच्छा न लगा। और सब पूछिए तो मैं भी कुछ खास उसे पसन्द न आया अगर किसी शहर को उसने अपने रहने लायक समझा तो केवल मुके। जमुना के रवों पानी ने उसे अपनी ओर खींचा और उसी मैदान में जिसके सामने आज ताज खड़ा है अपने महलों के बल्ले गाढ़े। वह महल अब न रहा। उसकी दुनियाद भी उलझ गई पर मेरे नगर के चारों कोनों पर जो उसने चार बाग लगाए उनमें से दो रामबाग और जोहरा-बाग आज भी किसी न किसी दशा में खड़े हैं। जोहराबाग वास्तव में उसकी किसी अमीर की बेगम ने लगवाया था। इन सब बागों में बाबर को विशेष धारा चार बाग था जिसके लगाने में उसने खुद बड़ी मेहनत की थी मगर आज उसका पता नहीं।

बाबर अपने संस्मरणों में लिखता है कि हिन्दुस्तान बड़ा उजड़ा सूखा देश है, यहाँ के लोगों में हसलाक नहीं, शिष्टता नहीं, भाई-चारा नहीं। मैदानों में खाक उड़ती है, आग घरसती है—दोनों को दूर करने का सब एक जरिया है स्नान, और उस स्नान के लिए यहाँ कोई साधन नहीं। काबुल की आबहवा उसे बार बार याद आती रही। उसके बाग और अपानगोष्ठियाँ वह कभी भूल न सका और बार बार अपने संस्मरणों में वह ललच कर उनका बयान करने लगता है। मेरे नगर को उसने काबुल के से ही चमनों से सजाना चाहा और सजा भी दिया। गुलाब की क्यारियों से मेरे शहर में उसके लगाए हुए बाग भर गए जिनमें पत्थरों और पत्थर की नालियों में बहने वाले शीतल जल का स्पर्श वायु की उष्णता शांत करने लगा।

अपने बगीचों में और बाहर उसने अनेक तालाब भी खुदवाए

जिनके किनारे ऊँचे पेड़ों की घनी छाया में अपनी लड़ाइयों की थकान वह मिटाता, दोस्तों से बातचीत करता, अपने संस्मरण लिखता और शायरी सुनाता। अब मैं उसकी दानिश में इस लायक हो गया था कि वह अपनी लड़ाइयों से फुरसत पा कुछ दिन वहाँ दम ले सकता था, रम सकता था, पर वह ब्यादा दिनों जिन्दा न रह सका। मेरे ही नगर में उसके चारभाग के उस कुँज में जहाँ अस्तर वह अपने रोमांचक संस्मरण लिख चुका था उसने अन्तिम साँस ली। काबुल के उस सुन्दर शीतल बगीचे में वह दफनाया गया जिसे उसे अपनी आखिरी और अनन्त नींद के लिए कभी से चुन रखा था।

बाबर के श्राद हुमायूँ गद्दी पर बैठा और उसने कभी दिल्ली में, कभी मेरे शहर में दर्बार किया। आखिर वह बाबर का बेटा था और बाप को काबुल के बगीचे आमरण कभी न भूल सका था बल्कि इसी मेरे शहर में उसने एक छोटा काबुल ही आयाद कर देना चाहा था। बेटे को भी काबुल पसन्द था और उसका आराम अगर कुछ उसे मिल सकता था तो वह मेरे ही नगर में जिसे शीतल और सुखद बनाने की बाबर ने इतनी कोशिश की थी।

हुमायूँ आरामानन्द बादशाह था। बाबर की जिन्दगी तो लड़ाइयों और उनकी हार जीत से भरी थी, करगना से बिहार तक उसने तलवार चलाई थी और इस लम्बे भूखण्ड पर कितनी ही बार उसके बान के लाले पड़ गए थे। खुद हुमायूँ की जिन्दगी भी कुछ बहुत आराम की न थी मगर बाप की ली सल्लियाँ उसे न भेलनी पड़ीं। हाँ, हिन्दुस्तान से जब उसे भागना पड़ा तब सिन्ध और मारवाड़ की मरभूमि में वह जरूर कुछ दिनों भटकता रहा था। फिर भी बिलास के प्रति वह कभी उदासीन न हो सका और अस्तर हुकूमत का काम तुकठान करके भी वह अरान गोष्टियों में शामिल हो लेता। बड़ी लड़ाइयों के पहले,

और पीछे, विशेषकर पीछे तो वह निश्चय शराब की चुस्कियाँ भरता, अमीम की पीनक में मदहोश हो जाता। गुजरात और मालवे के कठिन मोर्चों से जब वह लौटा तो उसने मेरे शहर में बड़ी रंगरेलियाँ कीं। पड़ाव में खूब जशन हुए, मेरी रातें धूप छाए दिन की तरह चमक उठीं और नगर का कोना कोना गाने बजाने की आवाज से गूँज उठा और वह तब जब उसका वह बेटीब खलरा शेरशाह जुनार पर कब्जा किए बिहार के आसमान पर मेघ सा छाता चला जा रहा था !

गौड़ में भी हुमायूँ ने कुछ कम पेश न किया। जुनार से वह शेरख़ाँ को भगा चुका था, गौड़ वह जीत चुका था पर वह वहाँ इस कदर जम कर बैठा जैसे दुनिया उसके कदम से लिपट पड़ी हो, जब बिहार का यह अफ़ग़ान उसका नाका नाका बन्द किए जा रहा था, कजौज तक की जमीन पर उसने कब्जा कर लिया था।

और हुमायूँ जो अब लौटा तो चौंता में नार खाकर, भागकर वह दिल्ली पहुँचा और सेना भरती करने के लिए मेरे नगर में भी आया पर कजौज में जो उसने बिना लड़े जीत दिया हाँ तो दर दर की लाक छान हिन्दुस्तान छोड़ उसे ईरान में ही पनाह लेनी पड़ी। लौटा तो वह जरूर पर मेरे यहाँ न लौटा, दिल्ली लौटा और कुछ ही दिनों बाद महल की सीढ़ियों से फिसलकर वह जो गिरा तो फिर न उठा।

इधर उसके बाहर जाने पर जिस बादशाह ने हिन्दुस्तान पर कब्जा किया वह अपनी ताकत, शान, तिराहियाना रोव और हुकूमत की काब-लियत में लामिला था। बिहारी अफ़ग़ान उस शेरशाह की याद मुझे बराबर बनी रहेगी जितने दिल्ली छोड़ मुझे अपनी राजधानी बनाया। इससे पहले का एक फिरा जो मुझे याद आता है मेरे मन को बेकाशु कर देता है। अवध की लड़ाई में एक बार शेर ख़ाँ दावर से आ मिला था। बाबर आदमी को पहिचानता था और उसने उस पठान सरदार को

सेना का संचालन करते देखा था। उसकी एक और अङ्ग का लड़ाई के मैदान में बाहर पर वह अंतर हुआ कि उसे फरगना के भूले मैदान और अपने जीतने वाले दुश्मनों के पैतरे पाद आ गए। उसने शेरखों को दावत के लिए बुलाया। दावत मेरे ही महलों में हुई। बाहर और हुमायूँ के बीच शेर बैठा और सामने दस्तरखान को घेरे मुगल उमरा बैठे। मुगल दावतों में जो सहजीव चरतते थे वह गजब की थी और उसकी तैयारियाँ भी गजब की होती थी। शेरखों सज्ज पठान था, बिदारी पठान और ससराम की निर्मम, कठोर और अकृत्रिम वातावरण में पला था। मुगलिया सहजीव उसकी जानी न थी। बेपर्दा सिपाही आलिम था पर दिल्ली के अमीरों के कायदे उसके जाने न थे। सामने जो शेरमाल रखा गया और उसके पास छुरी, काँटे, तो देहाती पठान एक बार तो कुछ सहमा परन्तु तुरत प्रकृतिस्थ हो गया। अमीरों की आँखें, बादशाह और उसके बेटे की आँखें भी उस ही पर लगी थी कि वह किस तरह दावत में आचरण करता है, किस तरह काँटे, चम्मच और छुरी चलाता है पर उनको शेरखों ने हँसने का मौका न दिया। ताजुब से उनकी आँखें फैल गईं जब उसने एकाएक कमर से कटार निकाल ली और उससे शेरमाल के कई टुकड़े कर दिए और चुपचाप जिला किसी भीष के उसकी नोक पर बारी बारी से टुकड़े उठा वह खाने लगा। दावत खतम हुई और बाहर ने हुमायूँ को अलग लेजाकर कहा, बेटे होशियार रहना इस पठान से। अपना काम सर करने के लिए यह कोई जरिया उठा न रखेगा !

हुमायूँ को शेरशाह के सम्बन्ध की बाहर की कही बात की सच्चाई न चेनी पड़ी। उसकी सच्चाई उसने खुद भुगत कर जानी। वही शेरशाह अब मेरी गद्दी पर था। कुल पाँच साल वह जिन्दा रहा पर उस बीच उसने मालवा, गुजरात, पंजाब, सिन्ध, बंगाल, बिहार और राजपूताने

के एक बड़े हिस्से पर अधिकार कर लिया। पहली बार हिन्दुस्तान में मुस्लिम हुकूमत की लम्बे दौरान में तख्त पर एक आदमी बैठा जितने अक़्बरी थी, जितने ताकत और हुकूमत की सूझ थी। शेरशाह सा लड़ाका और शासन की व्यवस्था में निपुण अगर कोई दूसरा आगरे-दिल्ली के तख्त पर बैठा तो वह केवल अक़्बर, और नहीं। काश वह कुछ साल और बचा रहता।

शेरशाह के जमाने की अलावल-विलावल नाम से प्रसिद्ध इमारत अच्छी बुरी हालत में आज भी मेरे नगर में खड़ी है—प्रायः उसी हालत में जिसमें उसके बेटे का सलीमगढ़ है। फिर भी सलीमगढ़ एक महल के आकार में खड़ा हुआ है, किले के रूप में। सलीमशाह भी जब तक जिया मेरे ही नगर में जमा रहा और वहीं उसने अपनी आन्तिमी साँस ली।

शेरशाह का स्थापित सूर राजकुल कुछ ही दिनों बाद उखड़ गया। उस कुल के नालायक राजपुत्र परस्पर लड़ने लगे। इब्राहीम और सिकन्दर आदिल और मोहम्मद सभी निकम्मे थे और उनके किए कुछ न हो सका। सिकन्दर ने सयहिन्द में हार कर दिल्ली हुमायूँ के हवाले कर दी। बंगाल, बिहार की ताकत एक करता पठानों की फौज में बिहारियों की दरावल आगे किए पराकनी विक्रमाजीत हेमू हुमायूँ के मरने पर दिल्ली की ओर बढ़ा। मेरी हालत कुछ दिनों से उखड़ी उखड़ी हो रही थी और मुझे यह मुनासिब भी न जान पड़ा कि कमजोर हाथों तलवार पकड़ने वाले भुजदिल शाहजादों को हिमायत कलें और मैंने उस बीर-विक्रम हेमू को चुनचाप आत्मतमपण कर दिया। मेरे महलों में विश्राम कर वह नर पुंगव पानीपत की ओर बैराम खाँ और अक़्बर के बिरुद्ध बढ़ा। राह में उसने दिल्ली पर कब्जा कर लिया पर पानीपत के मैदान में उसकी किशमत ने पौंछा पलट दिया और वह मारा गया। तेरह साल की उम्र

मैं अकबर दिल्ली की गद्दी पर बैठा। बैठा तो वह दिल्ली की गद्दी पर, परन्तु कुछ ही दिनों बाद वह मेरे नगर में ही आ गया और अपने दादा बाबर की ही भाँति उसने भी यहाँ के मुशव्वने बागों में बैरा किया। पहली बार उसने ही मुझे उस रूप में बताया जिस रूप में मैं आज खड़ी हूँ। मेरा लाल किला उसी की देन है और उसके भीतर के महल का वह भाग जो जहाँगीरी महल कहलाता है उसीने खड़ा किया था। पश्चिम हिन्दुस्तान की शैली में कटी लकड़ों की जाली की नकल मेरे उस जहाँगीरी महल में हुई।

सदन, हाल, कमरे सब तो सदन के चारों ओर लड़े हुए। मगर इतना जरूर कहूँगा कि मुझसे भी ज्यादा राग अमर अकबर ने उस सीकरी पर सरसाया जो मेरी आँखों के सामने ही खड़ी हुई। वह जितनी ही बाबर और साँगा की भयानक लड़ाई और मुगलों की जीत की याद दिलाती है उतनी ही उस सलीमशाह को जिसके आर्शिवाद से सलीम पैदा हुआ और उतनी ही उस विफल प्रयत्न की भी जिसमें सल्तनत के कोई साधन प्रयाग में लाने से अकबर ने उठा न रखा। फतहपुर सीकरी का किला और उसकी नायाब इमारतें वास्तु में अप्रतिम होकर भी विफल मनोरथ की अद्वितीय दृष्टान्त हैं।

मेरे सामने ही सीकरी के महल लड़े हुए, मेरे सामने ही वे उजड़ भी गए और मैंने सन्तोष की साँस ली। जब वह बनने लगी तब मुझे कुछ कम ईर्ष्या न हुई थी। भला अपनी सीमा के भीतर ही प्रतिद्वंद्वी का खड़ा होना कौन पसन्द करेगा? पर सीकरी देखते ही देखते उजड़ गई और उसे मरते दम पानी तक न मिला। हाँ, उसके उजड़े महल आगे पटने वाले कितने ही रोमांचक और रहस्यमय अकसानों के कारण हुए। जहाँनआरा और छत्रसाल के मूक प्रणय-संवाद सीकरी की दीवारों में आज भी बसे हैं।

सीकरी छोड़ अकबर फिर मेरे महलों को लौटा और यहीं उसने अपनी अन्तिम साँस ली। अकबर हिन्दुस्तान में राज करनेवाले बादशाहों में अशोक को छोड़ सबसे महान् था। उसका कीर्ति हिन्दुस्तान की सीमाओं को लॉघ दूर-दूर तक जा पहुँची। इंगलैण्ड के बादशाह तक ने अपने अंग्रेज प्रतिनिधि उसके दरबार में भेजे यद्यपि वे उसके जीवन काल में न पहुँच सके। अकबर और शेरशाह के से दो बादशाहों का निवास अपने प्राचीनों के भीतर पाकर मैं फूला न समाया।

जिस सलीम की हिन्दू माता जोध बाई को सलीमशाह के आशीर्वाद की छाया में रखने के लिए फतहपुर सीकरी के महल खड़े हुए थे वही अब जहाँगीर के नाम से शासक के मरने पर मेरी गद्दी पर बैठा। वैसे तो वह भी कभी लाहौर, कभी काबुल और कभी काश्मीर में अपने दरबार करता पर गद्दी उसने भी अपनी मेरे ही नगर में रखी, मेरे ही महलों में, बाप के बनवाए लाल किले के भीतर। जहाँगीर मेरे ही महलों में गयासबेग की बेटी महसुबिसा पर मुग़ल हो गया था। यहीं उसने उसके साथ क्यूँतर उड़ाए, जवानों के जोश में उसे अनेक बार छेड़ा और यहीं बाप की दस्तन्द्राजी से उसके स्वप्न के तार त्रिलर गए जे जे उसकी प्रियसी वर्दवान के गर्वनर शेर अफगन से व्याह दी गई थी पर सलीम न अपने स्वप्नों को भूल सका और न महसुबिसा को। कुद कर वह बाहर निकल गया और जब बाप के लम्बे जीवन से ऊँच गया तब उसने बागी होकर उसके प्रियजनों का कत्ल कर उसके शुदापे के जीवन को भी दुस्ती करना शुरू किया। फिर जब वह गद्दी पर बैठा, शेर अफगन को मार उसने अपनी महसुबिसा को छीन लिया और मेरे महलों का नूर बना वह उसे यहीं रखने लगा। चार साल तक नूरमहल ने जहाँगीर के साथ न बोलने, उसकी ओर न देखने तक का नाटक किया। फिर वह उसकी मलका बनी और नूरजहाँ के नाम से प्रसिद्ध हुई। मेरे किले में

जहाँगीरी महल में ही वह सम्मनहुर्ज है जो उसी नूरजहाँ की बताई डिजाइन से बना था और जिसमें वहाँ उसने मलका की हैसियत से देश पर हुकूमत की।

जहाँगीर आरामसन्द, पियकड़ और क्रूर था। तीनों में नूरजहाँ ने अपने प्रभाव से उसे माफिक किया और उनमें सादगी बर्तने के लिए उसे मजबूर किया। किले के भीतर मैंने दीवाने बादशाह को अपनी खूबसूरत मलका को बैलगाड़ी पर बिठाकर खुद हाँकते देखा। और मेरी ही टकताल में नूरजहाँ को शक़्क़ाले बे सिकके भी दले जिनमें खुदा कि नूरजहाँ की शक़्क़ लिए होने की वजह से सोने को कीमत बढ़ गई है। और निश्चय उन सिकको की कीमत बढ़ गई।

मेरे ही महलों में जेम्स के भेजे अंग्रेजी राजदूत आए। सर टामस ने जहाँगीर के दरबार में यहाँ उसकी कृपा की भिच्चा माँगी और इस देश में पहली इंटें कैंस्री जो आगे दूर के जमाने में अंग्रेजी राज की नींव की इंट बन गई। इन्हीं महलों में पीता पीता बेहोश हो जाता और उठाकर पलंग पर ले जाया जाता। यहीं मुगल कलम के गजब के चित्रकार, उस्ताद और बसायन हुए जिनके द्वारा यूरोपीय तस्वीरों की नकल करा, असल नकल को एकता कर जहाँगीर सर टामस रो को चकित कर दिया करता था। यहीं राजपूतों के कितने धाँके सदाँरो ने जीहुजूर दर्बारियों को मौत के घाट लगा दिया था। जहाँगीर अपनी जिन्दगी में चल बसा यद्यपि उसकी पूरी जिन्दगी उसके बेटे खुर्रम ने उसे जीने न दिया। उसके अनेक वर्ष उसने अपनी बगावत से कम कर दिए। जब जहाँगीर मर गया तब नूरजहाँ को लाहौर भेज शाहजहाँ के नाम से खुर्रम गद्दी पर बैठा।

अकबर और शेरशाह महान् ये। उनके सम्पर्क से मैं भी महान् हुआ पर भेद की बात अगर कोई मुझसे पूछे तो मैं कह सकता हूँ कि शाहजहाँ

सा प्यारा मेरा कोई न हुआ। शाहजहाँ ने जिन इमारतों की मेरे किले में और बाहर परम्परा खड़ी की उनकी प्रशंसा में मैं क्या कहूँ, उन अद्भुत आने वाले पर्यटकों ने की है जिन्हें मेरे ताज और मोती मस्जिद ने बार बार आकृष्ट किया है। ताज जिसे बीस हजार मजदूरों ने चारों सौ साल में बनाया था, जिस पर करोड़ों रुपये खर्च हुए थे अपनी खूबसूरती में दुनिया में सानी नहीं रखता। शाहजहाँ के चौरह बखों की मा उसकी अप्रतिम प्रेयसी आरजूमन्द बेगम यानू मुमताज महल के नाम से प्रसिद्ध हुई और जब वह मरी तो उसके शान्तिमय आवास को गौरव देने के लिए शाहजहाँ ने यह अद्भुत मकबरा खड़ा किया।

शाहजहाँ ने दिल्ली का किला भी बनवाया था। वहाँ उसने दर्जारे आम और खास भी खड़े किए थे और उसके बाहर दुनिया की सबसे बड़ी जामा मस्जिद भी बनवाई पर उससे उसका जी न भरा और उसने यहाँ भी जामा मस्जिद बनवाई। किले में दीवाने आम और खास खड़े किए और यह अचरज की मोती मस्जिद जो नजाकत के लहम में मस्जिदों में लामिसाल है। खास महल की रौनक का तो शयान नहीं किया जा सकता जिसके पत्थर, जिसके बेशकीमत रत्न, जिसके लामिसाल फटान अपनी मिसाल आप हैं। अंगूरी बाग के पम्बारों के सीकरों से नम हवा की ताजगी अब उस हवा में कहाँ जो शाहजादियों की दबी कराह से बोझिल है। उसी बाग के सहन में उन शहजादियों ने अपने प्रणय के तार बुने थे जिनको किसी से बिबाद करने का अधिकार न था पर जिनके प्रणय को सकल करने के लिए हजार-हजार बोंदियों, हजार-हजार खोजे हाथ बांधे खड़े रहते थे !

बीच में कई कारणों से शाहजहाँ ने नगर से अपना तख्त और दरबार दिल्ली उठा ले गया पर जब धर्मात् की लड़ाई में उसके तीसरे बेटे औरंगजेब ने उसके प्यारे दारो को परास्त कर दिया तब जहाँ शाहजहाँ

फिर मेरी शरण आया पर फिर भी उसका जीवन दुःखमय ही चला था। उसे बाद आई उन दिनों की जगह उसने खुद वार से बग़ावत कर उसका जीना मुश्किल कर दिया था और अन्त में जिसे उसने कैद तक कर लिया था। वह दिन दूर न था जब उसे अपने बेटों के हाथ खुद कैद होना पड़ा क्योंकि जिस दकन के आचार से वह स्वयं कभी कभी अपने बाप के खिलाफ उठा था औरंगजेब भी वहीं से उसके खिलाफ उठा और सुबे पर सुबा जीतता मेरे नगर के बाहर सामूगढ़ में आ खड़ा हुआ। सामूगढ़ की लड़ाई सल्तनतों की शक्ति बदल देने वाली लड़ाइयों में से एक है। उस मैदान में अपनी भागवत हुई सना के बीच औरंगजेब ने अपने भागते हुए हाथी के पैरों में जंजीर बलबा दी थी और जंजीर ज़मीन में गाढ़ दी थी ताकि हाथी भाग न सके। उसी लड़ाई में उसने शाहजहाँ के प्रिय बेटे दारा को कुचल दिया था और मैदान जीत वह सहसा मेरे किले के सामने अपने सदाँरों के साथ मुराद को पीछे किए आ खड़ा हुआ। शाहजहाँ ने अपने खास खोंचे को भेजा और कहलाया कि औरंगजेब आगरा छोड़ कर चला जाय। पर बेठा आखिर बाप का था और उसने हुक्म मानने से यह कह कर इन्कार कर दिया कि बादशाह जिन्दा नहीं, हुक्म जालो है। और वह अपने बेटे मुहम्मद को कुछ मतलब की बातें समझा खुद महल घेरे खड़ा रहा। मोहम्मद ने बादशाह को बन्दी कर लिया और बादशाह ने जमाना बदला जान कमबख्शी मंजूर कर ली। आगरा में, दिल्ली और लाहौर में, अनेक-अनेक सदाँर ऐसे थे जो शाहजहाँ की कसबाज़ी से उपकृत हुए थे पर किसी ने उसके बचाव की कोशिश न की, एक परिन्दे ने उसकी ओर से पर न मारा।

शाहजहाँ अपनी प्यारी बेटो अहानआरा के साथ सात साल अपने ही किले में अपने ही बनबाए महलों में कैद रहा, जहाँ उसने अपने विलास के अनन्त साधन भोगे थे, अपनी समृद्धि के अनेक स्तम्भ खड़े

किए थे। शाहजहाँ के रोव की ऊँचाई का बादशाह मेरे महलों में कैद हुआ। मैं दंग था। और हाँ, वह कैद भी कुछ आसान न थी। यह सही है कि औरंगजेब बाप को आराम देने के लिये बड़ी तत्परता दिखाता था परन्तु शाहजहाँ के अनेक क्षण निःसन्देह ऐसे भी बीते जब वह जिन्दगी से ऊब गया। मशहूर भी है कि एक बार उसने खीझ कर कहा—“हिन्दुओं को गुलाम कहा जाता है, यह गुलाम भी तुझसे अच्छे हैं जो अपने मरे बाप तक को पानी देते हैं, पर बेटे तू तो अजब मुसलमान है जो जिन्दा बाप को पानी बगैर तरसाता है।” पानी, जिसको शाहजहाँ को हसरत थी जमुना का था। जमुना ने भी शाहजहाँ की यह विलखती आवाज सुनी और चुपचाप अपनी राह बह बहती रही। उसमें भी आलमगीर के डर से इतनी हिम्मत न हुई कि वह एक बूँद महल के भीतर उछाल दे।

शाहजहाँ यहीं मरा, अपने ही महलों में और तब तक, सात साल, औरंगजेब मेरे ही आधार से सल्तनत पर हुकूमत करता रहा। मेरे ही नगर में उसने अपने आगे के जीवन का सविस्तर साका खींचा और अपने लम्बे जीवन में उसको चारितार्थ करने का उसने प्रयत्न किया। बाप के मरने पर वह दिल्ली चला गया। मेरा अक्सान शाहजहाँ की कैद से ही शुरू हो गया था और मैं निरन्तर नीचे गिरता गया। औरंगजेब के बाद उसके वंशजों ने अनेक बार मेरे ही महलों में दर्ज़ार किया। फर्रुखसियर मेरे ही किले में मरा।

अगले दिनों दिल्ली के तख्त के लिए जो भीसियों शाहजादे खड़े हो गए उन्हीं में वह हुसैनअली खाँ भी था जिसने नगर और मेरे महलों को तो लूटा ही, ताज के भीतर की नूरमहल की कमर टाँकने वाली मोतियों की चादर तक उसने न छाँदी। नूरजहाँ और नूरमहल के जवाहरात अब भी मेरे महलों में संचित थे उनको भी उसने लूट लिया। शहर.

को लूट मुझे शाहजहाँ की उस लूट की याद दिलाती है जब अभी वह खुर्रम था और जहाँगीर के जिन्दा रहते उसने मेरे शहर पर छापा मारा था।

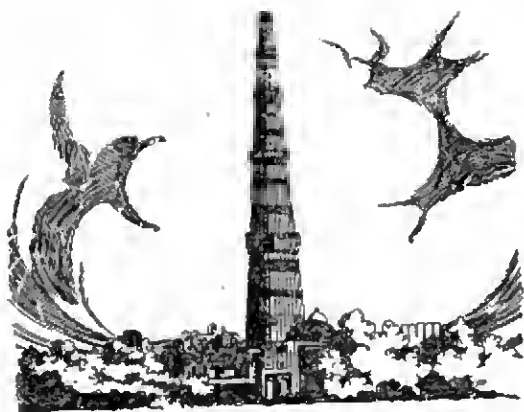
फिर मुझे ईरान के नादिरशाह ने लूटा जिसने चार ही दिन पहले दिल्ली को बरबाद कर दिया था। मोहम्मदशाह से जो कोहनूर उसने ले लिया था और जिसकी कीमत जानकारों ने दुनिया का रोज का आधा खर्च आँका है पहले पहल हुमायूँ को मेरे ही नगर में मिला था। मेरे ही महल में ग्वालियर के उस राजा का खान्दान टिका था जो इब्राहीम लोदी के साथ पानीपत के मैदान में मारा गया था और जिसके खान्दान को हुमायूँ ने रहमत बख्शी थी। इस उपकार के बदले राजा के कृतज्ञ बेटे ने हुमायूँ को कोहनूर दे दिया था।

फिर मराठों ने मुझे लूटा और प्रायः तीस वर्षों तक वे मुझ पर अपना अधिकार जमाए रहे। पानीपत के मैदान में अन्धाली ने जब उनकी ताकत तोड़ दी तब उनका पंजा मुझ पर दीला पड़ा। भरतपुर के जाटों ने भी मुझे बुरी तरह लूटा। मेरे महलों के कीमती पत्थर उन्होंने निकाल लिए और मेरे ताज तक के चाँदी के किवाड़ निकाल कर पिघला दिए। जाटों की इस लूट में उस आधे फ्रेन्च आधे जर्मन वास्टर रीनहार्ट ने भी काफी मदद की जो इस प्रकार के कामों के लिए सदा कमर कसे रहता था और जिसने अभी हाल के लहलूहान में बश कमाया था।

१८५७ के गदर में मैंने कुछ विशेष भाग न लिया यद्यपि मेरे नागरिकों ने भी जेल तोड़ कैदी रिहा किए, अंग्रेजों को मारा और उनकी कचहरियाँ जला दीं और फिर वे दिल्ली के बागियों से ना मिले।

बाद का मेरा इतिहास कुछ विशेष महत्व नहीं रखता। मैं अब भी जिन्दा हूँ और चुनाव जमाने की रक्तार देत रहा हूँ। मैंने अपनी

जिन्दगी में दिल्ली या पाटलिपुत्र की तरह कुछ सास न देखा, न मैं इतना बड़ा कभी हुआ ही। पर मैंने भी कुछ देखा है और जा देखा है वह बिना किसी बनावट के कह दिया है। मेरी सादगी जमुना के बहते पानी के पास खड़ी उस राज की सादगी है जिसमें दुनिया की ऊँची इमारतों की बुलन्दी तो नहीं पर शांति का सदा जरूरी है।



दिल्ली

मैं दिल्ली हूँ, सल्तनतों की खूबसूरत। मुझे हिन्दू, मुसलमान, अंग्रेज तीनों ने भोगा है और अप्सराओं की कान्ति की भाँति मेरी कान्ति सदा दमकती रही है। दस-दस राजकुलों ने मुझे अपनी ताकत, प्यार और लाड़ से पाला और सजाया है। प्रतिहार, गहववाल, चौहान, गुलाम, खिलजी, तुगलक, सैय्यद, लोदी, खुर्र, मुगल और अंग्रेज बारी-बारी मेरी जमीन के स्वामी हुए हैं और उन्होंने अपने-अपने समय मेरे केन्द्र से हिन्दुस्तान की मुश्कुराती जमीन को भोगा है, उसे उजाड़ा और बीरान किया है, उस पर हुकूमत की है।

समुन्दर के स्वार-भाटे की तरह सदियों के दौरान में आदमी की मेहनत, उसके दुख और उल्लास मुझ पर खुदे और गिर गए हैं। सत्तनतों को अपनी छाती पर किए मैंने जब करवट ली है उनके पाए उखड़ गए हैं, उनके कलश कंगूरे धूल में मिल गए हैं जिनके टुकड़े आज भी जब तब मेरी मिट्टी में मिल जाते हैं। मेरी खड़ी इमारतों और उन महलों के खण्डहरों से मेरी पुरानी शान का कुछ अन्दाज़ जगेगा जो दारुल खलीफा, तुगलकाबाद, जहाँपनाह फिरोजाबाद और शाहजहाँनाबाद के नाम से कभी लड़े हुए फिर मिट गए। उनके भग्न स्तूप समझदारों के लिए अपने भीतर सदियों का रहस्य छिपाए हुए हैं परन्तु जितनी मैं जानती हूँ उतना कोई नहीं जानता, न वे खण्डहर और न महलों की टूटी हुईियाँ।

माना मैंने कि शायद मैं उतनी पुरानी नहीं जितने हिन्दुस्तान के कई दूसरे शहर हैं, कि शायद मैं उनमें सबसे नई हूँ, और इसे मन्ज़ूर करते मुझे बरा भी शरम नहीं होती। मगर दिल को हिला देने वाली जितनी घटनाएँ मेरी जमीन पर घटी हैं उतनी दुनिया के किसी शहर में न घटी, न दमिश्क में, न बगदाद में, न समरकन्द में, न काहिरा में और अब मैं वही कहानी कहने जा रही हूँ जो बीते इतिहास के लिए भी नई है और उसको हैरत में डाल देने की ताकत रखती है। मेरी इंट इंट खून से लथपथ है और जब मैं ऐसा कह रही हूँ तब सब मानिए वह कुछ साहित्यिक या अदृश्य मुहावरों में नहीं बल्कि जिन्दगी की तरह सच्चा जो मेरे नजर के नीचे गुजरा है और अगर आपको यकीन न हो तो सोरी की मुनियारी हँदों के सूखे गारे से पूछें जो आज भी मुख हैं।

मेरी कहानी में जिन घटनाओं का समावेश है उन पर विश्वास नहीं होता, विश्वास करने का जी नहीं चाहता—आखिर बेटे द्वारा बाप का खून, खान्दान के खान्दान का नाश, शहर के शहर का कल्लेआम भला

आसानी से किलके विश्वास की वस्तु बन सकते हैं ? परन्तु जो मैं कहने जा रही हूँ उसकी बुनियाद कुछ ऐसी ही है ।

हाँ, उसे मैं बुनियाद ही कहती हूँ क्योंकि यद्यपि यह सही है कि मेरी लगातार बस्ती प्रतिहारों और तोमरों के पहले की नहीं है । मेरा 'इन्द्रप्रस्थ' महानगर काल की उस भूमि पर खड़ा है जिसे कभी पाण्डवों का इन्द्र प्रस्थ कहते थे और जिसके महलों में दुर्योधन को जमीन पानी और पानी जमीन दीख पड़ा था । और जिस इन्द्रप्रस्थ की बुनियाद भाइयों के उस भगड़े पर खड़ी थी जिसने एक बार सारे भारत को महासमर में सोंक दिया । हस्तिनापुर पर पाण्डवों का कब्जा हो जाने के बाद इन्द्रप्रस्थ की लक्ष्मी मलिन हो गई और जब हस्तिनापुर के गंगा की याद से बह जाने पर निचभु ने कौशाम्बी को अपनी राजधानी बनाया तब तो इन्द्रप्रस्थ भारतीय राजनीति से भुला ही दिया और तब से वह अपना कान्तिहीन जीवन अब तक घसीटता आ रहा है ।

परन्तु मैं उसी की प्राचोरो के पास जो तोमरों के शासन में खड़ी हुई तो आज तक मैं निरन्तर खड़ी रही । दिन बुरे भले दोनों मैने भी देखे, कौन नहीं देखता, पर मुझे उस बदलते जमाने का कोई गम नहीं, अन्त भला तो सब भला, कुछ आज की ही कहावत नहीं और मुझे आज वह फल हासिल है जो इस देश के किसी नगर को, यानी कि मैं हिन्दुस्तान और आजाद हिन्दुस्तान की राजधानी हूँ ।

तो मैं अपनी बुनियाद की कहानी कह रही थी, अनंगपाल की उस गहरी नींव की जिस पर खड़ी होकर मैंने कभी दम न तोड़ा । अनंगपाल तोमर था, उन प्रतिहारों का माण्डलिक जो पहले जोधपुर के पास मन्दोर में प्रतिष्ठित हुए थे, फिर उज्जैनी में और अन्त में कन्नौज में । तब से कुछ काल तक कन्नौज के साथ ही मेरी गाठ बँधी रही । अनंगपाल ने न केवल मुझे इन्द्रप्रस्थ के पास खड़ा किया वरन् उसने मुझे मन्दिरों, महलों और

तालाबों से सजाया भी। कुतुबमीनार के पास मेहरोली में जो लोहे की लाट लड़ी है और जिसपर चन्द्रगुप्त विक्रमादित्य के यश से दक्षिण समुद्र के सुवासित होने तथा सिन्धु में सातों मुँहों को लॉघ बल्ल के दूबों को धूल चटा देने के बाद लिखी है। वह पहले वहाँ न थी पर उसी मेरे जनक ने उसे लाकर वहाँ लड़ा किया।

तोमर कुछ विशेष शक्तिमान न थे, वे भी वे प्रतिहारों के सामन्त ही जो अन्त तक वे बने रहे और उनके हाथ से निकलकर गहड़वालों के समय में पूर्णतः कन्नौज के अधिकार में चली गई। यद्यपि उसके साथ भी मैं बहुत काल न रह सकी। वास्तव में मैं राजनीति का केन्द्र होना चाहती थी और मुझे कन्नौज और काशी के साथ बौंदी की भाँति बने रहना कभी न भाया। मैं राह देख रही थी उस विजेता को जो मुझे गहड़वालों से छीन मेरी स्थिति स्वतन्त्र कर देता, मुझे अपनी राजधानी बनाता और वहाँ अपने सल्तनत के पाये रखता। मैं महत्वाकांक्षिणी थी। मुझे अपना स्वप्न सच करना था और उसके लिए तब अवसर मिला जब वह विजेता आया जिसकी मैं अर्थ से राह देख रही थी। शाकम्भरी (सोमर) और अजमेर का चहमान (चौहान) विप्रहराज चतुर्थ वीरसलदेव या वह विजेता जिसने विजयचन्द्र गहड़वाल से मुझे छीन लिया। वीरसलदेव को कुछ अकारण ही महाकवि सोमदेव ने "ललित-विप्रहराज" नहीं कहा। वह सचमुच ही रोमांचक और ललित था। उसका 'हरिकेलि-नाटक' स्पष्ट प्रमाण है कि उसने सरस्वती को अपने दरार से पुलकित किया था परन्तु विशेष पुलकित मैं हुई जब उसने मुझे राजधानी का गौरव दिया। फिर तो शीघ्र बाद वह पर पृथ्वीराज तृतीय के शासनकाल में सुरक्षित हो गया।

पृथ्वीराज उस लालित्य और विलास का मूर्तिमान पराकाष्ठा था जिसका उसके पूर्वज विप्रहराज ने प्रारम्भ किया था। सुसलमान तवारीख-

नवीनों का 'रायचौरा' तत्कालीन भारतीय ललित कथाओं का अपने रोमांचक कृत्यों से नायक बन गया। हिन्दू काल में वस्तुतः मैं राजवंती उसी द्वारा हुई; उदयन की कथा मैंने सुनी थी। मेरी ही जमुना की धारा उस कौशाम्बी का भी स्पर्श करती थी। उसके तट से होकर भी बहती थी जिसके महलों को वत्सराज उदयन ने अपनी वीणा से कभी निनादित किया था, मैं भी कौशाम्बी की ही भाँति पृथ्वीराज के विलास से सहसा कान्तिमत्ती हो उठी। मेरे महलों में भी प्रहसपुष्कर की लिंग्घ गंभीर ध्वनि पसर-पसर गूँजने लगी।

और मेरे स्वामी के अपने विलास को चरितार्थ करने के साधन भी थे। सबसे बड़ा साधन उसका शौर्य था। जब ताल ठोक मैदान में वह उतर आता तब बाँके से बाँका लड़ाका पीठ दिखा जाता। मार्ग में जब वह तेवर बदल देता तब विशाल गज उसकी राह छोड़ देता। देश में अनेक लड़ाइयाँ जो उसने लड़ीं चाहे हिन्दू गौरव के लिए वह जात बेजा हो, वे सब विलास के राग से रंजित थे। शायद ही कोई लड़ाई उसने लड़ी हो जो किसी प्रेयसी के लिए न लड़ी हो। चन्देलों के महोबे और गहड़-वालों के कन्नौज में जो रक्त भरा वह निःसन्देह इसी कामना की मूल के कारण बहा। कालिंजर और महोबे पर अधिकार कर पृथ्वीराज ने कन्नौज से लोहा लिया। कन्नौज आज से नहीं कब से मेरी आँखों में लटक रहा था। एक जमाने तक उसके दानन से मैं बैधी रही थी पर अब जो मेरा नायक उभर बढ़ा तो मुझे बेहद खुशी हुई। कन्नौज का राजा जयचन्द उसरी भारत का सनाद माना जाता था। उसने अनेक प्रदेश तो जीते ही थे, अश्वमेध भी उसने किया और राजसूय के अपने उस महोत्सव पर जहाँ अनेक राजा उसकी परिचर्या में सोन घे और अपनी पुत्री संयुक्ता का स्वयंवर जहाँ उसने ठाना था वही स्वामी पृथ्वीराज को उसने हारपास नियुक्त किया था। और जब पृथ्वीराज ने ठह अशिष्टता पर हँस दिया

तब उसने उसकी मूर्ति बनवाकर द्वार पर लट्ठी कर दी। पुष्पीराज कच का पतिव्रताश्रों का रहस्य हो गया था और जिस प्रकार चालुक्य राज को हरा उसने उसकी कन्या छीन ली थी उसी प्रकार कन्नौज पर दूट उसने संयुक्ता को लूट लिया। हाँ, उस लूट का मूल्य उसे महामाया से जुकाना पड़ा—कन्ह और कैमास के प्राणों से जिनके तेवर के लड़ाके तब के हिन्दुस्तान में न थे।

इतना सब खोकर भी कन्नौज के पराभव के कारण मैं प्रसन्न ही हुई थी यद्यपि मेरी प्रसन्नता चिरस्थायी न हो सकी और मुझे रक्त के आँसू रोंने पड़े, विशेषकर इस कारण कि आगे के युद्धों में कन्नौज ने मेरी मदद से इन्कार कर दिया। उन युद्धों की कहानी हिन्दुस्तान की हार की कहानी है, उसके स्वतन्त्रता के अपहरण की, जिसका बयान औरों ने तो किया ही है मैं भी करूँगी।

गजनी का लूट गोर के उस पहाड़ी पठान ने उलट दिया जिसे हिन्दुस्तान के इतिहास में शहाबुद्दीन कहते हैं। शहाबुद्दीन ने हिन्दुस्तान के लहलहाते खेतों पर हस्तव भरी निगाह डाली थी जब दुश्मन की चोट से भाग कर उसने सिन्ध के किनारे पनाह ली थी। महमूद की लूट की कहानियाँ कहने वाले अब भी गजनी और गोर के पहाड़ों में कुछ कम न थे। उनकी जयानी कितनी ही कहानियाँ शहाबुद्दीन ने सुनी थी और उन्होंने उन खुरानुमा मैदानों की लूट के लिए नहीं उन पर हुकूमत के लिए उस पठान के दिल में एक आग पैदा कर दी थी।

शहाबुद्दीन एक बड़ी सेना लेकर सरहिन्द की ओर बढ़ा और उसे लाँघ तलाबड़ी के उस मैदान में जा उतरा जहाँ पुष्पीराज अपने राजपूतों के साथ बड़ा था। राजपूत, पठानों के लिए एक नई चीज थे। शहाबुद्दीन ने सैन्धुओं के भेजे वैसे थे; ईरानियों की तलवार भी उसने देखी थी पर राजपूतों की आन उसे अभी देखनी थी। जब उसके रिवाले उस

पानीपत के मैदान में अकगानों पर दूटे तब उनके पैर उखड़ गए और शहाबुद्दीन गजनी जाकर ही रुका पर वह अपनी हार की याद भुला न सका। इस्लाम की फौजों ने काश्मिर की चोट इस कदर कभी अपनी पीठ पर न ली थी। शहाबुद्दीन लौटा एक लाख और हजार सेना लिए, जिसमें मध्य एशिया के लासानी लड़ाके थे और जो इस्लाम के नाम पर हिन्दुस्तानी मन्दिरों की लूट की इच्छा लिए दौड़ पड़े थे। जब उसी मैदान में जो अभी पिछली लड़ाई के लहू से लाल था अकगानों ने चौहान कुड़सवारों पर हमला किए तो वे उस से मर न हुए। पठानों की समुद्र से उठती हुई लहरें जैसे लोहे की दीवार पर टूटती और बिखर पड़ती। चौहान उस से मर न हुए। पर जहाँ लोहे की दाल न गली वहाँ शहाबुद्दीन की चाल चल गई। भागने के बहाने वह सचेत पीछे हटा और राजपूतों ने अपनी कतारें छोड़ उसका पीछा किया। भूढ़ बढ़ पठान सेना लौटी और मेरी फौजें जो पहले ही तितर बितर हो गई थीं भाग चलीं। बड़ी मारकाट हुई और पृथ्वीराज स्वयं भयविगलित हो हाथी से घोड़े पर चढ़कर भागा। पठानों ने उसका पीछा किया और सरस्वती के किनारे पकड़ कर मार डाला। मैं विजित हो गई।

कन्नौज जो मेरे पराभव से मन ही मन पुलकित हो रहा था वह भी अधिक दिनों उस अभाग्य से अछूता न बचा जो मुझे अब तक निगल चुका था। अगले ही साल गोरी ने उसे भी लूट लिया यद्यपि वृद्ध जयचन्द ने चन्दावर के मैदान में उससे लोहा लिया और लड़ता हुआ मारा गया। मुझे यह कब गवारा था कि मेरा स्वामी तो भागला हुआ पकड़ कर मार डाला जाय और कन्नौज का स्वामी बीरता से लड़ता हुआ मरे? मैंने भट्ट अपने दबारी कवि द्वारा 'पृथ्वीराजरासो' में आर्यपुरुष परिवर्तन करा दिए जिससे मेरा स्वामी तो इतिहास का प्रसिद्ध नायक हो गया और जयचन्द देश की आजादी का दुश्मन!

जो भी हो मेरी धरा से हिन्दुओं का स्वतंत्र शासन सदा के लिए उठ गया। कुतुबुद्दीन ऐबक ने मेरे नगर पर अधिकार कर एक नई सल्तनत की वहाँ बुनियाद डाली। मैं पहले चन्द्रगुप्त की लाट के आस पास आज की अपनी नई भस्ती तक फैली हुई थी। उसी के बीच कुछ उत्तर ऐबक ने मुझे एक नया क्लेवर दिया और मेरे बीच उसने दो सौ पचास फीट ऊँची यह लाट खड़ी की जो बुनियाद की सबसे ऊँची मीनार है। मालवा और गुजरात, बिहार और बंगाल पर जब मेरा अधिकार हो गया तब कुतुबुद्दीन ने यह लाट उसकी यादगार में खड़ी की। जिस गुलाम बंश की हुकूमत ऐबक ने मेरे नगर में शुरू की उसकी कहानी इतिहास में अपना सानी नहीं रखती। तेरहवीं सदी अरबल में यह जमाना था जब प्रायः सारे मध्य एशिया और सिंध में गुलामों का ही साम्राज्य था। गुलाम वास्तव में शक्तिमान ही जीवित रह सकता है इस सिद्धान्त का प्रतीक है। कारण की बादशाह का बेटा तो प्रकृति का दान है, लायक नालायक दोनों हो सकता है। पर गुलाम नालायक हो और नालायक होकर भी सल्तनत की बुनियाद डाले उस पर हुकूमत करे यह मुमकिन नहीं। वह लायक ही होकर रहेगा और हिन्दुस्तान में ऐबक द्वारा स्थापित गुलामबंश इसी सिद्धान्त की सन्चाई प्रमाणित करता है। ऐबक से बलवन तक लगातार गुलामों की शृंखला में एक भी ऐसा नहीं जो अपनी वैयक्तिक प्रतिभा से न उठा हो। इन गुलामों का एक एक कृत्य मेरे ज़िस्म पर लिखा है और उसकी याद मेरे लिये जैसे फल की बदना की याद है। जब मैं पृथ्वीराज के समृद्ध बिलासी जीवन को देखती हूँ तो उबर से मुँह पर लेती हूँ और बरक्स मेरी आँखें इन अन-निजात स्वयंसिद्ध गुलामों पर बरसत अटक जाती हैं। इन्होंने अपना राज्य अपने विषम से अर्जित किया और ताकत की चोटी तक ये उन परिस्थितियों से होकर गुजरे जिनकी एक एक साँस में भयान्तक चोट

चली थी। कैसे यह पचकर इस प्रकार असामान्य हो गए इसका जवाब यह खुद है।

कुतुबुद्दीन अधिक दिनों मुझे न भोग सका और उसका तफ्त अल-बारी के उस तुर्क अलतमश को मिला जिसे उसने हिन्दुस्तान में खरीदा था और अब अलतमश मेरी गद्दी पर बैठा तब यील्दिस काबुल का महरी था। कुचाचा सिन्ध और लाहौर सँभाले था और बख्तियार बिहार और बंगाल पर काबिज था। तीनों गुलाम थे। तीनों अर्थों मर्द, तीनों महत्वाकांक्षी। अलतमश अभी मेरी जमी उम्बड़ी प्राचीरें ठीक ही कर रहा था कि चंगेज खाँ की वह आँधी हिन्दुस्तान की ओर चली जिसे पश्चिमी इतिहासकारों ने 'लुटाई कोदे' कहे हैं। चंगेज अपने मंगोलाँ को लिए ख्वारिज्म के शाह पर दूट पड़ा था और ख्वारिज्म का शाह जलालुद्दीन काबुल पर जा दूटा। फिर पहले यील्दिस, उसके पीछे जलालुद्दीन और उसकी पीठ पर चंगेज एकाएक सिन्ध के किनारे आ धमके। जलालुद्दीन को सिन्ध में टपेल चंगेज लौटा क्योंकि उसे दुश्मनों से मध्य एशिया में लोहा लेना था। जलालुद्दीन भी लौटा। अपनी सत्तनत उसने एक बार अपनी तलवार और हड़ता से लौटा भी ली पर फिर उसे अपनी जान के साथ ही लो भी बैठा। यील्दिस और कुचाचा इतिहास से मिट गए और मैं बाल-बाल बच गई। बंगाल और बिहार ने भी मेरे तफ्त के सामने सिर झुका दिया।

मालवा और गुजरात, बंगाल और बिहार, काबुल और पंजाब से धन धारावार मेरे खजाने में बरसने लगा। मेरा सुल्तान अपनी कम्पाजी से दुनिया में मशहूर हो चला। खलीफा ने भी उसे खिलत मेज़ी और वह उन 'काफ़िरो' की लूट से गाजी बनने लगा जिनकी ओर से मैंने रुख कर लिया था।

अलतमश के आद उसके नालायक बेटे चार दिन की हुकूमत कर

ऐसा के जरियों से अपनी ध्यास बुझा मिट गए और तब उसकी बेटी रजिया मेरे तख्त पर आई जा मेरे लम्बे इतिहास में मेरे तख्त पर सही सही बैठने वाली एक ही सुल्ताना है। इस तेरहवीं सदी में किस्मत की करबट से कुछ ऐसा बना कि एक साथ तीन सुल्तानाएँ मुसलमानी दुनिया के तीन साम्राज्य तख्तों पर बैठी—एक तो क्रूसेडर नवें लुई को हराने वाले मामलुक सुल्तान सलादीन के भतीजे की मलका—दुर्ग मिश्र की सुल्ताना थी, दूसरी ईरान की आभिषा और तीसरी हिन्दुस्तान की यह रजिया।

रजिया ने तबारीख के तरीके बदल दिये। हिन्दू जमाने से ही कभी कोई नारी मेरी गद्दी पर नहीं बैठी थी। और मुसलमानों को तो हिन्दुओं की तरह ही यह नाजायज लगा कि औरतजात उस गद्दी पर बैठे, जिसका विधान न कर्दी कुरान में था, न हदीस में, न शरियत में। फिर अपनी कुव्वत, सूझ और हृदय से उठने वाले दुर्क गुलामों को यह किसी तरह गवारा न था कि औरत मर्द के पोशाक में तख्त पर बैठे और हाथी पर चढ़ सेना का संचालन करे। लासकर जब रजिया ने अपनी कृपा से हन्शी गुलाम याकूत को कृतार्थ कर दिया तब तो सरदार भस्म हो उठे। और अलतुनिया के नेतृत्व में इन्होंने उसे कैद कर लिया। पर रजिया जिस तरह दिलीर थी उसी तरह अक्लमन्द भी थी और उसने अपने कटाक्षों से अपने विजेता को घन्दी कर लिया। तब उसकी मदद से वह फिर मेरे नगर पर चढ़ आई मगर तब तक सल्तनत पर उसके भाई की हुकूमत एलान हो चुकी थी। रजिया को उसके दुश्मनों ने मार डाला और मेरी गद्दी पर एक ऐसा नाचीज़ बैठा जो तीन दिन भी न टिक सका।

फिर मुझे एक ऐसे बादशाह के साये में बैठना पड़ा जो अलतमश का ही एक बेटा था और जिससे कभी खूँ रेजी न की। वह नाबिस्होन था, सुल्तान दरवेश जो कुरान नकल कर और टोमियाँ सीकर अपनी गुजर

करता था, जिसके हरम में फकत एक बीबी थी जो मुल्तान के लिये खुद खाना बनाती, अपने हाथों काम करती। नासिरुद्दीन नेक था पर नेक-नियली उस जमाने के मेरे बादशाह के लिये फक्र की कंई बजह न थी। मेरे तख्त पर बैठना तब तलवार की धार पर बैठना था। उस पर वही बैठ सकता था जो चौकड़ा हो, और जो दूर पास के हर तेंबर को समझ सके। मज़बूत हाथों विरोध को कुचल सके। निःसन्देह नासिरुद्दीन में उल्ले भोगने की ताकत न थी और अगर एक लम्बे अरसे तक वह वहाँ रह सका तो कुछ अपने वृष्टि नहीं परन्तु उसके बूते जो अपनी क्रूरता, दिलेरी और मेधा के लिये गुलाम मुल्तानों में मशहूर हो गया—बलबन।

बलबन उसी अलबारी का दुर्क था जहाँ का अल्लमश या मगर भोढ़ा, नाटा, बदसूरत पर जिसे उसकी जवान स्त्री सफाई से चकित होकर अल्लमश ने स्वीकृति लीया था। बलबन पहले अल्लमश का भिरती बना, फिर उसका घुड़सवार, फिर गायक, फिर सेनापति और तब एक जमाने तक नासिरुद्दीन का वजीर और अब मेरा स्वामी हिन्दुस्तान का मुल्तान। इतने अदने से इतना आला होते मैंने और किसी को न देखा और यही बलबन की महानता का रहस्य है। बलबन कुछ महीने अल्लमश और नासिरुद्दीन के बेटों की आपसी लड़ाई देखता रहा फिर जब उन्होंने क्रूरता और रक्तपात से परहेज को चुनौती दे दी तब बलबन उठा और उन्हें दूर कर तख्त पर आ बैठा।

क्रूर, सख्त, गम्भीर, न कभी हँसने वाला, न किसी को अपने सामने हँसने देने वाला बलबन जब मेरा स्वामी हुआ तब मैं खुद सहन गई। बलबन कुछ विशेष उदार न था। परन्तु शाही शान निभाना वह भले प्रकार जानता था। उसने कम से कम शहर और उसके पास दूर के इलाकों से चोरों और डाकुओं को दूर कर दिया। उसकी एकमात्र कामना अब मंगोलों से मेरी रक्षा करनी थी जो बार-बार हिन्दुस्तान पर

छापे मार रहे थे। इसी कारण मुझे छोड़ वह कभी बाहर भी न जाता था, यद्यपि एक बार उसे बाहर जाना पड़ा। बंगाल का सूबेदार तुगरिल अपने इलाके में स्वतंत्र हो गया था। उसने अपने आपको बादशाह एकानन कर दिया था और तिकके अपने नाम के टलवाए थे। बलघन ने उसको 'पकड़वाने के लिए दो-दो बार सेना भेजी और दोनों बार तुगरिल ने उसे मार भगाया। तब बलघन खुद एक बड़ी सेना ले बरसात की मुसीबत की राह तय करता नदियाँ लाँघता बंगाल जा पहुँचा। तुगरिल भागा पर पकड़ गया। उसे मार कर बलघन ने उसकी राजधानी में उसके सारे हिमायतियों को टाँग दिया। हजारों को उसने काँसी दे दी और अपने बेटे तुगराखों को बंगाल का शाकिम नियुक्त करते हुए उसने कहा कि 'देख तुगरा दिल्ली से बग़ावत करने का नतीजा और अपनी भी हकीकत सोच ले।'

बलघन मुगलों से मेरी रजा का भार अपने बेटे पीर मुहम्मद पर छोड़ पूरब गया हुआ था। अब जब वह लौटा तो मंगोलों ने उसके बेटे को मार डाला था। पीर मुहम्मद ही हिन्दो के पहले मुसलमान कवि अमीर खुसरो का संरक्षक था। उसके मरने से बलघन के दिल को बहुत चोट लगी। दिन भर तो वह किसी तरह दरबार में जमा काम में लगा रहता पर रात भर अपने बाल खींच-खींच बेटे की याद में रोता। इतने बड़े सिपाही को जो इस कदर सख्त और बेरहम था जब मैं अपने महलों में बार-बार रोते देखती तो मेरे भी आँसू छलछला आते। बलघन के साथ गुलामों का राजकुल वस्तुतः समाप्त हो गया यद्यपि उसके पोते ने फिर भी कुछ दिन मुझे भोगने की कोशिश की।

कैकुबाद जो तुगराखों का बेटा था दादा की देख रेख में उसके सख्त कायदों की पाबन्दी में बड़ा हुआ था। सत्रह साल की उमर तक न उसे खूबसूरत लड़की को देखने का मौका मिला था न शराब की

एक बुस्की लेने का। नतीजा यह हुआ की गद्दी पर बैठते ही उसने व्यवहार और शराब के नाम पर बड़े-बड़े पीने वालों को लबा दिया। बुगरा ने लौटकर उसको सँभालने की चेष्टा की पर तारा प्रयत्न निष्फल हुआ और कातिल के हाथ से कैकुबाद मारा गया। यद्यपि यह हत्या, हत्या नहीं खुदकुशी थी क्योंकि जब उसका अन्त करने के लिए हत्यारा उसके कमरे में पहुँचा तो, मुझे अच्छो तरह याद है, कैकुबाद शराब की आखीर बुस्की के साथ दम तोड़ रहा था और हत्यारे का सिधा उसकी लाश ठुकरा देने के और कुछ करना न पड़ा।

मैं फिर और सुल्तान के हो गई। यह अराजक स्थिति मुझे अनेक बार भोगनी पड़ी थी और इस स्थिति में मुझे रक्त से नहाना पड़ता था। मजबूत हाथ हटते ही बराबर तख्त के लिए कशमकश होती और खैरेजी के बाद जब कोई गद्दी पर बैठता अपने प्रतिपक्ष के बच्चे को खत्म करके ही दम लेता। इस वक्त भी वैसा ही हुआ और मेरे महलों की पार्श्व शाही खानदान के बच्चे बूढ़ों के खून से भुल गई। तब खिलजी जलालुद्दीन ने सहसा मेरे तख्त पर कब्जा कर लिया और उसने उस राजकुल का आरम्भ किया जिसमें थस एक बादशाह हुआ अलाउद्दीन, जो जैसे तो अपढ़-गँवार था परन्तु तलवार जिसने मुट्ठी में कस कर पकड़ी और सल्तनत की हुकूमत में लामिसाल हुआ।

जलालुद्दीन नेक और रहमदिल था, जईर और मजहबपरस्त, मगर नेक और रहमदिल बादशाह के लिए तब की गैरी गद्दी न थी। कुत्ते की नींद सोनेवाले, कौबे की तरह सर्तक, और बाज़ की तरह दूढ़ पड़ने वाले ही सही सही उस सल्तनत की हुकूमत कर सकते थे। नेकी उस जमाने का सबसे बड़ा अभिशाप थी। जलालुद्दीन को भी उसका फल भुगतना पड़ा। उसका भतीजा अलाउद्दीन न केवल उसका भतीजा था बरन् दामाद भी था जिसे वह बेटे से बढ़कर चाहता था। अलाउद्दीन

कड़ा का खेददार था पर उसकी महत्वाकांक्षा खेदारी की सुकड़ी हरी में न समा सकी। यह सीधा दक्कन पहुँचा और देवगिरि के राजा को दरा उससे करोड़ों की सम्पत्ति छीन दिल्ली पहुँचा। चाचा ने आनन्द से पुलकित हो भयोजे को छाती से लगाने का उपक्रम किया तभी वह घटना घटी जो न केवल मेरे ही इतिहास में बल्कि दुनिया के इतिहास में क़रता में अपना खानी कम रखती है। फातिल की तलवार चाचा के फ्लेजे पार हो गई। अलाउद्दीन खोना लुटाता मेरे तख्त पर आ बैठा और तब उसने रक्त की वह होली खेली जो मेरी याद में आज तक बनी है।

अलाउद्दीन ने बड़ी सख्ती से हुकूमत शुरू की। हिन्दुओं को उसने बड़ी घुरी तरह जेर किया। मुसलमान भी उससे कुछ कम न डरते थे। नए तिरों से उसने शासन का कार्य आरम्भ किया। यदा लिखा वह न था यह सच है मगर इन्तजाम का माहा उसमें था और खूब था उसकी भी महत्वाकांक्षा कुछ कम न थी। वह शराब की पीनक में एक बार बोला कि मैं चाहता हूँ कि मोहम्मद की तरह एक नया मजहब चलाऊँ और सिकन्दर की तरह दुनिया फतह करूँ। अपने सिकों में तो उसने अपने नाम के आगे 'दूसरा सिकन्दर' लिखवा ही दिया। परन्तु एक समझदार दरवारी ने उसको सुझाया कि वह मजहब चलाने का काम तो पैगम्बरों पर छोड़ दे और दुनिया जीतने के पहले वह उस दुनिया को जीत ले जो हिन्दुस्तान के भीतर खड़ी उसको ललकार रही है—रणथम्भौर—चंदेरी की, चित्तौर-मालवा की। निरन्देह रणथम्भौर और चित्तौर ने ही उसके साम्राज्य के सारे साधनों को इति कर दी पर दोनों को ले उसने जरूर लिया। अलाउद्दीन के जमाने में ही पहले पहल मुसलमान दक्खिन पहुँचे और उसके एक बड़े भाग पर अधिकार कर लिया। उसका हिन्दू गुलाम मलिक काफूर कई बार सेना लिए दक्खिन को रौंदा मालावार और रामेश्वर तक जा पहुँचा और

अबनी लूट से उसने मेरे खजाने का कोना कोना भर दिया। एक बार तो वह ६६ हजार मन अकेला सोना लाया था, मोती, हीरे जवाहर के अलावा।

पर इस तरह की सख्त दुकूनत में जब दर के ऊपर ही सल्तनत के पाए रखे हों बगावतों का होना जरूरी है। बगावतें हुई भी खूब और एक बार तो उसके एक भतीजे ने उसको इतना मारा कि मरा हुआ जान कर छोड़ दिया फिर जब वह उसके हरम की ओर बढ़ा तब खोजे ने उसकी राह रोक कहा हरम में आप दाखिल जरूर हों पर अभी जब अलाउद्दीन का सिर मुझे दिखा दें। इसी समय अलाउद्दीन का सिर दिखाई पड़ा पर सिर ऐसा जो उसके मजबूत कंधों पर पहले का सा जमा हुआ था। भतीजे का सिर उसी दम धड़ से अलग हो गया। इस तरह की बगावतें एक नहीं अनेक हुई और उनका इस कदर ताँता बँधा कि अलाउद्दीन के शासन काल का हर साल महीने तक उन बगावतों से भरे रहे और सुल्तान को लगातार उन-१ इन्तजाम सोचना पड़ा। उनका इन्तजाम इस एक था, तलवार से फैसला, जो करने में सुल्तान कभी न चूकता था। पर ये फैसले ही दूसरी बगावतों की बुनियाद साबित होते। फिर उनसे ऊपर बादशाह ने एक नई प्रोपगण्डा की। उसने सोचा कि बगावतें ज्यादातर दावतों और शराब की गोष्टियों में तय पाती हैं। उसने अमीरों की दावतें बन्द कर दी, शराब के दौर बन्द कर दिए, शराब की भट्टियाँ बन्द कर दी। खुद उसने शराब छोड़ दी। पीने के वेश कीमती वस्त्र तोड़ डाले। टूटे वस्त्रों के टुकड़ों से मेरा बदायूँ दरवाजा भर गया। उसके पास की जमीन फेंके शराब से बराबर गीली रहने लगी। अलाउद्दीन यही तक न रुका। उसने चरों का एक विभाग खोला और अब शहर के भीतर अमीरों के घर घर के भीतर उसने अपने जासूस नियत किए। कोई बात ऐसी न हो पाती जिसकी खबर उसे न

होती। आसादी के अन्दर अपने कुनबे में कोई बात कान में भी कहना अमीर खतरनाक समझने लगे। 'दीवारों के भी कान होते हैं' यह मुहावरा दुनिया में कभी भी ऐसा सच नहीं हुआ जैसा अलाउद्दीन के जमाने में। उसने दो अमीर घरानों को शादी में बंधना भी बन्द कर दिया जिससे दोनों की ताकत मिलकर खतरनाक न हो जाए। मेरा सारा शहर मातम और सदमें की नींद सोने और जगने लगा। हिन्दुओं के साथ तो जो सलूक उसने किया वह निहायत बेरहम था। उनके रईस कंगाल हो गए। उनकी बीथियाँ मुसलमान घर में बाँधियाँ बनने लगीं। उनको दाना-धाना मुहाल था।

मंगोलों का डर अभी कुछ कम न हुआ था। मैं बराबर धरार्ह हुई सी लाहौर और काबुल की ओर देखा करती। दो दो बार उनके हमले हुए और दोनों बार ऐसा मालूम हुआ कि मैं उजड़ जाऊँगी। एक बार तो वे मेरे 'सीरी' के महलों के परकोटे के सामने तक आ गए और उठे महलों घेरे रहे। अलाउद्दीन ने किर मैदान में उतर जफर खों की बहादुरी से उन्हें मार भगाया। दूसरी बार वे किर आए और मेरे बाहर कुछ काल जमे रहे। इसी बीच मेरे शहर में उनका एक मोइल्ला भी बस गया था। मुल्तान ने उनमें से एक एक को, बीबी, वष्ये सब को बेरहमी से तलवार के घाट उतार दिया। वे तो वैसे भी कंगाल थे पर उन कंगालों के खून से मेरी गलियाँ धुल गईं।

मंगोल खतरे से बचने के लिये अलाउद्दीन ने एक बड़ी भारी सेना प्रस्तुत की थी परन्तु खूँफि उसका खर्च आसानी से उठाया न जा सकता था इसलिये उसने अन्न की कीमत बराबर के लिए तय कर दी। साढ़े तीन आने मन गेहूँ, डेढ़ आने मन जौ, दो आने मन चावल और दो ही आने मन दाल मिलने लगी। सुन्दर काम करने वाले सुलाम नौकर दस रुपये में और रसूलें बीस रुपये में मिलने लगीं। रसूलों

की याद जब मुझे आती है तब इन्सानियत के इस पतन पर मैं आँसू डालती हूँ। यद्यपि मैं यह भूली नहीं कि महमूद गजनवी के हमले के बाद मध्य एशिया के बाजारों में उनका दर बेहद गिर गया था और उन्हें दस दस आने में वहाँ कोई खरीद सकता था क्योंकि हिन्दुस्तानी गुलामों से वहाँ के बाजार छब भर गये थे।

अलाउद्दीन के मरने के बाद मेरी वही गति हुई जो बलबन के बाद हुई थी और जो मजबूत सुल्तानों के मरने के बाद श्रावण होती रही। बारी बारी से अलाउद्दीन के लड़के जो बजीरों के शिकार हो गए थे मेरी गद्दी पर बैठे। अलाउद्दीन के अस्सी हजार गुलाम शहर में थे। उन्होंने भी कुछ कम पैतरे न किए, पर ताकत उस सुबारकशाह के हाथ लगी जिसने पहले तो छै साल के बच्चे बादशाह की अभिभावकता संभाली, फिर उसे अंधा कर मरवा डाला। उसकी बेरहमी के किसी कुछ थोड़े नहीं और मैंने तो इस तरह के अनेक अपने प्राप्तांशों में होते देखे हैं। मैं यह कह सकती हूँ कि सुबारक की तरह का बेरहम सुल्तान शायद कभी मेरे महलों की पर्श पर नहीं उतरा। देवगिरि के हिन्दू राजा हरपाल के बग़वत की ख़ा उसने दरबार में उसकी लाल जिन्दा लिंचवा कर दी। लाल खींचते वक़्त की उसकी चीख आज भी मेरे कोने कोने में बस रही है। बग़वतों का होना स्वाभाविक ही था। सुबारक के चचेरे भाई ने खुद ही बग़वत की। इस पर न केवल उसने उसको मरवा दिया मगर उसके उन्नीस भाई बहनों को भी बेमुरज्जत मरवा डाला। खुद उसका शरीर भून उसकी शीटियाँ उसके परवालों को खाने के लिए भेज दीं। अब वह खुद गद्दी पर था और उसने गुजरात के एक अछूत परवानी को अपना बजीर बना लिया था। उस परवानी के साथ वह दुनिया के सारे पास करता और दोनों ने मेरे महलों में ज़ना का एक ताँता बाँध दिया। वे नंगे दरबार में आकर

अमीरों का अग्रमान करते और उनकी बेशर्मी देख मैं आँखें मीच लेती। एक दिन आखिर वही हुआ जो होना था। परधानी ने उसे कत्ल कर दिया और उसका बड़ लोगों ने एक रात किले की दीवार से बाहर गिरते देखा। परधानी जिसे मुबारकशाह ने ही खुशरो खाँ का खिताब दिया था अब नासिरुद्दीन के नाम से गद्दी पर बैठा और जिस बेशर्मी का उसने परिचय दिया उसका बदाम नामुमकिन है। खिलजी सुल्तान के हरम पर उसने पूरा कब्जा कर लिया, जो शाहजादियाँ उसने जहर से मौत समझी उनको उसने दूसरे परवानियों में बाँट दिया। नश्विदा में उसने मूर्तियाँ बिठाई और कुछ महीनों उसने तलवार के धल पर मेरे शहर में कांहराम मचा दिया।

अगर वह चाहता तो उसके हाथ में सब कुछ था। खजाना, फौज, किले और इनसे कहीं बढ़कर शहर और सल्तनत के मजदूम, और अलाउद्दीन के अस्सी हजार गुलाम जिनसे कुछ भी किया जा सकता था। मगर निरंकुश शासन की कुनियाद ही कुछ ऐसी है जो तख्त पर बैठने वाले को गुमराह कर देती है। नासिरुद्दीन ने भी वही किया जो उसकी स्थिति के लोग किया करते हैं, करते आए थे। पर आखिर वह स्थिति बराबर कायम न रह सकती थी और अमीरों ने लाहौर और उत्तर-पश्चिम के किलों के प्रहरी गयासुद्दीन तुगलक की ओर देखा। गयासुद्दीन मेरे नगर पर बढ़ आया। परधानी ने खजाने का सोना फौज को बाँट दिया और तलवार से मैदान में उतर आया पर इसी वक्त तुगलक का बेटा जौना जो बाद में मुहम्मद तुगलक के नाम से इतिहास में प्रसिद्ध हुआ और जो तब मेरे मुहसबारों का सरदार था, शाही रिसाले के साथ बाप से जा मिला। गाँजी तुगलक गयासुद्दीन खिलजियों के तख्त पर आ बैठा और सीरी के महल को बरबाद कर उसने मुझे नए खिरे से बसाया और मेरी नई बस्ती को तुगलकाबाद

कहा। मुझे याद है दो साल के निरन्तर मेहनत से लालों राजों और मजदूरों द्वारा तुगलकाबाद और उसके भीतर का मेरा शाही महल तैयार हुआ था। पर उस महल में तुगलक रह न सका। उसमें वह प्रवेश भी न कर सका और बेटे की मुहब्बत का वह शिकार हुआ। कंगाल की बदअमनी दवाकर वह लौटा था और अपने नए नगर में वह प्रवेश ही करना चाहता था कि बेटे की मुहब्बत ने उसे रोक दिया—कहा कि नए नगर में शाही वासिला गुनासिध इस्तफ़्वाल और जशन के साथ होना चाहिए। जशन हुआ पर जिस मरदप में सुल्तान का स्वागत होने वाला था एन मौके पर वह बैठ गया। कैसे बैठ गया यह वह बेटा जाने जो आज इस दुनिया में उसकी कैफ़ियत देने को जिन्दा नहीं।

मोहम्मद तुगलक को बादशाहत कुछ अजब थी। कुछ ऐसी कि जिसका मानी दुनिया के इतिहास में नहीं। लोगों ने उसे पागल भी कहा है, दूरदर्शी भी। मैं वह क्या था इसका नैसला अमनी कहानी पढ़ने वालों पर छोड़ती हूँ पर इतना जरूर कहूँगी कि मेरे तख्त पर कोई ऐसा बादशाह न बैठा जो इतना किस्मतवर रहा हो और सखुन में इतना लामिसाल जितना मोहम्मद था। गुजरात, मालवा, दक्कन, द्वार-समुद्र तक और सारा हिन्दुस्तान जीत कर बाप खुद उसे छोड़ गया था और दिमागी इस्लाम में जितना सही और जितना बेअन्दाज आलिम यह था उतना कभी कोई बादशाह मेरे तख्त पर न बैठा। गजब का दार्शनिक और ग्रीक दर्शन का पण्डित, असाधारण गणितज्ञ और आलिमों को भी अपने तर्क से धुप कर देने वाला तार्किक, उस वाक्-प्रवीणता के युग में गजब का बक्ता, फारसी साहित्य का असाधारण जानकार और हरूफ नक्काशी में अपना नमूना आप वह मोहम्मद था। ऐसा भी नहीं कि वह रिआया की भलाई न चाहता हो पर बात यह

थी कि वह गुनराह था और उसकी सारी तरकीबें आसमानी थीं, जमीन की नहीं ।

चीन जीतने के लिए उसने एक सेना भेजी जो पहाड़ों में गल गहं, बची खुची उसने मरवा डाली । फिर उसने सोचा कि दिल्ली न केवल खैलार मंगोली के खतरो को पहुँच में है, दक्खिन पश्चिम के सूबों से दूर, बहुत दूर है और वहाँ से आने वाली खिराज वियाधों की सड़कों पर लुट जाती है । अगर देवगिरि को राजधानी बनाया जाय तो वह सल्तनत के बीच में हो और हुकूमत सुनातिव तौर से हो सके । अपनी कामना को शुन करने के लिए उसने देवगिरि का नान बदलकर दौलताबाद रखा और मेरे शहर को प्रजा को, अमीर गरीब को उसने यहाँ जा बसने का हुक्म दिया । उसकी हुक्म उदूली का नतीजा क्या होगा यह मेरे नगरवासी जानते थे । सात सौ मील चल कर वे उस सुले सुले मराठे देश के बीच पहाड़ी देवगिरि पहुँचे, जहाँ न उनके खुशनुमे बाग थे, न जमुना का निर्मल पानी, न उनकी ऊँची मस्जिदें, न आरामदेह मकान । रियाया तबाह हो गई । ज्यादातर सात सौ मील की उस मुसाफिरी में चल बसे थे, बहुतेरे नए शहर को तकलीफों और नई बीमारियों के शिकार हो गए थे और जो बचे थे उनकी मुसीबत और उनकी तबाही देख उन्हें लौटने का हुक्म दिया । मैं उजड़ गई थी और अपनी मुसीबत की कहानी मैं क्या कहूँ जिसका बयान कुछ ही साल बाद मेरे शहर में आनेवाले मूर इब्नबतूता के हाल में पढ़ा जा सकता है । मैं उजड़ गई थी और मेरी सड़कों पर लाखों लाखों सड़ रही थीं ।

सुल्तान भुल्लाया हुआ था । उसने रियाया पर नए कर लगा दिए और कब्रों तथा डलमऊ तक के प्रदेश उजाड़ डाले । सड़ी सेती छाँड़ खिस्तान जङ्गलों में भागे पर यहाँ उन्हें घेर कर सुल्तान ने बनेले जानवरों की तरह मरवा डाला । फिर जो उसे हाँश हुआ तो उसने

उनका सालाना कर माफ कर दिया। उन्हें नए सिरे से सेती करने के लिए सल्तनत की ओर से उधार रुपये दिए, बीज और जरूरत की चीजें दी। कुचले खाँ ने चीन में चमड़े के सिकके चलाए थे और ईरान के बादशाह ने कागज के रुपये चला कर शिरावा को ठगना चाहा था मोहम्मद ने ताँबे के सिकके चलाए और उन्हें चाँदी सोने के बदले लेना शुरू किया। मेरे शहर का हर घर तब ताँबे के सिकके ढालनेवाला टकसाल बन गया और खजाना उनसे भर गया, सोने चाँदी के सिककों से खाली हो गया। बाहर से आनेवालों ने उन ताँबे के सिककों का अम्बार 'तुगलकाबाद के दरवाजे पर सालों बाद खड़ा देखा। सल्तनत तबाह थी, रियावा कुचल गई थी, भिन्नमंगी हो गई थी, फिर भी मोहम्मद अपनी फय्याजी की नई मंजिलें तय कर रहा था। विद्वानों को दान देने में उसने नई ऊँचाइयों नारी और विदेशी पुस्तकों को तो उसने मालामाल कर दिया। जागीर और खिलत, घोड़े, हाथी और घन देना तो उन्हें उसकी मामूली बात थी। इन्वज्जला को उसने न केवल भन, दौलत और जागीर बरुशी, काजी बनाया, बल्कि उसे अपना दूत बनाकर चीन के सम्राट के पास भेजा। तुगलकाबाद में, गाजी के भेर नए शहर में जिसमें गाजी एक दिन भी न रह सका या उसका वह सुनहरी लपट्टों से छाया महल खाली पड़ा रहा पर मोहम्मद उसमें एक दिन भी न पैठा। उसने लाखों लख कर अपना नया नगर बसाया और उसमें उसने जहाँनाह नान का अपना नया महल खड़ा किया। यह मैं इधर के जमाने में पाँचवीं बार बनी थी। पृथ्वीराज का हिन्दू-नगर कब का याद से भुलाया जा चुका था, कुतुबुद्दीन और अल्तमश की दीवारें भी कब की हिल चुकी थीं, सोरी की प्राचीरं तुगलक ने ही छोड़ दी थीं, तुगलकाबाद कीरान पड़ा था और अब दस मील लम्बी-चौड़ी मेरी आबादी जो जहाँनाह के इर्द गिर्द फैली थी, उजड़ी पड़ी थी।

मोहम्मद से आखिर मुझे नजात मिली जब सिन्धियों से लड़ता वह सिन्धु के किनारे जुलार का शिकार हो गया और तब उसका चचेरा भाई इस्लाम का परमभक्त और इमारतों का मशहूर निर्माता मेरी गद्दी पर बैठा। इस नेकदिल बादशाह को सारी जिन्दगी मोहम्मद की गलतियों को दुरुस्त करने में लगानी पड़ी। इसने जिन जिन पर जुल्म हुआ था उनसे माफी लिखवा कर मोहम्मद के साथ दफना दिया जिससे क्यामत के दिन उस बादशाह पर खुदा की रहमत बरसे। किरोज को गुलामों का बड़ा शौक था। अक्सर गुलाम वह अपनी नजर में लेता, दो लाख के करीब उनकी संख्या मेरे नगर में हो गई थी। उनमें से चालीस हजार तो केवल महल की रक्षा में नियुक्त थे, उनकी अपनी सेना थी, अपना खजाना था, अपने अक्सर थे और मैंने हसरत भरी नजर से बार बार उन गुलामों को और देखा और पूछा क्यों नहीं वे अपनी पौजों का अपने खजाने का अपने लिए इस्तेमाल करते ? क्यों नहीं मेरे तख्त पर कब्जा कर वे अभिजात कुलियों को उनके बिलास का मजा चखा देते। परन्तु कुचले हुए उन गुलामों में हिम्मत न थी, उनमें अरमान तक न थे, कोई हसरत न थी।

किरोजशाह दूगलक ने मुझे छठीं बार आफार दिया और मेरी नई आबादी किरोजाबाद के नाम से दुनिया में मशहूर हुई। किरोजाबाद में ही किरोज के कजोरआजम और खानानेखान मकबूल खाँ का वह हरम कायम था जिसकी चर्चा तबकी दुनिया में दबी मुस्कराहट से होती थी और जिसमें उसकी दो हजार शीशियाँ। जैतूनी रंग की ग्रीक बेगमों से लेकर पौली चीनी बेगमों तक। मैंने अपनी इस लम्बी उम्र में इतना बड़ा हरम कभी न देखा था और बाद में भी ऐसी तादाद मेरे महलों में न उतरी। मकबूल खाँ को बादशाह इतना मानता था कि उसके हर बेड़े के लिए उसने एक हजार की आमदनी बाँधि दी थी, और हर बेड़ी की शादी

के लिए खर्च । फिर दो हजार बेगमों से बराबर पैदा होती रहनेवाली औलाद के खर्च का अन्दाज लगाया जा सकता है । पर आखिर उस खर्च की कैफियत लेनेवाला कौन था जबकि खुदा का पेशवा वह बादशाह खुद उसे बरूश रहा था ।

फिर भी अपनी उस चोट की कहानी मुझे कहनी ही होगी जिसकी याद अम्बर मेरी नींद तोड़ देती है । जब मेरे नगर में तुगलकों के वंश-धर बजीरों के हाथ की पुतली हो रहे थे, जब मेरे नगर और कन्नौज में दो दो बादशाहों खड़ी हो गयी थीं और जब अकेले मेरे ही नगर में दस मील के बीच मोहम्मद और नसरत सल्तनत के स्थाव देलने लगे थे तभी समरकन्द से वह तैमूर निकला जिसने एशिया माइनर तक कुस्तु-नुनिया की हदों तक अपना साम्राज्य खड़ा किया था । काबुल पर ठसका पोता पीर मोहम्मद पहले से ही काबिल था । उसे मुल्तान की ओर भेज तैमूर सिन्ध नद के तट पर आ खड़ा हुआ, उस सिन्ध के किनारे जिसे चंगेज के सामने भागते खुरासानी शाह जलालुद्दीन ने तैर कर पार कर लिया था । और जिसके बहुत पहले सिकन्दर कभी सड़े होकर रोया था उस दरिया को नावों के बेड़े से पार कर तैमूर पञ्जाब के मैदानों में आ धमका ! उसके लूट की कहानी मैंने कब से सुन रखी थी और उसके सामने भागते अपने पैरों की धूल से आसमान में बादल उठाते भगेड़ों ने जब आकर मुझ से जलते गाँवों और घटे भर में दस दस हज़ार दुश्मनों को तलवार के घाट उतार देने की तैमूर की बात कही तब मेरा कलेजा बहल उठा । पर होना बड़ी था जो होकर रहा । पानीपत के मैदान में मोहम्मद ने जाकर उसका सामना किया पर रात के आँधरे में उसे पहले किले में फिर पहाड़ों में पनाह लेनी पड़ी । सात रोज की राह चल राह के गाँवों को लूटता तैमूर मेरे दरवाजे पर आ खड़ा हुआ । सात रोज मेरे दिल की बड़कन बन्द रही । मेरे शहर के रईसों ने

जाकर मेरी रक्षा का मूल्य उससे पूछा। जो कुछ तैमूर ने माँगा वह मेरी जान बख्श देने के बदले देना मन्जूर किया। १३६८ के जाड़े के दिन ये; दिसम्बर का महीना, जब लेन देन में कुछ दिक्कत हुई और तैमूर ने अपनी फौजों को मुझे लूटने का हुक्म दे दिया। इस हुक्म का मतलब मैं आँक चुकी थी क्योंकि पानीपत के मैदान में लड़ाई के पहले इन्तजाम की कमी की बजह से जो तैमूर अपने एक लाख कैदियों को बिला किसी अहसास के मार सकता था उसका हुक्म था यह। हुक्म की देर थी। कत्ल और लूट के नाम पर दौड़ पड़नेवाले पठान और तुर्क सुरासानी और मंगोल मेरे मुहल्लों पर दूट पड़े। चार दिन लगातार मेरी गलियाँ खून उगलती रहीं और मैं बेरहमी से लुटती बिटती रही। अनन्त अनन्त घन तैमूर के सिपाहियों की मिला। अनन्त अनन्त जानें मेरी सड़कों पर बिछ गईं। सय्यदों और मुहल्लों का मुहल्ला भर तैमूर के क्रोध से बच रहा। तब कहीं उसे संतुष्ट हुआ और मेरठ और हरद्वार को उजाड़ता, मंदों का कत्ल करता, औरतों और बच्चों को बन्दी करता, नगरकोट की राह गहाड़ों के पीछे ओझल हो गया। मैं बरबाद हो गई।

सैर आगे की कहानी सुनिए। किराज के बेटों ने खुद उसके कालिख लगा दी और तब फिर एक बार मेरे महलों में तलवारें चमकीं और रक्त उलीचा जाने लगा। हुगलक खानदान के जिन युजदिलों ने उस शाही नरनेब में अपनी आहुति दी उनका नाम मैं जवान पर भी न लाऊँगी। इतना कह देना काफी होगा कि उनके कमजोर हाथों से पहले दीलत खाँ लोदी ने राजदण्ड छीन लिया, फिर खिन्न खाँ ने और तब सय्यदों का राज मेरे नगर में कायम हुआ। पैगम्बर के नाम पर जीने वाले इन सय्यद बादशाहों में खुद तलवार सँभालने की ताकत न रही और वह लोदियों के हाथ में कुछ ही साल बाद चली गई।

बहलोल खाँ लोदी काफी दिलेर था और उसने अरमानों का एक

नया राजकुल मेरे सिंहासन पर प्रतिष्ठित किया। सिकन्दर ने उसके सल्तनत का दूर तक फैलाया पर इब्राहीम गहादुर होता हुआ भी ना-समझ था और उसने मेरे महलों में बारबार जो दुर्क सरदारों और अफगानी अमीरों का अपमान किया तो वे भड़क उठे। बंगाल और बिहार में उनके दो प्रबल घराने कब के खड़े हो चुके थे। वे एकाएक स्वतन्त्र हो गए। इसी प्रकार मालवा और गुजरात में भी दगावत का भएडा खड़ा हुआ और दक्कन और पश्चिम के दूर के रूने कब के हाथ से निकल गए थे। इसी बीच हिन्दुओं में फिर सरगमी पैदा हो चुकी थी और जगह जगह उनके राजा सिर उठाने लगे थे। मालवा में नवाब न होकर भी मेदनीराय बहुत कुछ था और मेवाड़ में राणा सांगा ताकत और दिलेरी में काफी ख्याति पा चुका था। गुजरात और मालवा तक उसका आतंक छाया हुआ था और मारवाड़ और आगरे तक उसकी धाक थी। लोदियों ने मुझे छोड़कर आगरे का अपनाया था और इब्राहीम और सांगा की सल्तनतों की सीमा जमुना थी। दो दो बार राणा ने इब्राहीम को जीता था और दो दो बार मुझे ऐसा लगा कि मैं फिर मुसलमानों के हाथ से निकलकर हिन्दुओं के हाथ में चली जाऊँगा। मगर ऐसा हुआ नहीं क्योंकि जयामर्द सांगा ने मेरे तख्त की जिम्मेदारी सँभालने की ताब न थी। उसने दौलत खाँ का काबुल में उस बाघर के पास भेजा जो फरगना के मैदानों में सैकड़ों लड़ाइयाँ हार जीत चुका था। उसे उतने कहलाया कि मौका है, आकर वह दिल्ली से ले और तब मेवाड़ और दिल्ली की सीमा जमुना होगी। पर अपने मंगोलों के साथ दुनिया में हदसा पैदा कर देने वाले खुदाई कोड़े चंगेज और समरकन्द से मेसोपोतामिया-एशियामाइनर तक साम्राज्य खड़ा करने वाले बीहड़ तैमूर के वंशधर उस बाघर को जीत के बाद हर्दें दिलाने की जरूरत न थी। बाघर आया और पानीपत के उस

कातिल मैदान में उसने बारह हजार घुड़सवारों से इब्राहीम की एक लाल सेना तैयार बितर कर दी। अपने तोपखाने से उसने इब्राहीम के हाथियों में भगदड़ मचा दी। इब्राहीम खेत रहा और मुक्त पर कब्जा उस बाँके जयान का हुआ जो बगल में दो दो जवान दबा किले की दीवार पर दौड़ जाता था और जितने रास्ते की हर नदी तैर कर पार की थी। बाबर के हाथ में आ मैं बहुत प्रसन्न हुई और मेरी प्रसन्नता का कारण यह था क्योंकि उसने मेरे नगर में उस बड़े राजकुल की नींव डाली जिसने दो सदियों तक भारत पर अटूट राज्य किया। और जिसमें एक से एक जर्बानद और समझदार बादशाह हुए।

मगर बाबर को अभी बहुत कुछ करना था। उसने मुझे जीत तो लिया था पर चित्तौर मेरी ओर आँखें गड़ाए देख रही थी और उसका स्वामी साँगा बाबर से मैदान लेने के लिए त्रियाने की ओर बढ़ा आ रहा था। जब तक वह न कुचल जाता मैं भला किस कदर अपनी प्राचीरों में हथीनान की नींद सो सकती थी। बाबर सीकरी की ओर बढ़ा पर उसकी सेना के अगले सिपाहियों को राजपूती चोट की मानगी तत्काल मिल गई और बाबर की सेना में आतंक छा गया। बाबर खुद कम डरा हुआ न था। उसने सैन्तुकों की चोट जानी थी, तुर्कों का तुलुगना भी उसका अनजाना न था, पठानों के तेवर उसने देखे थे, खुरासानी रिवालों का हमला उसने बेकार कर दिया था पर अब दिलेरी की जो दीवार उसके सामने थी उसके तेवर कुछ और थे। राजपूती आन की बात वह सुन चुका था जिसका अन्दाज साँगा की पहली चोट ने उसे कुछ दे दिया था। साँगा खुद जाती ताकत में बाबर से कुछ कम न था, गोकि उसके बदन पर अस्सी घाव थे। एक आँख फूट चुकी थी, एक हाथ मायब था ! सीकरी के मैदान में जब दोनों पौजें आमने सामने खड़ी हुईं तब बाबर के होश गुम हो गए और लासकर जबकि उसकी पौज में डर की सड़

लहर दौड़ गई। उसने नमाज पढ़ी, कोल किया कि अब वह शराब कभी न पिएगा। शराब के बर्तन उसने तोड़ डाले और आदमी की जान की क्षयानुरता पर अपनी फौज को एक खासा खेजूर दिया। लड़ाई जमकर हुई। दगती तोपों के मुँह पर राजपूत रिसालों की कतार की कतार दूटती आती और आग बरसाती तोपों का मुँह उन मौत में बूढ़ते राजपूतों से बन्द हो जाता और अगर कहीं तोपें चमड़े की जंजीरों से जकड़ी न होतीं उस तरीके से जिसे बाबर ने अपने पश्चिमी युद्धों में जीता था और जिसका हस्तेमाल थोड़ेमिया के तोपची जर्मन रिसालों को रोकने में करते थे तब पोंसा पलट गया होता। जीत बाबर की हुई और मैंने सन्तोष को साँस ली। मेरी जान में जान आई। बाबर की छाया में मैं दिन वृत्ती रात चौगुनी बढ़ चली। बंगाल बिहार मालवा गुजरात बारी बारी मेरी हुकूमत में दाखिल हुए मगर बाबर की तथियत मुझसे न भरी और उसने आगरे को अपना आवास बनाया। आगरे को ही उसने खुरनुमा और ठंडे बगोचों से भर दिया पर वहाँ भी वह हिन्दुस्तान की गर्मी में ठिक न सका।

अब मैं नई शक्ति और नए गौरव के राजमार्ग पर आरुढ़ हो चुकी थी। मुझे अपनी भावी महत्ता साकार सी होकर साक्षात् देखने लगी यद्यपि उसमें हुमायूँ के गद्दी नशीन होने के कारण शुरू में ही कुछ ठेस लगी ऐसा नहीं कि हुमायूँ जवाँमर्द और दिलेर न था। ऐसा भी नहीं कि वह बाप की खड़ी की सल्तनत खो देना चाहता था पर इतना जरूर है कि वह दायित्व कम समझता था। ऐस पिलाव का जीवन उसे पसन्द था और अपनी लड़ाइयों के बीच बीच अकसर वह नाच, रंग, शराब और अफीम के नशे में खो जाता था। गुजरात और मालवा की उसकी लड़ाइयों कुछ भामूली न थीं और उनमें जिस दिलेरी का परिचय उसने दिया था वह भी कुछ साधारण न था पर वहाँ से स्लीट कर आगरे में जो

उसने शराब के दौर शुरू किए तो शेरशाह ने अरनी ताकत बिहार में मजबूत कर ली और जब जुनार को ले वह गौड़ पहुँचा तो वहाँ उसने इस कदर नाच रंग में दुनिया भुला दी कि शेरशाह ने अपने को बादशाह एलान कर दिया और हुमायूँ को मेरी गद्दी ही छोड़नी पड़ी। मैंने सल्तनत को बहादुरों की आन पर उनकी हार जीत के बात भिगड़ते बनते देखा है, कितनी ही बार मैं इस तरह छिन गई हूँ पर विशाल सेना लिए बिना एक गोली चलाए अगर किसी को मैंने भागते देखा तो हुमायूँ का। कन्नौज के मैदान में जब शेरशाह अरनी फौज लिए हुमायूँ के सामने उतरा तब वह मेरे मुल्तान के मुकाबले कुछ न थी। मगर उस अकगान का आतंक इस कदर शत्रु पर छा गया, हुमायूँ की सेना और खुद हुमायूँ पर उसका रोव इस कदर गालिब हुआ कि शाही सेना मय उसके शाह के मैदान छोड़ भाग चली। फिर तो जैसे हुमायूँ के पैर में चक्कर बँध गया और वह मेरे नगर से लाहौर, लाहौर से मुल्तान, मुल्तान से अमरकोट, अमरकोट से ईरान भागता फिरा।

मेरा स्वामी अब शेरशाह था। शेरशाह कुल पाँच साल मेरे तख्त पर रहा मगर उस पाँच साल में जो उसने किया हुमायूँ पाँच सौ साल में नहीं कर सकता था। पंजाब, मालवा, गुजरात, बंगाल और बिहार को तो उसने मेरे तख्त के पायों से धोखा ही, राजपूताने की वह भीर प्रसवा भूमि जहाँ बड़े बड़ों के होश उड़ जाते थे शेरशाह ने सर कर ली। उसने अपने बिहारी और भोजपुरिये जवानों से राजपूताने की जमीन रौंद डाली। यह पहला अवसर था जब सूबे का एक सिपाही मुझे छीन मेरे तख्त पर कब्जा कर ले। अब तक रीति-दूसरी रही थी—यानी कि या तो बाहर के विजेताओं ने मुझ पर कब्जा किया था या मुझ पर काबिज बादशाहों ने हिन्दुस्तान के सूबे जीते थे। शेरशाह बादशाह था। उसका इंच इंच बादशाह था। रोव, इल्त, दिलेरी का वह मूर्तिमान प्रतीक था।

पाँच साल की अपनी हुकूमत में उसने हिन्दुस्तान का रुख बदल दिया। सल्तनत के इन्तजाम में वह एकता था। कभी किसी बादशाह ने इतना इल्म, इतना सखुन सल्तनत के इन्तजाम पर खर्च न किया था। पुलिस और सेना, यूवे और राजधानी, सबक और डाक सिकके और फरमान सबमें उसने जरूरी और लाभकर परिवर्तन किए। कहा गया है और सही कहा गया है कि आज का हिन्दुस्तान बहुत कुछ शेरशाह का श्रेणी है—अपने सिककों में, डाक के इन्तजाम में, सबकों में और इनसे बढ़ कर जमीन के बन्दोबस्त में अब मैं दूर दराज की दिल्ली न थी बल्कि मेरी सबकें एक ओर पठने और सखाराम को छूती थीं दूसरी ओर पेशावर की। अगले दिनों में अकबर ने जो कुछ किया उसका बहुत कुछ श्रेय इसी शेरशाह को है।

उसके मरने पर वैसा अकसर मजबूत बादशाह के मरने पर होता आया है कमजोर हाथों में उसकी तलवार खली गई। सलीमशाह कुछ न कर सका। आदिलशाह ने बिहार बंगाल की राह ली। इमाहीम और सिकन्दर आगरे दिल्ली में परस्पर टकराते रहे तभी हुमायूँ ईरानी मदद लिए लौटा। पहले उसने काबुल-कन्दहार लिए, फिर पञ्जाब-सरहिन्द और फिर सिकन्दर को हरा कर उसने पहाड़ों में धकेल दिया और खुद मेरे नगर में छुटा। मेरी गद्दी में तैमूर का वंशधर फिर बैठा यद्यपि वह मुझे बेर तक भोग न सका। महल के जीने से उतरते समय उसके पैर रगट गए और वह इस दुनिया से कूच कर गया।

तब मेरे इतिहास में वह जमाना आया जो भारी सर्पज का हुआ करता है। हुमायूँ का बेटा अकबर तेरह साल का बालक था। दादा की जौती सल्तनत को बाप ने खोकर फिर पाया था पर उसने पैर रखते ही यह चल बसा था। खूबे प्रायः आजाद थे और दुश्मनों के मुत्क में दुश्मनों की तापदाद कुछ कम न थी जब अकबर अभी बालक था। सरदारों में काना-

फूटी होने लगी। काबुल लौट चलने पर जोर देने वाले बहुत थे पर बैरम-ख़ाँ अड़ गया। बाबर और हुमायूँ की लड़ाइयों में वह लड़ चुका था और अकबर का वह अभिभावक था। उसने मेरे तख़्त पर पैर जमाए रखने की राय दी पर मेरे तख़्त पर कितनी ही आँखें गड़ी थीं खासकर उस हेमू की जो ताकत, सेना-शक्ति और रूझ में उसके हिन्दुस्तान में एक था। वह बिहार बंगाल के अफगानों की विशाल सेना लिए मेरी ओर बढ़ा आ रहा था। आगरा पर उसने घुसते ही कब्ज़ा कर लिया और अब वह पानीपत की ओर बढ़ा पर अभिगम्य उसका तोपखाना जो उसकी फौज को रक्षा से बहुत आगे बढ़ आया था एकाएक उसके हाथ से निकल गया और बैरमख़ाँ ने उस पर कब्ज़ा कर लिया। हेमू लड़ा और धीरता से लड़ा पर तीर की चोट से आँख फूट जाने पर जब वह लड़खड़ा कर बेहोश हो गया तब उसकी सेना भाग चली। अकबर बाबर की उस सलतनत का अब मुल्तान था जिसकी नींव उसके गजब के दिलेर दादा ने रखी थी। और जिसके बढ़ाने और इन्तजान करने में अकबर ने बादशाहों के सामने एक उदाहरण रख दिया।

हिन्दुस्तान के इतिहास में कई बार ऐसा हुआ है कि दादा बहादुर और बुद्धिमान हुआ पर बाप निकम्मा निकला और तब पोते ने दादा की बहादुरी और बुद्धिमानी पाकर फिर बाप का जमाना बदल दिया। पाटलि-पुत्र के गुप्तों के समय ऐसा ही हुआ था जब साम्राज्य निर्माता चन्द्रगुप्त विक्रमादित्य का पुत्र विलासी कुमारगुप्त हुआ और उसका पुत्रतपस्वी स्कन्द गुप्त। इसी प्रकार मेवाड़ के अप्रतिम लड़ाके राणासंगा का बेटा उदय सिंह हुआ और उसका असाधारण पुत्र प्रताप। उसी उसूल के मुताबिक मुगल इतिहास के पन्ने भी लिखे जा रहे थे जब दिलेर बाबर का बेटा असीमची हुमायूँ हुआ और उसका पुत्र अकबर महान।

अकबर हिन्दुस्तान के ही बादशाहों में नहीं दुनिया के बादशाहों में

और उनकी अगली कतार में अपनी बगह रखता है। दुनिया का इतिहास शायद इस प्रकार का कोई बादशाह नहीं दिखा सकता जो निरक्षर होकर भी इतना बुद्धिमान, इतना सुन्दर शासक, इतना योग्य, इतना इन्साफ-यसन्द, विद्वानों का इतना आदर करने वाला हुआ हो जितना यह अकबर था। सच बात तो यह है कि अशोक के बगल में अगर कोई दूसरा बादशाह खड़ा हो सकता है तो वह अकबर है। यद्यपि उन दोनों के गुणों में असाधारण वैषम्य है, मैं केवल ऊँचाइयों की बात कह रही हूँ।

अकबर ने सल्तनत को खूब बढ़ाया और उसने उसे बढ़ाया ही नहीं उसके सुन्दर शासन की भी उसने व्यवस्था की। माना कि वह अक्सर आगरे में रहने लगा था, फतहपुर सीकरी के अपने बनाए किले और महलों में अब यह दर्बार करने लगा या जहाँ उसकी अप्रजता में मुल्ले और पंडित, पादरी और रब्बी दीन इलाही के उम्माओं की चर्चा करते, सत्य की खोज में बहस करते, पर सल्तनत मेरी थी, तख्त मेरा था जिस पर अकबर विराजमान था। मेरे हाँ नगर में उसने अपना वह गजब का लाल किला बनवाया जो उसकी होनहार औजाद की पसन्द से बराबर बढ़ता गया। अकबर ने जो व्यवस्था की उसे लिखने के लिए बड़ी-बड़ी पोथियाँ चाहिए और पोथियाँ अबुलफजल और फिरिता ने लिखी भी हैं। मैं महज इतना कहूँगी कि अकबर सा बहादुर, उसका सा नैकदिल और बुद्धिमान् मेरी गद्दी पर दूसरान बैठ। उसके दर्बार में गजब के बुद्धिमान् बैठते जिनको वह नजरान कहता था। जिनमें मानसिंह, अबुल फजल, फैज़ी, तानसेन, टोबरमल, शीरमल, अब्दुल रहीम आदि थे।

मुझे याद है बैरमलॉ की अभिभाषकता से निकल कर भी उसने उसकी बगावत को कैसे माफ कर दिया था और कैसे हेमू के से खतरनाक

दुश्मन पर भी जिसने उसकी सल्तनत खतरे में डाल दी थी उसने हाथ उठाने से इन्कार कर दिया था और किस तरह एक जमाने तक अपनी भाय माहम अन्नगा की जनानी राय को भी आदर से मन्जूर किया था। माहम अन्नगा के बेटे आदमखान की अनेक बुराइयाँ उसने दर नजर कर दी थी मगर आखिर जब उसके एक प्रिय पात्र को आदम ने मार डाला तब बँसे की एक चोट से बादशाह ने उसे गिरा दिया और परकोटे से फेंक दिए जाने का हुक्म दिया।

मेरे इस नए सूत्रसूत और सूत्रसूती परस्त बादशाह के बड़प्पन की अनेक-अनेक कहानियाँ हैं जिनका कहना मुझे इस समय इष्ट नहीं। केवल इतना कहूँगी कि उसने यूँ से हुक्मत का तो इन्तजाम किया ही बहादुरी से सल्तनत को बढ़ाया भी और मेरा मस्तक उसके स्पर्श से सदा ऊँचा उठता गया। उदयसिंह और प्रताप से उसकी टक्करें निश्चय होती रहीं पर चित्तौर को खर करते उसे देर न लगी। सोलहवीं सदी के मेरे नगर, आगरे और फतहपुर सीकरी में दुनिया के कलायन्त्रों का जमपट हो गया।

अकबर के बाद उसका बागी बेटा सलीम जहाँगीर के नाम से मेरी गद्दी पर बैठा पर ज्यादातर वह भी बाप और बेटे की तरह आगरे में ही रहने लगा। लाहौर और काश्मीर के उसके दोरे अकबर मेरी ही राह होते थे और जब कभी वह मेरे महलों में उतरता मैं परिस्थिका नायिका की भाँति कुछ स्वीकृति, कुछ मान से भर जाती पर उस अकीनची औरत-पसन्द बादशाह ने मेरी ओर रुख न किया। एक बार जब बागी बेटे ने उसे कैद कर दिया तब जरूर वह मेरी देवारों के पीछे आया पर मैं नहीं समझती मुझे उरो अपना स्वामी कहने का कोई अधिकार है भी।

खुर्रम शाहजहाँ के नाम से बादशाह बना। पर वह भी ज्यादातर आगरे में ही रहता था और उसका स्पर्श केवल जब तब ही हुआ

किया। पर इतना जरूर है कि मुझे उस इमारतपसन्द बादशाह ने कुछ ऐसी चीजें दीं जो न केवल हिन्दुस्तान में ही बल्कि दुनिया में नायाब हैं। जामा मस्जिद जो उसने अपने दादा के बनवाए किले के सामने खड़ी की अपनी खूबसूरती और लम्बाई चौड़ाई में जमीन पर अपना सानी नहीं रखती। मेरे किले के भीतर उसने जो दरबारे आम और खास बनवाए वे भी शालुकला में अपना एक ही स्थान रखते हैं।

शाहजहाँ को अपने बेटे के हाथ यही सलूक मिला जो उसने अपने बूढ़े बाप के साथ किया था। उसके बेटे औरंगजेब ने मुद्रापे में उसे कैद कर लिया और उसके देखते ही देखते उसके और बेटों को मार डाला। औरंगजेब अब मेरा स्वामी था, मेरा सच्चा स्वामी जिसने आगरा छोड़ मेरे नगर में निवास किया। औरंगजेब की याद कर मुझे अनेक प्रकार की प्रतिक्रियाएँ होती हैं। उसने सल्तनत की हद्दें इतनी बढ़ा दीं जितनी मुसलमान शासन काल में हिन्दुस्तान में कभी न बढ़ी थी, हिन्दूकुश से दक्कन तक, गुजरात काठियावाड़ से उड़ीसा तक सारी जमीन उसके कब्जे में थी। हाँ, उसे खोने का भेय भी उसी के हाथ है। काश वह औरों की इमानदारी पर भी यकीन कर सकता। यकीन न कर सकने की वजह से ही उसे बेहद काम करना पड़ता था। माना कि वह गजब का काम करने वाला था पर सल्तनत और इतनी बढ़ी सल्तनत जो इस काल मेरी थी अकेले इन्सान के बस की बात नहीं। अकेला इन्सान चाहे जितना बड़ा भी हो उसकी कुबत की हद्दें होती हैं और औरंगजेब की भी थीं।

औरंगजेब वीर था। वीरता में लासानी था और इस सन्कष्ट में अपने आचरण से जो इशान्त उभरने रख दिए हैं उन्हें मेरे किसी बादशाह ने कभी चरितार्थ नहीं किया, उसके पूर्वज तैमूर ने भी नहीं, बाबर ने भी नहीं, अकबर ने भी नहीं। फरगना के मैदान में जब दुश्मन

हाथी या और औरंगजेब की सेना जूझ रही थी, जब लमहा-लमहा जान की कीमत का था, जब जरा सी लापरवाही गर्दन नाप सकती थी तब भी जर्बोमर्द औरंगजेब नमाज का थक आते ही घोड़े से कूद पड़ा, बिछती हुई लाशों के बीच उसने जानमाज बिछा ली और खुदा की इबादत में घुटने टेक दिए। मैदान जीतनी हुई दुश्मनों की फौज चकित हो ठमक गई और उसके सर्दार ने तलवार ध्यान में कर कहा—बन्द करो लड़ाई आज की, पागलपन है इस दीवाने से लड़ना।

पर धर्मात्मा की जीत के बाद जिसे आँके द्वारा और दिलेर जसवंत सिंह ने पीठ दिखा दी थी, सामूगढ़ की लड़ाई में भी जिसने उसे सत्पनवत जीत दी थी, उसने बहादुरी का जो गिवाल दुनिया के सामने रखा उसका सानी नहीं दीखता। मुराद राजपूतों की चाँट से तिलनिला कर मैदान छोड़ पीछे लौटा, गुजरात और मालवा की फौजों ने अपने घोड़ों की भाग पीछे फेर ली, औरंगजेब की खुद की दक्खिनी फौज ने भी लड़ाई पागलपन समझ आने रुक पीछे कर लिए और तब औरंगजेब ने बूंदी के छत्रसाल के सवारों की चाँटों पर चोटें खाकर भी एकाएक हुक्म दिया कि मेरे हाथी के पैर में फील जड़ी जंजीरें बाल दो और उन जंजीरों के तिरों को जमीन में गाड़ दो। औरंगजेब फरक्का के मैदान में खड़ा है पीछे नहीं लौटने का। मुराद लौटा, गुजरात और मालवा की फौजें लौटीं, दक्कन की औरंगजेब की निजी फौजें भी लौट पड़ीं, बूंदी के राजपूत बिखर गए। जहानआरा का छत्रसाल खुद खेत रहा। यही औरंगजेब अब मेरी गद्दी पर था।

औरंगजेब जो मजहब का कट्टर पुजारी था, जिसने जिन्दगी में कभी मांस नहीं खाया, जिसने कभी शराब नहीं खूई, जो बराबर अपने अटूट चैम्ब और धन के बीच दरवेश का सा जीवन बिताता था, जो सिवा साही करदों के तड़क-भड़क का एक सामान अपने ऊपर न लाता

या, जो टोपियों सी सी और कुरा ! नकल कर अपनी जिन्दगी बसर करता था, और जिसने मजहबी पाइन्दी के मारे अपने जित्त को गला डाला वही औरंगजेब अब मेरी गद्दी पर था। मजहब की उसकी इसी कहरता ने उसे तबाह भी कर डाला, और उसकी होने से खुद मुझे भी। दक्कन शिया रियासतों को उसने दुश्मन बना दिया। चीतों के से मराठों को उसने दुश्मन बना दिया, जाटों को उसने दुश्मन बना दिया और राजपूतों और सिखों तक को। मधुग और काशी की लूट से मेरे खजाने भर गए। उनके मन्दिरों की मूर्तियाँ मेरी मस्जिदों की सोढ़ियों में लगीं। पर यही चैनब मेरा कफन भी बन गया। औरंगजेब नब्बे साल की उम्र में खर्दपी के बोक से दवा, अकसोस और चिन्ताओं का शिकार मुझसे दूर, खुशनुमा हिन्दुस्तान से दूर दक्कन के पहाड़ी इलाकों में मरा, औरंगजाद में। और जो वह मरा तो चहान मेरी छाती पर तोड़ता गया। उसके निकामे बेटे किसी काम के न रहे।

मैं एक जमाने तक उगकी याद में रोती-बिखरती रही और जब-जब उसकी निकम्मी औरलाद ने मेरा कतब नीचा किया तब-तब मैंने अपनी ही जमीन पर रक्त के आँसू डाले, लहू के घँट पिए। इतनी बड़ी सल्तनत जिसका इतना जवॉमर्द और लासानी रक्त या औरंगजेब एकाएक लड़खड़ा कर गिर पड़ी और अपने ही लखवहरो में लो गई। उसके बाद का इतिहास मेरे बड़प्पन का नहीं अवसान का है, पतन का। पर जो मैंने अपने बड़प्पन की कहानी कही है तो अपने पतन की कहानी कहने से भी मैं मुँह न मोड़ूंगी। मुनिए।

औरंगजेब ने मेरे ही नगर को, जैसा मैं पहले कह चुकी हूँ, अपनी राजधानी बनाया था, उसी शाहजहाँनाबाद में जिसे उसके बाप शाहजहाँ ने बसाकर मुझे सातवीं बार नया जन्म दिया था। उसी शाहजहाँनाबाद में जिसकी दीवारें कभी शान और डर पैदा करती थीं अब शराब के दौर

श्रीर भड़की के दर्बार होने लगे। बहादुरशाह के दर्बार को देख कर कोई सोच भी न सकता था कि अकबर या श्रीरंगजेव कभी वहाँ बैठें होंगे, शान्तर या शाहजहाँ ने कभी वहाँ कदम रखे होंगे। बहादुरशाह के बाद जहाँदार आया और जहाँदार के बाद फर्रुखशियर के जमाने में हुसैन भाइयों ने मुक्त पर बुरी तरह अधिकार कर लिया था। फर्रुखशियर के तौर तरीकों ने उन्हें नाराज कर दिया और अपनी हिम्मत की कीमत उसे अपनी जान से चुकानी पड़ी। फिर मोहम्मदशाह मेरी गद्दी पर बैठा और तब जो कहर मुक्त पर टापी गई वह तैमूरी हमले की मुक्ते याद दिला देती है। खुर्रामान का गढ़रिया नादिर कुछ काल पहले ईरान का शाह बन गया था और अब वह मुगलों के उस आला खान्दान की निकम्मी और लाद की ओर बढ़ा जो मुक्त पर काबिज होने का हम भर रही थी। राह के गाँव और शहर लूटता नादिर मेरे दरवाजे पर आ खड़ा हुआ। मोहम्मदशाह ने मेरी रक्षा के लिए कुछ मोल तोल की पर मेरे नागरिकों ने नादिरशाह की फौज पर रात में जाँ छापा मारे तो उस खँसार भेड़िये ने अपना गिरोह मेरे नगर पर ललकार दिया। मेरे सड़क पर खून को गंगा-यमुना बह चलीं, लूट और कत्ल से मेरी धुर्जियाँ तक चील उठीं। उन्होंने जो कभी न देखा था वह अब देखा। करोड़ों रुपए, मेरे नगर का वैभव जो प्रायः दो सौ साल से अछूता बचा था जिसकी सगृप्ति बादशाहों की एक मजबूत परम्परा ने जोड़ी थी और जिसे हिन्दुस्तान के नगरों की लूट से श्रीरंगजेव ने गणनातीत कर दिया था नादिरशाह ने मुक्त से छीन लिया। शाहजहाँ के उस ला मिसाल सक्त वाकस को भी जिसे प्रसिद्ध फ्रेंच मुनार जसिन दबोदों ने तैयार किया था भरट कर ले लिया और दुनिया का वह अनमोल हीरा कोहनूर भी जिसे हुमायूँ ने ग्वालियर के हिन्दू राजा से भेट पाई थी और जो अब इंगलैण्ड के बादशाह और मलका के ताजों का नूर है, वह छीन ले गया।

मेरी हालत दिन पर दिन नाशुक होती गई, अधोपः गिरती गई। हिन्दुस्तान के दक्खिन के पश्चिमी पूर्वी किनारों पर योरप के क्रिस्ती उग्र जमाने से लौदागर की हैसियत से आ पड़े थे। सोलहवीं सदी में ही जब अकबर और जहाँगीर का मुक्त पर साया था तभी आगरे के दरबार में अंग्रेज बादशाह के दूत आए और उन्होंने अपनी मिन्नतों और धैर्यों से जहाँगीर और शाहजहाँ को खुश कर इस देश में अपने पाँच जमा लिए। धीरे धीरे जब मेरे बादशाह कमजोर होने लगे तब उन्होंने दक्खिन में अपना राज बढ़ाया। डच, पुर्तगालियों और फ्रान्सीसियों को भगा कर अंग्रेज मद्रास और बंगाल के स्वामी हुए और इस तरह उन्होंने अपने को जलील और हिन्दुस्तानियों को जेर कर इस मुल्क पर कब्जा किया यह मेरे कहने की बात नहीं। बक्सर की लड़ाई में मोर कासिम, शुजा-उद्दौला और राय ही मेरे बादशाह शाहआलम को एक साथ हरा कर उन्होंने इलाहाबाद और कदा तक के मेरे प्रदेश ले लिए और शाहआलम को पेंशन कर दी। मेरे पतन की वह सीमा थी जब मेरे बापर की श्रीलाद अंग्रेजों की पेंशन की उम्मीद करने लगे और जब यह उसे भी एक दिन लो बैठो !

ऊपर दक्खिन में मराठे बराबर जोर पकड़ते जा रहे थे। हैदरअली, निजाम बगैरह को उन्होंने कबकी धूल चटाव्दी थी और उनके हमले गुजरात, मालवा, आगरा और मुक्त पर भी अक्सर होने लगे। उन्होंने हर तरफ से चौध और सरदेशाई बख्खलनी शुरू की। बालाजी विश्वनाथ और बाजीराव ने पेशवा के रूप में मराठों को एक नई शक्ति दी और उन्होंने मुझे और मेरे नाममात्र के बादशाह को बन्दी बना लिया। इन्हीं दिनों अफगानिस्तान के नए अमीर अहमदशाह अब्दाली ने मुक्त पर हमला किया मुझे लूटा और मथुरा की तरफ बढ़ा। भरतपुर के

जाटों ने उसका मुकाबला किया और मथुरा की सड़कों पर लारों बिछ गईं। अन्धाली लौट गया।

उजड़े अरक्षित देश को अपनी स्थाभाविक अमलदारी समझ मराठों ने तत्काल उत्तर की ओर रुख किया। काशी और मथुरा की लूट का बदला उन्होंने मुके लूट कर लिया और मुक्त पर कब्जा कर पञ्जाब में भी उन्होंने अपना शासक नियुक्त किया। मुसलमानी हुकूमत तेरहवीं सदी के आरम्भ में कायम होने से लेकर अब तक कभी हिन्दुओं की ताकत ऐसी न बढ़ी थी कि वे मेरी ओर तो क्या दूर की सीमा पर भी खुद मुल्तार होने का दावा कर सकते पर अब बाज की चपेट में जैसे अबाबील आ जाय वैसे ही मैं मराठों की पकड़ में आ गई थी। मेरा करबट लेना भी मुद्दाल या और पश्चिमी पञ्जाब पर उनका कब्जा हो गया। पञ्जाब मेरी लूट के बाद काबुल का हाँ गया या और अन्धाली उस पर मराठों की काबिज देख लौटा। पानीपत के मैदान में मराठों और अकबानों में फिर एक बार कशमकश हुई और भाऊ विश्वनाथ राव खुरजमल सब तहस नहस हो गए। पेशवा बाजीराव ने इस हार की खबर सुन दम तोड़ दिया। साम्राज्य के निर्माण के लिए हिन्दुओं का यह आखिरी प्रयत्न था, शिवाजी के बनाए राष्ट्र की यह अन्तिम जद्दोजिहद।

धीरे-धीरे मुक्त पर भी उस अंधेजी ईस्ट इंडिया कम्पनी का राज्य कायम हुआ जो घटा की तरह बढ़ कर हिन्दुस्तान के सारे आसमान पर छा चुकी थी। पर उसके अफसरों की बदमिजाजी और गर्वनरों की बेरमानी ने हिन्दुस्तानियों को एक सशक्त सिला दिया और वे अपनी आजादी फिर से हासिल करने के लिए कटिबद्ध हुए। १८५७ में मेरठ की हिन्दुस्तानी फौजों में विद्रोह की आग भड़की और आगरे, कानपुर, लखनऊ, बनारस, पटना, चारों ओर भड़कती चली गई। उसी बीच

मेरी हिन्दुस्तानी पौजें भी बागी हो गईं। उन्होंने अंग्रेज अफसरों को मार डाला और बहादुरशाह को मेरी कबकी खाली गद्दी पर बिठा मेरे खाल किले पर अपना हरा झण्डा गाढ़ दिया। पर यह इलाक़ा सही सही चल न सकी और गोकि नाना साहब, लक्ष्मी बाई, तात्यां टोपे, कुंवर सिंह उसके नेताओं में थे देशी राजाओं, सिखों और मुसलमानों ने आजादी की मेरी वह लड़ाई दबा दी और मेरे अरमान धूल में बिलर गए। मुझ पर फिर अंग्रेजों का कब्जा हुआ और ईस्ट इंडिया के हाथ से निकल कर सारे हिन्दुस्तान के साथ मैं अंग्रेजों मलका ब्रिटिशों की हुकूमत में आई।

जैसे-जैसे अंग्रेजों की हुकूमत देश के प्रान्तों पर बढ़ती गई थी वैसे ही- वैसे राजनैतिक केन्द्र के रूप में कलकत्ते का प्रभाव बढ़ता गया था। यह प्रभाव १८११ तक वहाँ रहा। कलकत्ता इस बीच हिन्दुस्तान की राजधानी रहा। मैं तब बिल्कुल नाचीज़ थी; कद्यपि मैं अपनी उस गरीब हालत को कलकत्ते के प्रभाव से कुछ कम नहीं समझती। १८११ में जार्ज पंचम मेरे किले में उतरा और यहाँ उसका हिन्दुस्तान की ओर से राज्याभिषेक हुआ। मैं शर्म से गड़ गई। ऐसा नहीं कि विदेशी राजाओं ने मुझ पर हुकूमत न की हो। मेरा इतिहास विदेशी विजयों से भरा पड़ा है। पर इतना जरूर है जिन विदेशियों ने इस मुल्क पर हुकूमत की उन्होंने इसे ही अपना घर समझा और ईमान या बेईमानी से इस मुल्क का लूटा हुआ धन इसी की जमीन पर उन्होंने खर्च किया। पर अंग्रेज जो आये तो उन्होंने समुन्दर पार के अपने खजाने इस देश की लूट से भरने लगे। वर के विदेशी बादशाह को अपना बादशाह कहते मुझे कुछ खुशी न हुई पर जब मेरे रजवाड़ों ने ही मेरी अरमत दूसरों के ज़िम्मे कर दी तब उसमें मुझे क्या कहना था। मेरी हकीकत ही क्या थी। मैं चुपचाप आहें भरती उस सड़ने को सहती रही।

पर हिन्दुस्तान चुप न रह सका। लगातार वह अपने अधिकार माँगता रहा और पिछले दिनों तो उसने अपनी स्वतन्त्रता का आन्दोलन भी शुरू कर दिया। पहले सन् २१ का असहयोग आन्दोलन फिर २१ का, २१ की लगान बन्दी फिर ३३ का सत्याग्रह। इन आन्दोलनों का एकमात्र नेता मोहनदास कर्मचन्द गांधी था जिसको इस देश की जनता ने महात्मा कहा और जिसके नाम के उच्चारण से मेरे शरीर का रोम रोम पवित्र हो जाता है।

सन् १७ में प्रान्तों के कांग्रेस के मन्त्रिमण्डल बने। सन् ३९ में उन्हें अंगरेजों के दौरे पेच से मजबूर होकर इस्तीफा देना पड़ा। सन् ४२ में सरकार के सारे हिन्दुस्तानी नेताओं के पकड़ लेने के बाद देश में आग लग गई, रेल की लाइनें उलझ गई, स्टेशन, थाने और कचहरियाँ फूँक गई और साथ ही बदले में गाँव भी फूँके, रक्त की होली भी खेली गई, दूसरा महासमर यूरोप में चल रहा था। मजबूर होकर अंग्रेजों को नेताओं को रिहा करना पड़ा। और वाइसराय को उनसे सम्झौता करना पड़ा। देश ने क्रिप्स के प्रस्ताव को ठुकरा दिया पर माऊंटबैटन की सलाह से कांग्रेस और मुस्लिम लीग ने अन्तरिम मन्त्रिमण्डल बनाया हिन्दुस्तान बँट गया और मेरे हाथ से सदा के लिये पंजाब, सिन्ध, सीमाप्रान्त और पूर्वी बंगाल निकल गये। हिन्दुस्तान आजाद हुआ पर बहुत कुछ खोकर। और सब से बड़ा तो शुल्म मैने दुनिया में देखा वह इस बटवारे के बाद हिन्दू मुसलमानों का था, एक दूसरे पर। कलकत्ते, नोआखाली, बिहार और पंजाब में जो रक्त की धारायें वही उनका बयान मैं नहीं कर सकती। पंजाब से उलझी हुई जनता की एक धारा मेरी ओर बहती और हिन्दुस्तान की जनता की उलझी दूसरी धारा मेरी ओर से पंजाब की ओर और जो कुछ मेरी जमीन पर नाजिल हुआ उसका बयान मैं नहीं कर सकती। तैमूर और नादिर की चोट मैंने सही

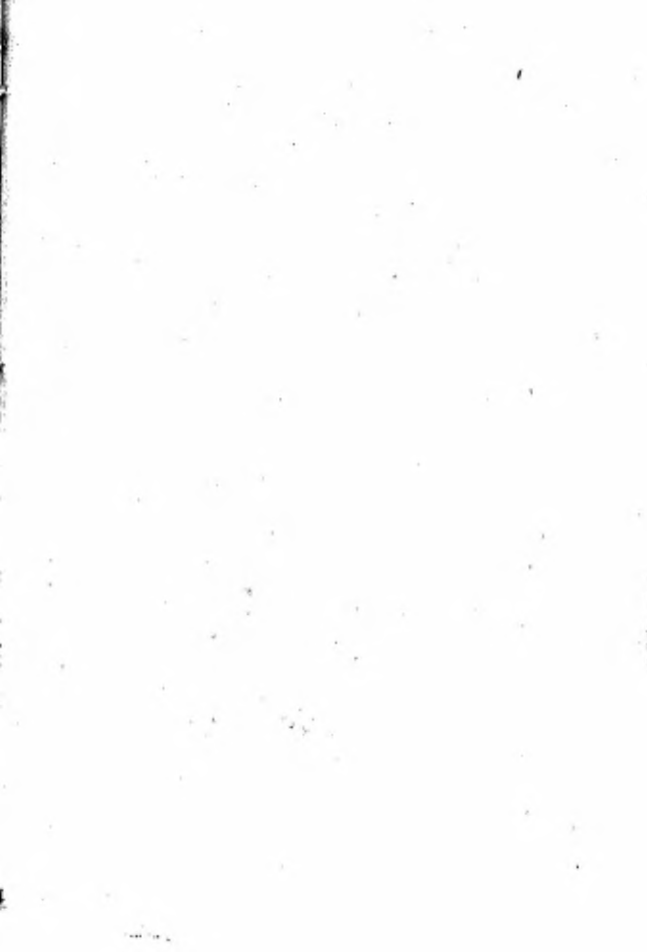
थी, अन्धाली और मराठों को लूट भी मुझे न भूली पर भाई-भाई में जो वहाँ तलवार चली, एक ने दूसरे के खिलाफ जो इस जमीन पर साजिश की उसका भयान मैं क्या करूँ ?

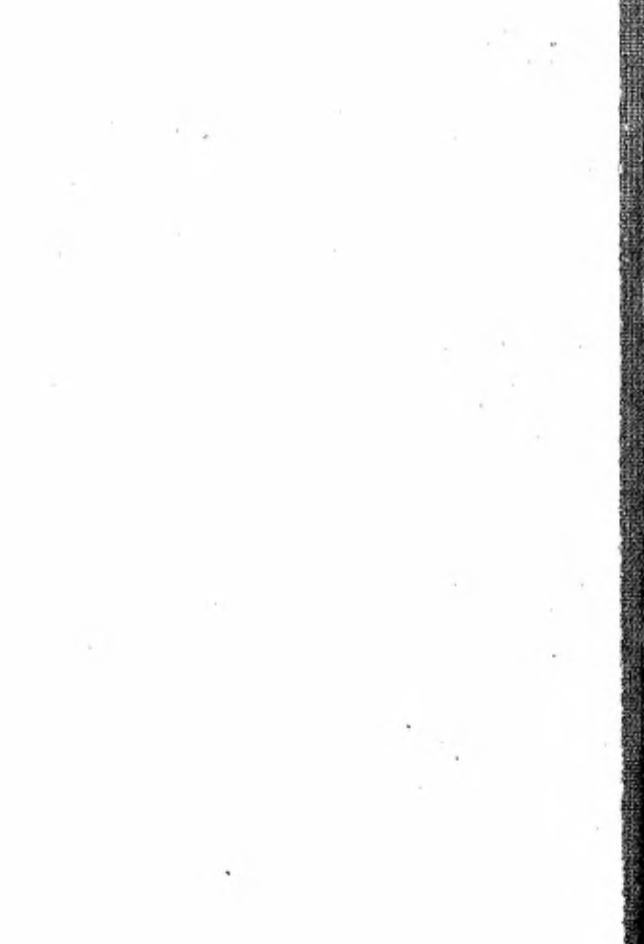
और उस दर्दनाक नजारे की जिनका सानी दुनिया के इतिहास में कही नहीं। हिन्दुस्तान की आजादी जोतनेवाले, हिन्दुस्तान में राष्ट्रीयता का नारा बुलन्द करने वाले, हिन्दू मुसलमानों को भाई-भाई बने रहने की सलाह देने वाले, अहिंसा और सत्य के उस परिचित गाँधी को मैंने अपनी ही जमीन पर अपने ही मन्त्रिमण्डल की रक्षा में, कांग्रेस के ही सङ्गठनची सेठ बिड़ला के बिड़ला भवन के मैदान में हत्यारे की गोली से बायल, खून से लथपथ गिरते देखा। मैं क्या, मानवता लुट गई, आसमान ने ऐसा काम कभी न देखा था। मेरी सड़की पर उस सत्वा-प्रणी महात्मा के शव के साथ जितनी अगार भीड़ रोती और सिक्कती चली उतनी मैंने अपनी इस हजार साल की जिन्दगी में कभी न देखी। इतने आँसू एक साथ कभी मेरी जमीन पर न गिरे। इतनी कराहें कभी मेरी हवा में न उठी।

१९११ में मैंने नई जिन्दगी पाई। पुरानी दिल्ली की दीवारों के बाहर, पृथ्वीराज और तोमरों की दिल्ली से दूरी गुलामों और अलाउद्दीन के सीरी से दूर, तुगलकाबाद, जहाँपनाह, और फिरोजाबाद से भी दूर, शाहजहाँनाबाद की उत्तरी पड़ोस में मुझे फिर एक जिन्दगी मिली, आठवीं बार, जो सर एडविन ने दी। मैं अब फिर भारत की राजधानी हूँ यद्यपि मेरा एक अंग कट कर अलग हो गया है। हाँ, मेरी जमीन पर अब महल नहीं लगे हैं और न उन राजा, रानियों, शाहजादी, बेगमों के नजरबाग ही हैं जहाँ लोग प्यार और खून की साजिशें करते थे। पर मेरा कलेवर जो अब दपतरी और एक से बने मकानों की मनहूसियत से भंजारा गया है वह भी कुछ लाख मुझे माफ़िक नहीं पड़ता। मैं अपने

अफसरों के तेवर और पिछते हुए नौजवान कलाकों को देखती हूँ और फिर अपने उन नेता मन्त्रियों को देखती हूँ जो मेरे लाइसे गाँधी के नाम पर दिन में साब बार सत्य और अहिंसा का उपदेश देते हैं जो इस गरीब देश का धन अपनी लड़क-भड़क और हवाई जहाजों के सफर पर खुटाते हैं। देश में दिन-रात होते हुये उद्घाटनों में 'सदर' की जगह लेते हैं। और उन्हीं की नाक के नीचे भूलमरी की सड़ी बंदूक फैल रही है, उन्हीं की आँखों के नीचे चोरी का बाजार गर्म है। मैंने सदियों देखी है, सन् १९३१ में मेरी मुनिषाद पढ़ी और यह सन् १९५० का साल है पर इस हजार साल की अपनी दौरान में मैं जो आज देख रही हूँ वह मैंने कभी न देखा। इस अदृश्य चोट में तैमूर और नादिर की चोटें लगी हुई हैं और मेरे रोम-रोम में भर जाती हैं। मैं तबाह हूँ और मेरे सामने आजादी का भी एक चेहरा लगा हुआ है। और मैं जानती हूँ वह मेरी सच्ची आजादी नहीं, फकत चेहरा है, झूठा। एक उम्मीद है जिससे मुझे दिलजमई होती है और वह यह कि जो है वह भी न रहेगा।







Central Archaeological Library,
NEW DELHI 9941

Call No. 915.4
Upa

Author— Upadhyaya, Bhagvat
Sharan

Title— Maine dekha

Accession No. | Date of Issue | Date of Return

"A book that is shut is but a block"

CENTRAL ARCHAEOLOGICAL LIBRARY
GOVT. OF INDIA
Department of Archaeology
NEW DELHI.

Please help us to keep the book
clean and moving.